रीतिकाल और आधुनिक हिन्दी कविता

[आगरा विश्वविद्यालय की पीएच० डी० (१९५८) उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रवन्ध]

लेखक

डा० रमेशकुमार शर्मा

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

जम्मू तथा कश्मीर विश्वविद्यालय,

श्रीनगर (कश्मीर)

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

रीतिकाल और आधुनिक हिन्दी कविता

रीतिकाल और आधुनिक हिन्दी कविता

[आगरा विश्वविद्यालय की पीएच० डी० (१९५८) उपाधि के लिए
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

लेखक

डा० रमेशकुमार शर्मा

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

जम्मू तथा कश्मीर विश्वविद्यालय,

श्रीनगर (कश्मीर)

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

परम् पूज्य बाबूजी

पं० श्रीराम शर्मा

को

सादर समर्पित

दृष्टिकोण

किसी भी साहित्य का सामान्य विद्यार्थी उस साहित्य को आरम्भ में, उसके समालोचकों के माध्यम से देखता है । समालोचकों के द्वारा जिस रूप में जो साहित्यकार चित्रित कर दिया जाता है, अधिकांश पाठकों के लिए उस साहित्यकार का वही स्वरूप स्थायी हो जाता है । आगे चलकर उसके रूप का बदलना यदि असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य हो जाता है । आज के युग के साहित्यिक अध्ययन की यह सबसे बड़ी विशेषता है । हम आज, साहित्य का अध्ययन इतना नहीं करते जितना कि उसके समीक्षकों के मतों का करते हैं, और समीक्षकों का किसी भी विषय पर एक मत होना असम्भव है, क्योंकि वे भी अपनी रुचि और स्वार्थ के अनुसार चलते हैं, फलस्वरूप 'आलोचकों' के दल, या कहिये गुट्ट बन जाते हैं, जो कि बहुधा किसी विशेष मत या 'वाद' का पोषण या प्रचार करते हैं, और साधारण पाठक उनके पीछे की 'भेड़चाल' में चलने वाली एक अंधी भेड़ होकर रह जाता है । जिस काल में समालोचक जितने कम होते हैं उस काल के पाठकों में स्वाध्याय और स्वतन्त्र-चिन्तन की शक्तियाँ उतनी ही अधिक विकसित हो सकती है, और होती हैं । जो भी हो, इस तथ्य को सब मानते हैं कि आज साहित्य के क्षेत्र में समालोचक एक विशेष महत्त्व रखता है, और उसका प्रभाव अत्यधिक विस्तृत है । समालोचना कितने प्रकार की होती है, या हो सकती है इस झगड़े में न पड़कर और इस प्रकार वादों के वात्याचक्र से दूर रह कर, मैं, यहाँ अपने दृष्टिकोण से यह बताने का प्रयत्न करूँगा कि साहित्य के अध्ययन में समालोचक किस प्रकार ठोस सहायता पहुँचा सकते हैं ।

आज के युग में समालोचकों के जो विभिन्न रूप हमारे सामने आते हैं वे हैं, वकील, जज और नियामक के । जब कोई समालोचक किसी भी कारण से, किसी साहित्यकार के पक्ष या विपक्ष में होकर केवल उसके गुणों अथवा दोषों पर ही ध्यान देता है तब हम आलोचक के वकील रूप का दर्शन करते हैं । इस अवस्था में सत्य असत्य का ध्यान छोड़कर वह वकील के समान किसी भी 'तरकीब या तदबीर' से अपने 'मुवक्किल' को जिताने का प्रयत्न करता है । आज के अधिकांश समीक्षक अपने 'प्रिय' (पेट) या विरोधी साहित्यकार के मुकद्दमे की 'पैरवी' या विरोध ही करते हैं । मूर्खतापूर्ण, निकृष्ट और भद्दी उक्ति में भी प्रतिभा दिखाकर अपने प्रिय साहित्यकार का गौरवपूर्ण चित्रण करना और जिसके विरुद्ध हो जाना (कारण चाहे व्यक्तिगत, वादगत या अर्थगत कोई भी क्यों न हो) उसकी छीछालेदर करना, ये दो कर्तव्य इन वकील वेषधारी आलोचकों के हो जाते हैं ।

जो समीक्षक अपने पद या 'प्रतिष्ठा' के कारण अपने को साहित्य का जज मान बैठते हैं वे शीघ्रतापूर्वक (Summerily) अपनी दृष्टि (जोकि बहुधा सीमित होती है) या रुचि के अनुसार साहित्यकार का 'निर्णय' कर देते हैं। 'फतवा' दे देते हैं। इनके लिए किसी भी साहित्यकार को 'मृत्युदंड' दे देना सरल बात है। ये आलोचक बहुधा बिना मूल-ग्रन्थों का अध्ययन किये ही अपने 'दृढ़' विचार बना लेते हैं और यह समझते हैं कि उनके निर्णय की अपील भी कहीं नहीं है। इनका स्थान वकीलों से भी नीचे है क्योंकि ये विश्लेषण के पचड़े में भी नहीं पड़ते, केवल 'फैसला' भर दे देते हैं। ये वकीलों से भी अधिक शक्तिशाली अतएव भयंकर होते हैं।

जो नियामक हैं (या बनते हैं) उनकी अवस्था और भी विचित्र है। वे किसी कारण जिन नियमों को अपने लिए, या अपने अनुसार, उचित या अच्छे मान लेते हैं उन्हीं को समाज और साहित्य पर थोपने का प्रयत्न करते हैं, और इसीलिए जो भी साहित्यकार उनके नियमों की सीमा में नहीं बंधता उसे वे साहित्यकारों की कोटि में से निकाल बाहर करने का प्रयत्न करते हैं तथा उसकी कटु आलोचना करते हैं।

बीसवीं शताब्दी का सर्वप्रबल तथा प्रेरक सिद्धान्त है 'फैशन'। खान-पान में, वेशभूषा में, साहित्य के अध्ययन में, सब क्षेत्रों में आजकल फैशन के अनुरूप कार्य किये जाते हैं। यदि हम ध्यान से देखें तो फैशन के मूल में रूढ़ि का निवास है। जो भी नूतन बात मानव की वृत्ति को उत्तेजित और फिर तृप्त करती है उसका, कालान्तर में, बिना कारण को समझे और बिना फल की चिन्ता किये अनुसरण करने लगना; यही रूढ़ि है। रूढ़ि के विषय में दादा धर्माधिकारी का एक सुन्दर कथन हमें मिलता है, जिसमें उसकी उत्पत्ति और उसके व्यवहार का सुन्दर चित्रण है।

"उड़ीसा में एक गाँव था, वहाँ के लोग बड़े ही भोले-भाले और भले थे। एक बार वहाँ की एक वृद्धा की अतिप्रिय गाय खो गई। उसने चिन्ता और क्लेश के कारण, और उस गौ के प्रति अपने स्नेह से प्रभावित होकर यह प्रतिज्ञा की कि जब तक उसकी गौ न मिल जायगी वह अन्न-जल ग्रहण नहीं करेगी। सौभाग्य से गौ मिल गयी। वृद्धा की भावना और लगन की **ख्याति चारों ओर फैल गई। लोगों को अच्छा लगा।** कालान्तर में वहाँ यह 'रिवाज' चल पड़ा कि जिसकी गाय खो जाय वह उस के मिलने तक अन्न-जल न छुए।

वर्षों बाद भयंकर बाढ़ आयी उसमें अनेक गाय-बैल बह गये। अनुमान करिए कितने लोगों को शारीरिक और मानसिक कष्ट इस कारण हुआ होगा, कि एक वृद्धा की स्नेह पूर्ण भावना को (उसके कारण को भूलकर) लोगों ने नियम की रूढ़ता प्रदान की और उससे घटित होने वाले परिणाम को न सोचा।"

(भाषण, आगरा कॉलेज, १९५५)

इसी प्रकार आज के युग में फैशन के फेर में पड़कर उपर्युक्त तीन प्रकार के आलोचक रूढ़ि का समर्थन करते हैं। जिस कवि को, जिस काल को, किसी कारण से किसी आलोचक ने जो रूप दे दिया वही रूढ़ होकर हमारा मानदण्ड बन जाता है। यही आधुनिक काल के अध्ययन का सबसे बड़ा दोष है।

सच्चे समालोचक में वकील जैसी विश्लेषण शक्ति, जज के समान विवेक, और नियामक समान भविष्य-दृष्टि तो चाहिए ही, इनके अतिरिक्त उसमें साहित्यकार के प्रति सहानुभूति और भावकत्व भी चाहिए। हम कह सकते हैं कि सच्चा समीक्षक साहित्यकार के प्रति एक 'सदाचारी मित्र' का सा व्यवहार करता है। आचार की शुद्धि को समझने वाला होने के कारण वह सत् नियमों का निर्माण करके अपने मित्र (साहित्यकार) का मार्ग प्रदर्शन करता है, और फिर स्वयं उसकी रचना का वकील समान विश्लेषण करके उसके गुण दोषों का (जज समान) निर्णय करता है। चूंकि वह मित्र है इसलिए उसमें सौहार्द्य होता है और वह समीक्षक अपने मित्र (साहित्यकार) की देश, काल और समाजगत परिस्थितियों, उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं और समस्याओं को समझकर उन्हें पाठक को समझाने का प्रयत्न करता है। बिना समझे-बूझे, कटुशब्दों में मित्र की अनर्गल आलोचना वह नहीं करता और न वह अकारण प्रशंसा करके मित्र का अहित करता है। इतना सब होने पर भी उस 'सदाचारी मित्र' का अपना व्यक्तित्व भी होता है, अपना दृष्टिकोण भी होता है और वह अपने व्यक्तित्व को अक्षुण्ण रखते हुए सत् आचार और विचार (जोकि लोक-कल्याण के साधक हैं) के प्रचार का मार्ग प्रशस्त करता हुआ अपने मित्र (साहित्यिक) को प्रभावित भी करता है। मेरी दृष्टि में इसी प्रकार के समालोचक आदर्श समीक्षक हैं।

पीछे वर्णित रूढ़िवादी, अन्यायपूर्ण, आलोचना के हाथों रीतिकाल के कवियों की हत्या होते-होते बची है। मेरा मत है कि किन्हीं भी कारणों से क्यों न हो, अनेक आधुनिक समालोचक रीतिकालीन कवियों की कविता पढ़े बिना ही केवल वर्ग विशेष के आलोचकों के मतों पर सरसरी दृष्टि डालकर रीतिकाल के कवियों की आलोचना का अधिकारी अपने को मान बैठते हैं। रीतिकाल की, उस समय की विभिन्न भाव धाराओं की, उस काल के साहित्य तथा उस काल की अन्य ललित कलाओं की, सामाजिक मूल्यों की, और उस समय के जन-जीवन की कुरुचिपूर्ण एवं एकांगी आलोचना अनेक आलोचकों ने की है। रीतिकाल को कुत्सित भावनाओं वाले पतित युग के रूप में (जिसमें कोई भी गौरव करने योग्य बात नहीं थी) चित्रित करने का प्रयत्न अनेक समीक्षकों ने किया है। उसकी विशेषताओं को उससे छीन कर उसे भाव-दरिद्र बताया गया। यह सब क्यों हुआ और इसका उद्देश्य क्या था यह बताते हुए इस निबन्ध में रीतिकाल की सच्ची समीक्षा करने का प्रयत्न हमने किया है। साहित्य के क्षेत्र में किसी भी युग का आरम्भ और अन्त अनायास नहीं हो जाता; जाने वाला अपना प्रभाव छोड़ जाता है और आने वाले युग के बीज हमें

खोजने पर पीछे वाले में मिल जाते हैं। मेरा मत है कि आधुनिक युग की कविता रीतिकाल की कविता का **क्रमिक और आवश्यक** विकास मात्र है, तथा रीतिकाल की कविता का, कुछ सीमा तक आधुनिक काल की कविता पर प्रभाव है। मैं समझता हूँ कि यदि अनेक अभारतीय भावनाएँ आधुनिक काल के साहित्य में न घुसेड़ी जातीं तो आधुनिक काल की कविता का वर्तमान रूप सम्भवतः कुछ भिन्न ही होता।

इसमें रीतिकालीन कविता का पुनर्मूल्यांकन है और उसके, आधुनिक काल पर पड़े प्रभाव को यथातथ्य रूप में देखने का प्रयत्न किया गया है। इसमें जो कुछ कहा गया है उसका मूल्य-महत्त्व क्या है, इसका निर्णय तो पाठक ही करेंगे, मैं केवल इतना निवेदन करना चाहता हूँ कि इस ग्रन्थ में मैंने अपने विचारों को ईमानदारी से तथा 'बेहिचक' होकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जहाँ कहीं तर्कों में तीव्रता आगयी है वह, धारणा की दृढ़ता के कारण है, किसी के भी प्रति अनादर अथवा धृष्टता की भावना के कारण नहीं है; फिर भी यदि ऐसा लगे तो उन सब विद्वानों से मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। वास्तव में, मैं उनका आभारी हूँ, क्योंकि जिनसे व्यक्ति सहमत होता है उनसे उसे कुछ नहीं मिलता, जिनसे मतभेद होता है वे ही उसे नयी नयी दिशाओं में सोचने की प्रेरणा देते हैं।

मैंने यह शोध-कार्य पं० जगन्नाथ तिवारी के निर्देशन में किया है। उनके प्रति क्या कहूँ—'कहे राम रस न रहत'। 'टूटीहू बाँहि गरे परे, फूटीहू आँखि पीर होय' के अनुसार उन्होंने मुझे अपनाया है और मेरे दुख-दर्द को सदा सर्वथा समझा, और दूर किया है।

मेरे पूर्वजों ने (जोकि कश्यपगोत्रीय कश्मीरी थे) एक सिद्धान्त सदा अपनाया- 'सच कहना और खुश रहना'। पूज्य पिताजी ने इस नियम का सर्वदा पालन किया था। मैं इस सिद्धान्त के प्रथम भाग का पालन कितना कर सका हूँ, नहीं कह सकता; लेकिन खुश रहने की कोशिश सर्वदा करता आया हूँ और इसी खुशी में, अपने इस शोध-कार्य को प्रकाशित कराने की, पिछले आठ वर्षों में, फिक्र ही नहीं की। डॉ० तारकनाथ बाली और व्यवस्थापक, विनोद पुस्तक मन्दिर, का मैं अति आभारी हूँ, जिनकी प्रेरणा और सहायता से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। श्री विनोदकुमार अग्रवाल ने इस पुस्तक के मुद्रण को अपना व्यक्तिगत कार्य मानकर मुझे प्रूफ पढ़ने के भार से मुक्त कर दिया, और उस बोझे को स्वयं संभाल लिया; तदर्थ उनके प्रति अपना अनुग्रह प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

श्रीनगर
गंगा दशहरा, १९६७।

—रमेश कुमार शर्मा

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड

(अ) भारतेन्दु युगीन कविता पर रीतिकाल का प्रभाव ६३—१३४

(ब) द्विवेदी युगीन कविता पर रीतिकाल का प्रभाव

तृतीय खण्ड

रीतिकाल के संदर्भ में प्रसाद-पन्त-निराला युग की कविता १३५—२२९

आधुनिक (खड़ी बोली) कविता पर प्रभाव

परिशिष्ट

प्रथम खण्ड

रीतिकाल के प्रति अन्याय की रूपरेखा

द्विवेदी युग की समाप्ति तक आते-आते हिन्दी साहित्य में एक नया ही फैशन चल पड़ा था। अपने को समय के साथ चलने वाला चैतन्य-मन साहित्यकार सिद्ध करने के लिए अनेक कवि मध्ययुगीन कविता-विशेषकर रीतिकालीन कविता-की आँख बन्द करके कटु आलोचना करने लगे थे। इनमें से अनेक विद्वान् रीतिकाल की कविता से केवल 'सेकिण्डहैण्ड' परिचय रखते थे। चूंकि रीतिकाल की कविता ब्रजभाषा में है इस कारण रीतिकाल का अर्थ ब्रजभाषा की कविता और ब्रजभाषा का अर्थ रीतिकाल की कविता लिया जाने लगा था। क्रमशः यह फैशन इतना प्रचलित हुआ कि रीतिकाल की कविता तक ही इन आलोचकों ने अपने को सीमित न रखा अपितु रीतिकाल की संस्कृति, विचारधारा, राजनैतिक तथा सामाजिक आस्थाओं को भी समेट लिया और सामूहिक रूप से सं० १७०० से १९०० सं० तक की प्रत्येक बात इन लोगों को दूषित और घिनौनी लगने लगी। इस मनोवृत्ति के बीज भारतेन्दु युग में बोये गये थे और उसकी जड़ें द्विवेदी युग में मजबूत हुईं, तथा प्रसाद-पन्त-निराला युग में उसका पूर्ण विकास हुआ। पन्त जी ने पल्लव की भूमिका में कहा है :—

'उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृत पात्र और बायें में विषपूर्ण कटोरा है जो उस युग के नैतिक पतन से भरा छलछला रहा है। ओह! उस पुरानी गुदड़ी में असंख्य छिद्र, अपार संकीर्णताएँ हैं।

इनमें से जिसकी विलास-वाटिका में भी आप प्रवेश करें.........सब की बावड़ियों में कुत्सित प्रेम का फुहारा शत शत रस धारों में फूट रहा है.........कुंजों में उद्दाम यौवन की गन्ध आ रही है। इस तीन फुट नखशिख के संसार के बाहर ये कवि-पुंगव नहीं जा सके।'[1] पन्त जी का यह कथन आधुनिक काल के विचारकों के संकीर्ण तथा अन्यायपूर्ण दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है।

भारतेन्दु युग तक ब्रजभाषा का बोलबाला था, फिर इन लगभग ५०/६० वर्षों में इस प्रकार का दृष्टिकोण-परिवर्तन कैसे हुआ? खड़ी बोली और ब्रजभाषा का झगड़ा ही इसका मूल कारण है।

भारतेन्दु युग में खड़ी बोली के गद्य का निर्माण हुआ, उर्दू भी विकसित होती जा रही थी, अंग्रेजी सरकार के प्रयासों से आवागमन के साधन बढ़ रहे थे

---

१. **सुमित्रानन्दन पन्त, पल्लव, १९४२ ई०, पृ० ७, ९, १०।**

इसलिये देश के विभिन्न भागों के निवासी अधिकाधिक सम्पर्क में आ रहे थे, पढ़े-लिखों की सामान्य बोल चाल में खड़ी बोली का प्रयोग किया जाने लगा था, और ऐसे समय में ब्रजभाषा की एकदेशीयता सामाजिकों को खलने लगी थी । जो लोग ब्रजभाषा भाषी नहीं थे उनके मन में ब्रजभाषा के प्रति विशेष या कहिए अनावश्यक मोह न था और समय की पुकार के अनुसार कविता को सार्वदेशिकता प्रदान करने के लिए खड़ी बोली का सहारा लेना ही उन्हें लाभप्रद सूझ रहा था । उधर ब्रजभाषा वाले अपनी भाषा का पल्ला छोड़ना नहीं चाहते थे । यहाँ से एक सामान्य साहित्यिक विवाद का आरम्भ हुआ जो कि आगे चलकर अपने वास्तविक स्वरूप को खोकर मामूली गाली-गलौज में परिणत हो गया । सृजनात्मक आलोचना और तर्कों का स्थान छिद्रान्वेषण तथा विध्वन्सात्मक मनोवृत्ति ने ले लिया । धीरे-धीरे इस विवाद में कटुता की मात्रा बढ़ने लगी और द्विवेदी युग से होता हुआ यह झगड़ा आगे आधुनिक युग में पहुँचा और उसका स्वरूप एकपक्षीय विष-वमन मात्र रह गया ।

भारतेन्दु युग में इस विवाद का आरम्भ

१९वीं शताब्दी में 'लावनी' और 'खयालबाजी' की प्रतियोगिताएँ अत्यधिक प्रचलित तथा लोकप्रिय हो गई थीं । डा० केसरीनरायण शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक काव्यधारा' में भारतेन्दु-युग के लावनी साहित्य के उदाहरण दिये हैं । डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' में जमशेद जी होरमस जी पीरान के 'कलगी के दिल पसन्द ख्याल' (१८८२ ई०) नन्दलाल का 'तुर्रा राग' (१८८३ ई०) आदितराम जोइतराम तथा जोशी मनसुख राम के 'कलगिनी लावनियां' (१८८७ ई०) तथा शम्भुदयाल का 'अमसी व लावनी ख्यालात तुर्रा' (१८८८ ई०) रचनाओं की चर्चा की है । ख्यालबाजी तथा लावनियों के अखाड़े उन दिनों परम लोकप्रिय थे । ख्यालबाजी के दो स्कूल माने जाते हैं—'तुर्रा' और 'कलगी' । अखाड़ों में इन दोनों की चोंचें देखने को हजारों की भीड़ें लगा करती थीं । जनता की इनमें विशेष रुचि थी और लोक-रुचि के अनुरूप ही इनकी भाषा खड़ी बोली हुआ करती थी । बाद में इनमें कुछ उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी आरम्भ हुआ । लोक-साहित्य में खड़ी बोली का प्रयोग, यहां तक आते-जाते, मुखर हो उठा था । लावनी और ख्यालों के अतिरिक्त लोकगीतों में सामयिक बातों पर (खड़ी बोली में) रचना होने लगी थी । डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपनी पुस्तक "आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५० से १९०० ई०)" में एक उदाहरण प्रस्तुत किया है[१] ।

---

१. राजा फिरंगी रेल चलायी छिन में आती जाती है ।
धिग् ही दिल्ली धिग् ही आगरा, धिग् ही भरतपुर जाती है ।।
अन्न न खाती पानी न पीती, धुआं के बल से जाती है ।
कच्ची सड़क पर वह नहीं चलती, लोहे लट्ठों पर जाती है ।।
(आ० हि० सा० १९४८ ई० पृ० ९१)

इसके अतिरिक्त ईसाइयों और आर्यसमाजी प्रचारकों ने भी अपने भजनों में खड़ी बोली का प्रयोग किया। आर्यसमाजी प्रचारकों के भजनों की भाषा शिथिल होते हुए भी शुद्ध खड़ी बोली थी। लोक गीत तथा ख्याल-लावनी रचने वाले ये कवि किसी विवाद को ध्यान में रखकर खड़ी बोली में रचना नहीं कर रहे थे अपितु लोक रुचि को देखकर अपनी रचना को लोकप्रिय और सर्वसाधारण के समझने योग्य बनाने के लिए ही ये खड़ी बोली का प्रयोग कर रहे थे। उनके सामने ब्रजभाषा और खड़ी बोली का झगड़ा नहीं था। इन कवियों की इन रचनाओं का जनता ने इतना स्वागत किया कि उस काल के अन्य साहित्यकारों ने भी लोक-साहित्य का सृजन आरम्भ कर दिया। भारतेन्दु जी ने "फूलों का गुच्छा" (१८८२ ई०) प० प्रतापनारायण मिश्र ने "मन की लहर" (१८८५ ई०) पं० श्रीधर पाठक ने "एकान्तवासी योगी" (१८८६ ई०) पं० बदरीनारायण चौधरी "प्रेमघन" ने "कजली कादम्बिनी" (१८९० ई०) बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने "जोगीड़ों का संग्रह" (१८८७-९९ ई०) लिखा। पाठक जी के "एकान्तवासी योगी" के प्रकाशन से खड़ी बोली और ब्रजभाषा का झगड़ा आरम्भ हुआ। ब्रजभाषा के पक्षपातियों को खड़ी बोली का यह बेजा दखल बुरा लगा परन्तु खड़ी बोली वालों के साथ जनरुचि और समय की मांग थी। खेमे गड़ गये और भाषा-युद्ध की भेरी बज गई। लोक-काव्य ने खड़ी बोली की नींव दृढ़ कर दी थी[1] और दृढ़ नींव पर खड़े होने के कारण खड़ी बोली वालों ने टक्कर लेना आरम्भ कर दिया।

उर्दू का विकास होना आरम्भ हो गया था और हिन्दी से उसकी प्रतिद्वन्दिता थी। उर्दू का सामना करने के लिए एक सर्वाङ्गपूर्ण (गद्य तथा पद्य दोनों में समर्थ) भाषा की आवश्यकता थी और खड़ी बोली के समर्थकों ने खड़ी बोली को इस आवश्यकतापूर्ति में समर्थ समझकर उसका समर्थन करना आरम्भ किया। ब्रजभाषा वालों ने भ्रमवश इसे अनधिकार चेष्टा समझा और विरोध करना आरम्भ कर दिया। इस अन्धाधुन्ध विरोध में भारतेन्दु ने साथ नहीं दिया। वास्तव में भारतेन्दु ने खड़ी बोली में कविता करने का प्रयत्न किया और उसके प्रचार का प्रयास भी किया यद्यपि उस समय तक की खड़ी बोली उनके मधुर मन के उपयुक्त नहीं पड़ती थी, फिर भी युगद्रष्टा भारतेन्दु ने खड़ी बोली के प्रचार का प्रयत्न किया[2]। कुछ लोग तो यहां तक मानते हैं कि काव्य-क्षेत्र में खड़ी बोली का संचार भारतेन्दु ने ही

---

१. रासधारी, नौटंकी, जोगीड़ा, लावनी आदि गानों से खड़ी बोली का गढ़ दृढ़ करने में बड़ी सहायता मिली। इन्होंने इतने मजबूत मसाले से खड़ी बोली की ईंट जोड़ी कि सारा प्रहार निष्फल हो गया।
"कृष्णदेव गौड़, (आधुनिक खड़ी बोली कविता की प्रगति १९२९ ई, पृ० ९)"

२. भारतेन्दु जी ने १ सितम्बर १८८१ के "भारत मित्र" में प्रकाशनार्थ कुछ पद

किया[१]। तात्पर्य यह है कि इस विवाद में कटुता भरने में भारतेन्दु का हाथ बिल्कुल नहीं था।

धीरे-धीरे यह विवाद बढ़ता गया और इसके मूल में जो ब्रजभाषा वालों की मनोवृत्ति की संकीर्णता थी उसने इस विवाद में आरम्भिक कटुता लाने का कार्य किया। ब्रजभाषा के समर्थकों ने खड़ी बोली वालों को बुद्धिहीन और हठी कहना आरम्भ कर दिया[२]। इस विवाद से विदेशी विद्वान भी अछूते न रहे, फ्रेड्रिक पिन्काट ने खड़ी बोली के पक्ष का समर्थन किया।[3] किन्तु ग्रियर्सन साहब ने खड़ी बोली

खड़ी बोली में रचकर भेजे थे। उन पदों के साथ उन्होंने निम्न पत्र सम्पादक जी को भेजा था :

"प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता भेजी है देखिएगा इसमें क्या कसर है......। तीन भिन्न छन्दों में यह अनुभव करने के लिए कि किस छन्द में इस भाषा (खड़ी बोली) का काव्य अच्छा होगा कविता लिखी है। मेरा चित्त इससे सन्तुष्ट न हुआ और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ।

"डा० केसरीनरायण शुक्ल (आधुनिक काव्यधारा पृ० ३५)"

......और फिर भारतेन्दु इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनके लिये काव्य की भाषा ब्रज ही उचित है। उन्होंने लिखा, "जो हो मैंने कई बार परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाएं पर मेरे चित्तानुसार नहीं बनी।"

"भारतेन्दु ('हिन्दी भाषा' पृ० २).

१. खड़ी बोली का काव्य-क्षेत्र में वस्तुतः संचार भारतेन्दु बाबू ने ही किया और उसकी ओर सुकवियों का ध्यान स्वयमेव पथ-प्रदर्शन करते हुए उन्होंने आकर्षित किया है।......इस प्रकार खड़ी बोली को काव्य के क्षेत्र में आगे बढ़ाने का सफल प्रयत्न किया।

"पं० शुकदेव विहारी मिश्र (आधुनिक ब्रजभाषा काव्य, पृ० ३, प्राक्वचन)

२. जात खड़ी बोली पे कोऊ भयो दिवानो।

\+ \+ \+ \+

हम इन लोगन हित सारद सों चहत विनय करि।
काहू विधि इनके हिय की दुर्मति दीजे दरि।।
जासों ये सांचे आनन्दप्रद सों सुख पावें।
औ हठ करि नित औरन को नहीं बहकावें।।

"जगन्नाथदास रत्नाकर (समालोचनादर्श, १८९६ ई०, पृ० ३०/३१)

३. बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री (खड़ी बोली का पद्य, १८८८ ई०, पृ० ६—भूमिका)

का विरोध किया।[1] ब्रजभाषा वालों को उर्दू का भय था, वे समझते थे कि खड़ी बोली के सहारे उर्दू घुस आवेगी। इसी भय से भयभीत पं० राधाचरण गोस्वामी ने लिखा था :—

"हम अनुमान करते हैं कि खड़ी बोली की कविता की चेष्टा की जाय तो फिर खड़ी बोली के स्थान में थोड़े दिनों में खाली उर्दू का प्रचार हो जायगा। इधर सरकारी पुस्तकों में फारसी शब्द घुस ही पड़े उधर पद्य में भी फारसी भरी गई तो सहज ही झगड़ा निपटा[2]।" (हिन्दोस्थान १५ जनवरी, १८८८ ई०)

उधर खड़ी बोली वालों ने केवल खड़ी बोली के प्रचार तक ही अपने प्रयत्नों को सीमित न रखा वरन् उन्होंने कहना आरम्भ किया कि ब्रजभाषा का जमाना गुजर गया है, उसके विकास की चरम सीमा निकल चुकी है, उसे अब विश्राम ले लेना चाहिये :—

"इस संसार में एक वस्तु एक ही बार उन्नति के शिखर पर चढ़ती है फिर या तो स्थिर हो जाती है या गिर जाती है। ब्रजभाषा की कविता कई बातों में उन्नति की पराकाष्ठा से भी परे पहुँच चुकी है और यद्यपि अन्य बातों में उसे उन्नति की समाई है पर अवसर नहीं है। ब्रजभाषा की कविता को......विश्राम लेने का समय अवश्य आ पहुँचा है। उसको अधिक श्रम देना आवश्यक नहीं।"[3]

(हिन्दोस्थान ३ फरवरी, १८८८ ई०)

पं० श्रीधर पाठक के इस कथन से और अन्य विद्वानों के इसी प्रकार के कथनों से झगड़ा सामयिक भाषा और भाषा का नहीं रह गया अपितु खड़ी बोली और ब्रजभाषा के सम्पूर्ण साहित्य का हो गया। धीरे-धीरे खड़ी बोली वालों ने ब्रजभाषा के मध्य-युगीन साहित्य पर आक्रमण करना आरम्भ किया, ब्रजभाषा का दल दुर्बल होता गया और द्विवेदी युग तक आते-आते परिभ्रमित ब्रजभाषा पर दायें और बायें, चारों ओर से, उचित और अनुचित आक्रमण होने आरम्भ हो गये। पराजयोन्मुख ब्रजभाषा-दल क्षोभ तथा खिसियाहट के कारण, और खड़ी बोली-दल विजय-दम्भ के कारण संयम खो बैठा। औचित्य को ताक में रख दिया गया और इस भाषा-युद्ध में कटुता पूर्णरूपेण भर गई।

---

१. ग्रियर्सन साहब का बाबू अ० प्र० खत्री को लिखा गया, ६ फरवरी १८९० ई० का पत्र (खड़ी बोली का आन्दोलन पृ० ४५),

२. 'खड़ी बोली का आन्दोलन' पृ० १४ (अ० प्र० खत्री)

३. खड़ी बोली का आन्दोलन, पृ० १९

द्विवेदी युग में

"व्रजभाषा का बहिष्कार करने से हिन्दी की प्राचीनता प्रकट न होगी ग्रौर खड़ी बोली की खिल्ली उड़ाने से नवीनता नष्ट होगी। हानि दोनों से है। इसलिए दोनों दल वालों को ईर्ष्या द्वेष त्याग कर काम करना चाहिए[1]।"

उपर्युक्त प्रकार के संतुलित मत रखने वालों के शान्ति-प्रचार के मध्य भी व्रजभाषा ग्रौर खड़ी बोली का युद्ध तीव्र से तीव्रतर होता चला गया। द्विवेदी युग में ग्राकर कुछ ग्रौर नये कारण उपस्थित हुए जिनसे खड़ी बोली ग्रौर व्रजभाषा वालों के मध्य की खाई ग्रौर भी बढ़ गई। द्विवेदी युग की खड़ी बोली की कविता का एक प्रधान भाव था राष्ट्रीयता। ग्रंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह की भावना से जनता को ग्रनुप्राणित करने के लिए स्वदेशी भावना का राग फूंका गया। समय की पुकार थी कि देश में दासता के प्रति विद्रोह की भावना जगाई जाय ग्रतएव कवियों ने इस क्षेत्र में ग्रग्रसर होना ग्रारम्भ किया। देशभक्ति की ग्रधिकांश कविताएँ खड़ी बोली में की गई उनके लिए वीर रस की ग्रावश्यकता थी। वीर रस तथा स्वदेशी-भावना में जो ग्रात्माहुति का रंग है उसका मन ग्रौर शरीर को तृप्त करने वाली शृंगार भावना से विरोध मान लिया गया, स्वाभाविक था कि उस काल के राष्ट्रीय कवि शृंगार से दूर रहकर स्वदेशी भावना का प्रचार करें। चूँकि व्रजभाषा में शृंगार का ग्राधिक्य है (ग्रौर रीतिकाल उसका प्रतीक है) इसलिए राष्ट्रीय-भावना के विकास के साथ-साथ शृंगार की उपेक्षा का भाव ग्रौर उसके साथ-साथ व्रजभाषा ग्रौर उसकी शृंगारी कविता के प्रति विरोध का भाव भी विकसित हुग्रा। कहा जाने लगा कि व्रजभाषा वीर रस ग्रौर देशप्रेम की कविता के ग्रनुपयुक्त है। यह बात भूषण ग्रौर भारतेन्दु की वीर रस तथा देश-प्रेम की कविता के रहते हुए भी कही जाती थी। व्रजभाषा वालों ने व्रजभाषा में वीर रस तथा देश-प्रेम की कविता करके इस तर्क का उत्तर नहीं दिया ग्रपितु खड़ी बोली के गद्य में खड़ी बोली की कविता का विरोध ही वे करते रहे। इस विरोध में ग्रनावश्यक कटुता भी बहुधा ग्रा जाया करती थी[2]।

---

१. पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, (सिंहावलोकन, सं० १९७४ पृ० ३२)

२. आधुनिक कवि ग्राशु कवि होने का दम भर रहे हैं......चूरन वाले लटकों का लक्षण कितना प्रिय लगता है। देश का नाम लेकर एकग्राध इधर-उधर के लटके सुनाओ ग्रौर सुकबि बन जाग्रो। बन्दनीय महाशयों से ग्रति विनयपूर्ण प्रार्थना है कि इस साहित्य-परिवर्तन के युग में नव मुरीद हिन्दी पाठकों को ऐसी शिक्षा न दे जिस से सत्-कवियों का तिरस्कार ही नहीं वरन् काव्य का ग्रादर्श ही भ्रष्ट हो जाय।

पं० चन्द्र मनोहर मिश्र का "कविता का मर्म" शीर्षक लेख (इन्दु, कला ६ खड २, अगस्त १९१५, पृ० १४९)

यदि द्विवेदी युग के ब्रजमाषा के कवियों ने अपनी भाषा में समय की मांग के अनुरूप कविता की होती और थोड़ा सा हेर-फेर कर लिया होता तो ब्रजभाषा आज भी अपने पूर्व गौरव के साथ जीवित होती ।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक "कविता कलाप" की तीव्र कटूक्तियों से युक्त जो आलोचना मई १९१३ ई० की "मर्यादा" में "कलाप या प्रलाप" शीर्षक से छपी थी, उसमें उसके लेखक "धृष्ट समालोचक" नाम के किसी गुमनाम सज्जन ने बड़ी कीचड़ उछाली और इस विवाद को एक और गन्दा स्वरूप प्रदान कर दिया और अब धीरे-धीरे इस विवाद में व्यक्तिगत छीछालेदर ने प्रवेश पा लिया ।[1] इस आपस की छीना-झपटी में हानि हुई ब्रजभाषा की और उसके साहित्य की, धीरे-धीरे खड़ी बोली पनपने लगी और ब्रजभाषा के विरोधियों की संख्या बढ़ने लगी ।

खड़ी बोली की कविता विकासोन्मुख हुई उसमें नूतन प्रयोगों का आरम्भ हुआ । नूतन छन्दों की रचना की ओर कवियों ने ध्यान दिया तथा कविता अतुकान्त भी होने लगी । खड़ी बोली वालों ने इस प्रकार अपनी कविता को गत्यात्मकता प्रदान की और ब्रजभाषा वालों ने विरोध करने के हेतु ही इन प्रयोगों का विरोध किया[2] । नूतन छन्दों का प्रयोग तथा अतुकान्त कविता का विरोध करके ब्रजभाषा वालों ने ब्रजभाषा का सबसे बड़ा अहित किया । उन्होंने जन-समाज के सामने यह दिखा दिया कि ब्रजभाषा और उसके समर्थक पुरान-पंथी, रूढ़िवादी हैं और प्रत्येक प्रकार के सुधार के विरोधी हैं । इस काल के इन कवियों ने अपनी इसी रूढ़िवादिता के कारण ब्रजभाषा (और शृंगार रस की कविता पर) रूढ़िवादी होने की मुहर लगवा ली और अपने विरोधियों का कार्य स्वयं ही सम्पन्न कर दिया । यदि इस काल के कवि ब्रजभाषा में अतुकान्त, छन्दहीन तथा देश-प्रेम की वीर-रसात्मक कविता करना आरम्भ कर देते तो सम्भव है कि ब्रजभाषा और उसके काव्य को रूढ़ होने की उपाधि न मिलती । इन लोगों ने अप्रत्यक्ष रूप से जनता के सामने ब्रजभाषा को प्रत्येक प्रकार के सुधार का विरोधी सिद्ध कर दिया[3] तथा स्वयं रीतिकालीन

---

१. वही—मिश्र का 'कविता का मर्म' ।

२. **सज्जन कुछेक ऐसे भी हैं जो 'बेतुकी' हाँकते हैं । जब तुक न मिले और काफिया तंग हो जाय तो बेचारे क्या करें ? 'बेतुके' काव्य ही नहीं महाकाव्य भी बनने लगे हैं । बेतुके कवियों का कहना है कि तुक मिलाने में बड़ा झंझट है...... जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ।**

(सम्मेलन पत्रिका, भाग ६, अङ्क ११/१२, सं० १९७९ पृ० २८३)

३. **हमारे बाप दादे बैलगाड़ी पर चलते थे लेकिन हम रेलवे ट्रेनों से घन्टों में कोसों का सफर तय करते हैं । इसी तरह पुराने कवि दोहा और सोरठा लिखते थे तो कोई वजह नहीं कि हम भी सिर्फ 'शंकर चाप जहाज सागर रघुवर**

परम्परा की एक धारा का अनुगमन करके रीतिकाल के प्रति पढ़े-लिखे लोगों के मन में सन्देह उत्पन्न कर दिया कि व्रजभाषा और उसका काव्य अगतिवान है।

भारतेन्दु युग में व्रजभाषा और खड़ी बोली के झगड़े में खड़ी बोली की विजय के जो संकेत थे वे द्विवेदी युग में आकर सत्य सिद्ध हुये तथा द्विवेदी युग में यह बात साफ नजर आने लगी कि खड़ी बोली ने काव्य के क्षेत्र में अपना सिक्का जमा लिया है। व्रजभाषा वालों ने इस युग में केवल व्रजभाषा का ही अहित नहीं किया वरन् उन्होंने अपनी अनावश्यक रूढ़िवादिता के कारण आगे के युग में आने वाली रीतिकाल की अन्यायपूर्ण आलोचना के बीज भी बोये।

प्रसाद-पन्त-निराला युग में

"हिन्दी की वाटिका में खड़ी बोली की कविता की क्यारियां जो कुछ समय पहले दूरदर्शी बागबानों के परिश्रम से लग चुकी थीं आज धीरे-धीरे कलियाँ देने लगी हैं। उनकी आनन्द सौरभ लोगों को खूब पसन्द आई है। हिन्दी के हृदय पर खड़ी बोली की कविता का हार प्रभात की उज्जवल किरणों से खूब चमक उठा है, इसमें कोई सन्देह नहीं है[1]।"

सन् १९२९ के निराला जी के इस कथन से यह स्पष्ट है कि खड़ी बोली की कविता विकास के मार्ग पर द्रुतगति से धावित हो रही थी। व्रजभाषा के समर्थकों और कवियों की संख्या कम होती जा रही थी और अब वे खड़ी बोली का खुले आम विरोध करने की रुचि भी नहीं रखते थे। उधर खड़ी बोली के समर्थकों ने गिरे में दो लातें और लगाने के लिये व्रजभाषा का ही विरोध नहीं किया अपितु द्विवेदी युग के व्रजभाषा समर्थकों के तर्कों और रूढ़िवादिता के कारण चिढ़कर सम्पूर्ण व्रजभाषा साहित्य पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। रीतिकाल की कविता को व्रजभाषा की कविता का प्रतिनिधित्व करने वाली मान कर अब रीतिकाल पर आक्रमण करना आरम्भ किया[2]। इससे पूर्व खड़ी बोली वालों ने मध्ययुगीन कविता पर कीचड़ उछालने का प्रयत्न नहीं किया था, उसे वे पैतृक सम्पति ही मानते थे, परन्तु अब उसके प्रति उपेक्षा और अश्रद्धा की भावना अंकुरित होने लगी थी। यही अश्रद्धा

बाहुबल' के वजन पर मिसरे बैठाएँ। देशकाल को देखकर हम जितने तरह के नये छन्द लिख सकें उतनी ही हम अपनी मातृभाषा की सेवा कर सकेंगे।...... मन्नन द्विवेदी (मर्यादा, भाग ६, संख्या २,३ जून जुलाई, १९१३ ई०, पृ० १००)

१. निराला; परिमल, पंचमावृत्ति, भूमिका, पृ० ९-११।

२. 'इस काल (मध्यकाल) के कवियों को गुंडेपन और शोहदेपन की हरकतों के अतिरिक्त और कुछ बड़ी मुश्किल से सूझता था।'
मार्कन्डेय बाजपेई, एम० ए० (वीणा, वर्ष ८, अङ्क ११, सितम्बर १९३५ ई०, पृ० ८६२)

की भावना आगे चलकर घृणा और द्वेष में परिणत हो गई। तात्पर्य यह नहीं है कि रीतिकाल के इन आलोचकों ने जो कुछ कहा वह सब असत्य था परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि आँख मूँदकर जो रीतिकाल की कटु आलोचना आरम्भ की गई उसके अधिकांश में सत्य की मात्रा कम ही थी। इस आलोचना के मूल में ब्रजभाषा—खड़ी बोली का विवाद था इसका प्रमाण यह है कि रीतिकाल के इन आलोचकों ने अपने को रीतिकाल तक ही सीमित नहीं रखा अपितु ब्रजभाषा के भक्त कवियों तक की टांग जा पकड़ी :—

"......दुर्भाग्य देखिए कि उनकी कूपमण्डूकता कितनी लम्बी अवधि तक बनी रही। ...... सभी की प्रतिभा केवल कच-कुच-कटाक्षों तक ही सीमित रही। सूरदास तक ने अपने समस्त ज्ञान का सदुपयोग अधिकांशतः राधा और कृष्ण की जोड़ी का वर्णन करने में ही कर डाला।......बात खलेगी, ब्रजभाषा के हिमायतियों को, परन्तु सच्ची बात है यह कि ब्रजभाषा में जो कुछ भी है उसका अधिकांश है कविताबद्ध कोक-शास्त्र और महाघृणित रूप में लिखा हुआ"। [1]

जगन्नाथ प्रसाद मिश्र

(सम्पादक—विश्वमित्र)

बात यह थी कि खड़ी बोली में वीर रस और देशभक्ति की सुन्दर कविता का होना आरम्भ हो गया था किन्तु श्रृंगार के क्षेत्र में ब्रजभाषा का सा माधुर्य अभी तक उसमें नहीं आ पाया था। जैसे ब्रजभाषा वालों ने दम्भ के कारण ब्रजभाषा में समयानुरूप सुधार करने के स्थान पर खड़ी बोली की कर्ण-कटुता का सहारा लेकर उसकी आलोचना करना आरम्भ किया था, उसी प्रकार श्रृंगार के क्षेत्र में हेठी होते देखकर खड़ी बोली वालों ने श्रृंगाररस मात्र का विरोध करना आरम्भ किया और झट रीतिकाल पर जा टूटे। यद्यपि आगे चलकर इस प्रकार की अनर्गल बातों का विरोध कुछ विद्वानों ने किया[2] परन्तु रीतिकाल की जो हानि होनी थी वह तो बहुत पहले ही हो चुकी थी।

---

१. विश्वमित्र, वर्ष ५, खंड ६, अंक १, अक्तूबर १९३६ ई०, पृ० ११०,१११।

२. 'उनके गुरुपद पर प्रहार न करें······बिना उनकी अयोग्यता प्रकट किये भी हम योग्य और बिना किसी माननीय की अवमानना किये ही हम मान्य हो सकते हैं।' (हरिऔध सर्वस्व, पृ०१६६, १६७)

तथा

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हमारी साहित्यिक समस्यायें' (द्वितीय संस्करण) में (पृ० १९२) प्राचीन तथा नवीन कवियों में काल्पनिक वार्तालाप करवा के कहवाया है :—

'मगर एक इल्तमश इन नौजवानों से मैं करता हूँ
खुदा के वास्ते अपने बुजुर्गों का अदब सीखें।'

अपने को प्रगतिशील सिद्ध करने के लिए जिसे देखो वह रीतिकालीन कविता पर कीचड़ उछाल रहा था । पहले कहा कि शृंगार अधिक है, फिर सूझी कि रीतिकाल को शृंगार के क्षेत्र में भी श्रेय क्यों दिया और तत्काल कह डाला कि वह शृंगार भी बेकायदे है :—

"शृंगार भी वह कायदे का नहीं रह गया । एक कवि के बाद दूसरा आता है और अश्लीलता की कीचड़ में लोटने को कविता का स्वरूप और अपनी प्रतिभा का दिग्दर्शन समझता है ।"[1]

(मार्कन्डेय बाजपेई)

कुछ लोग सुधारवाद और नारी की स्वतंत्रता का नाम लेकर रीतिकाल पर बरस पड़े :—

"ब्रजभाषा की अधिकांश कविता इसलिए सोने के कटोरे में हलाहल है कि वह आत्मा का नाश और पुरुषत्व का ह्रास करती है । स्त्री का जितना घोर अपमान इसमें है उतना हिन्दी के अन्य साहित्य में मुश्किल से मिलेगा[2] ।"

(पं० बैंकटेश्वर नारायण तिवारी)

"ब्रजभाषा देश को जगाना नहीं जानती बल्कि सुख की नींद सुलाना जानती है और उसने अबतक देश को सुला भी रखा है ।......मैं जोरदार शब्दों में सर्व-साधारण के सामने यदि आवश्यकता हो तो कुतुबमीनार पर खड़ा होकर भी कह सकता हूं कि हिन्दू समाज में व्यभिचार फैलाने, बेकारी, कायरता और आलस्य बढ़ाने की मिथ्यावादिता से जनता के हृदय का तेज घटाने के अपराधी (ब्रजभाषा के) ये कविगण हैं, ऐसे कवियों की कविताओं का विष हिन्दू-जाति की नस नस में घुस गया है[3] ।"

(पं० रामनरेश त्रिपाठी)

यद्यपि इस प्रकार के बे-सिर-पैर के तर्कों का उत्तर भी दिया गया[4] किन्तु फिर भी, चूंकि ब्रजभाषा वाले अल्पमत में रह गये थे इस कारण, अधिकांश लोग बिना रीतिकाल की कविता का अध्ययन किये ही सुनी सुनाई बातों को दुहराने लगे (इसीलिए उनका रीतिकाल विषयक ज्ञान "सेकिन्ड हैन्ड" कहा गया है) और

---

१. वीणा, सितम्बर १९३५, पृ० ८३२ ।

२. सरस्वती, दिसम्बर १९३३, पृ० ४९१ ।

३. सम्मेलन पत्रिका भाग २, सं० १९८७, पृ० ५५।५६ ।

४. ब्रजभाषा का जितना अंश अश्लीलता के प्रसंग से अशिष्ट बतलाया जाता है वह फिर भी मानवीय है आसुरी नहीं ।......ब्रजभाषा के कवियों ने सौन्दर्य को इतनी दृष्टि से देखा है कि शायद ही कोई सौन्दर्य उनसे छूटा हो । 'निराला' (प्रबन्ध पद्म, सं० १९९१ वि०, पृ० १०८, ११६)

रीतिकालीन कविता की कटु अलोचना करने का फैशन चल निकला। (इस फैशन का विशेष विवेचन तृतीय खण्ड में किया जायगा)।

प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, बच्चन आदि कवियों के प्रयत्नों से खड़ी बोली की कविता में माधुर्य का आगमन हुआ और धीरे-धीरे यह बात स्पष्ट हो गई कि काव्य-क्षेत्र से ब्रजभाषा खड़ी बोली को निकाल नहीं सकती, ब्रजभाषा की कविता भी कम होने लगी यद्यपि ब्रजभाषा के समर्थक अब भी कभी-कभी पुरानी कविता के सहारे अपना गौरव प्रकट करने का प्रयत्न कर रहे थे।[1]

इसी समय प्रगतिवाद के नाम पर हिन्दी-साहित्य में साम्यवाद और मार्क्सवाद घुस पड़ा। प्रगतिशील-लेखक-संघ की स्थापना में प्रेमचन्द जैसे साहित्य महारथियों का योग था, जो कि साम्यवादी गान्धीवादी तथा प्रगतिवादी सब कुछ होते हुये भी किसी भी वाद विशेष के खूंटे से बंधे नहीं थे और पूर्णरूपेण भारतीय थे। धीरे-धीरे प्रगतिवाद के नाम पर कुछ लोगों का एक गुट बन गया और वे इस साहित्यिक वाद की ओट में से साम्यवाद और मार्क्सवाद का प्रचार करने लगे। मार्क्सवाद के अनुसार जो कुछ भी पुराना है वह रूढ़िवादी है अतएव त्याज्य है। इस समय एक नया शब्द **साहित्य के क्षेत्र में** प्रचलित किया गया—'सामन्तवादी'। साम्यवाद के अनुसार मध्ययुग सामन्तवादी था इस कारण इस युग की प्रत्येक भावना और उस युग का साहित्य 'बुर्जुआ' तथा रूढ़िवादी था और इसीलिए घृणास्पद था। यही नहीं प्राचीन संस्कृति तथा भावनाऐं उन्हें व्यर्थ तथा मूर्खतापूर्ण लगने लगीं :—

मूढ़ 'माइथोलोजी' व्यर्थ आइडियोलोजी; रहने न पावे, सड़ा देने को विचार नर; कहीं कोई मूढ़-ग्राह रूढ़ियों का। हो प्रवाह स्वार्थ के स्तरों में छिपा; व्यर्थ का अहंकार। बन्द करो ! द्वार[2]।

द्वितीय महायुद्ध के समय जब सब राष्ट्रीय भावना वाले विचारक जेलों में बन्द थे उस समय इस मार्क्सवादी प्रगतिवाद का विशेष प्रचलन हुआ। साम्यवादी पार्टी अंग्रेजों के साथ थी इस कारण रेडियो, समाचारपत्र तथा अन्य प्रचार के साधनों पर उसका पूर्ण अधिकार हो गया था। इन प्रगतिवादियों की जड़ें रूस में थीं और वे रूसी सेना के गुणगान[3] करते थे तथा भारतीय नेताओं और शहीदों को

---

१. **आगे चलकर इसी को 'विशाल भारत' सम्पादक, पं० श्रीराम शर्मा ने "पिदरेमन सुल्तां बूद तुरा चीस्त" (मेरा बाप वादशाह था पर तू क्या है) वाली प्रवृत्ति कहा था। (विशाल भारत, फरवरी १९४८, पृ० १०४, नोट)**

२. **हंस—मई १९४२, अंक ८, उदयशंकर भट्ट की कविता।**

३. **'हंस' अक्टूबर १९४२ में प्रकाशित प्रभाकर माचवे की 'दाज्द्रास्त्व्युते सोवियतसकी सोयूज' (सोवियत यूनियन जिन्दाबाद) शीर्षक कविता (जिसका शीर्षक भी रूसी भाषा में था) उनकी सांस्कृतिक या कहिये राजनीतिक, गुलामी का प्रदर्शन करती है।**

गाली देते थे । इसी को देखकर डा० सुधीन्द्र ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक कवि" (पृ० २२५) में 'प्रगतिवाद' के लिए लिखा है :—

'यही कारण है कि एक ओर तो प्रगतिवादी शिविर में से राष्ट्रीयता विरोधी पंक्तियां उठ सकती हैं: —

बोस विभीषण ने भी देखो कैसा जाल बिछाया है ।
कल था जो कि देवता वह अब दानव दल ले आया है ।।
यह कहकर वह गला कटावेगा अपने ही भाई का ।
वह न स्वर्ग का देवदूत है, **घृणित दलाल कसाई का** ।।

—मलखान सिंह

और दूसरी ओर......कवि दिनकर 'प्रगतिवाद' की निन्दा करते हुए कहते हैं :—

'मास्को का हम आदर करते हैं किन्तु हमारे रक्त का एक एक विन्दु दिल्ली के लिए अर्पित है जब तक दिल्ली दूर है मास्को के निकट या दूर होने से हमारा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं । पराधीन देश का मनुष्य सबसे पहले अपने देश का मनुष्य होता है । विश्व-मानव वह किस बल पर बने । हमारे समस्त अभिमानों का एक मात्र स्पष्ट लक्ष्य मास्को नहीं, दिल्ली है । मास्को के उत्थान और पतन के साथ हँसने और रोने वाले सहकर्मियों से मेरा निवेदन है कि हमने बोल्गा का नहीं गङ्गा का दूध पिया है । हम पर पहला ऋण बोल्गा का नहीं गङ्गा का है ।'

इस प्रकार इस वर्ग के आलोचकों (रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय आदि) ने जो कुछ पुरातन था और जिससे मार्क्सवाद की पटरी नहीं बैठती थी उसकी मनमानी आलोचना करना आरम्भ कर दिया । खड़ी बोली की राष्ट्रीय कविताएँ जो कि मार्क्सवादियों द्वारा नहीं लिखी गयी थीं (राजनीति का साहित्य पर अधिकार हो जाने के कारण समालोचना कविता की न होकर कवि की हुआ करती थी) उनकी भी अनर्गल आलोचना करना इन लोगों ने आरम्भ किया[1] ।।

---

१. "किसान कविता में सोहनलाल जी ने किसान का गुण गान किया है, उसकी खुली निर्धनता और छिपी शक्ति का वर्णन किया है । उन्होंने इस कविता में उचित लिखा है—तुझसे ही गांधी है गांधी । 'यह युगावतारपन, यह कोटिवाहु कोटिरूप की कल्पना, पृथ्वी को आकाश में खोलने की बेपर की बातें, इण्डियन प्रेस में यह 'भैरवी' की छपाई और सुन्दर समझे जाने वाले ये भोंड़े चित्र...... 'भैरवी' कविता में पुराने गौरव को द्विवेदी जी ने खूब याद किया है परन्तु यह गौरव क्यों धूल में मिल गया यह नहीं लिखा । वह इसीलिए धूल में मिल गया कि उस समय भी गांधी जी जैसे नेता और पं० सोहनलाल द्विवेदी जैसे कवि

मार्क्सवाद के सांचे में ढालकर कविता को देखने वाले इन कथित प्रगतिवादियों ने उस समय भारतीय संस्कृति की प्रत्येक पुरातन भावना पर ही सामन्तवादी कहकर आक्रमण नहीं किया वरन् आधुनिक काव्य की भी मार्क्सवादी आलोचना कर डाली। गजानन मुक्तिबोध अपने निबन्ध 'कामायनी कुछ नये विचार' में लिखते हैं :—

(अ) "प्रथमतः यह कि 'कामायनी' विशिष्ट रूप से भारतीय पूंजीवाद के विकास को प्रतिबिम्बित करती है। वह भारतीय पूंजीवाद के बालक व्यक्तिवाद की अक्षमता और निष्फलता की कहानी है......अन्य देशों के अनुसार भारतीय पूंजीवाद ने सामन्ती समाज-रचना में क्रान्ति नहीं की।"

(ब) "इस सामन्ती शासक वर्ग का चित्रण देखिये, इस 'देव-सृष्टि' का वर्णन देखिये—

"चिर-किशोर-वय नित्य विलासी सुरभित जिससे रहा दिगंत,
आज तिरोहित हुआ कहाँ वह मधु से पूर्ण अनन्त वसन्त,
अब न कपोलों पर छाया-सी पड़ती मुख की सुरभित भाप,
भुजमूलों में शिथिल वसन की व्यस्त न होती है जब भाप।"

(हंस, अंक ४, जनवरी १६४६)

हम देखते हैं कि किस प्रकार एक विशेष राजनीतिक 'वाद' के कारण आलोचना के सिद्धान्त और उद्देश्य ही परिवर्तित हो गये और इन मार्क्सवादियों ने किस प्रकार सामन्तवादी कहकर 'कामायनी' तक की अन्धाधुन्ध, इकतरफी, आलोचना कर डाली। यह काल ऐसा था कि इसमें अपने को प्रगतिशील कहने के लिए मार्क्सवादी सिद्धान्त स्वीकार करके कुछ आलोचक अन्य स्वतन्त्र कवियों की खिल्ली उड़ाया करते थे। इन्होंने रीतिकाल को सामन्तवादी आदि नामों से पुकार कर उसकी इकतरफा आलोचना की। यही नहीं इन्होंने यह कहना आरम्भ कर दिया कि केवल वे (स्वयं) ही प्रगतिवादी हैं और इस कारण जो उनका विरोध करेंगे उनकी गणना प्रतिक्रियावादियों में की जायगी।[1] इस प्रकार इन कथित प्रगतिवादियों ने रीतिकाल की भी मनमानी आलोचना करना शुरू की[2]।

वर्तमान थे। किसानों की मेहनत पर अपना राज्य विस्तार करते थे, मौज उड़ाते थे।"

—रामविलास शर्मा की सोहनलाल द्विवेदी की पुस्तक 'भैरवी' की 'बापू के छौने' शीर्षक समालोचना। (हंस, अंक १०, जुलाई १९४१)

१. "जो कलाकार हमारा विरोध करते हैं वे शोषक-वर्ग के हिमायती बन जाते हैं और प्रतिक्रियावादियों में उनकी गणना होगी।"

—प्रकाशचन्द गुप्त।

(प्रगतिशील पुस्तकें, पृ० २११, 'प्रगति क्यों')

२. -पन्त (पल्लव,१९४२ ई०, पृ० ७, ६, १०)

पं० रामचन्द्र शुक्ल, श्री श्यामसुन्दरदास, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वानों ने भी अपने-अपने इतिहासों में रीतिकाल का मूल्यांकन किया किन्तु उनमें से केवल पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने ही पूर्णरूपेण तटस्थ रह कर रीतिकाल के काव्य की व्याख्या की। शुक्ल जी की सहानुभूति अवधी के प्रति अधिक थी और अपने गम्भीर स्वभाव तथा 'प्यूरीटेनिक' (अति आदर्शवादी) प्रवृत्ति के कारण वे शृंगार-प्रधान व्रजभाषा के कवियों तथा रीतिकाल की कविता के प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर सके थे। उनके अनुसार तो '**सूर भी पूर्ण कवि नहीं रह जाते**' क्योंकि उनमें केवल एक रस और 'आनन्द की केवल सिद्धावस्था' है[1]। श्री श्यामसुन्दरदास तथा शुक्ल जी के द्वारा उठाये गये प्रश्नों तथा उनके द्वारा लगाये गये आरोपों का उत्तर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में हमें पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है–इस विषय पर पूर्ण विवेचन आगे किया जायगा, यहाँ केवल यह कहना है कि इन तीनों विद्वानों में भारतीय (और प्राचीन) साहित्य के प्रति पूर्ण सहानुभूति पायी जाती है, इस कारण इन्होंने कथित प्रगतिवादियों के समान रीतिकाल की एक-पक्षीय आलोचना नहीं की और रीतिकाल के गुणों की ओर से आँखें 'सर्वथा' बन्द नहीं कर लीं थीं। इन तीनों में से पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रीतिकाल का जो मूल्यांकन किया है वह सर्वाधिक न्यायपूर्ण और युक्ति-संगत है। इन तीनों विद्वानों के अतिरिक्त डा० नगेन्द्र ने भी रीतिकालीन साहित्य का अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है।[2] आगे चल कर रीतिकाल की आलोचना का जो विवेचन किया जायगा उसमें इन (अ) भारतीय दृष्टिकोण वाले आलोचकों[3] (ब) अभारतीय (विदेशी प्रभाव से प्रभावित) दृष्टिकोण वाले आलोचकों[4] तथा (स) इन दोनों के बीच में स्थित समन्वयकारी आलोचकों[5] का आश्रय लिया जायगा।

रीतिकाल को उत्तराधिकार में मिली सम्पत्ति

द्विवेदी युग तथा प्रसाद-पन्त-निराला-युग में अधिकांश आलोचकों ने रीतिकालीन कवियों पर यह आरोप लगाया कि उनमें केवल अश्लील शृंगार का रीति-भुक्त

---

१. रामचन्द्र शुक्ल (चिन्तामणि प्रथम भाग, १९४५, 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' पृ० २९२)
२. रीतिकाल की भूमिका—देव और उनकी कविता
३. पं० रामचन्द्र शुक्ल, श्री श्यामसुन्दरदास तथा पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वान।
४. अपने को प्रगतिशील कहने वाले (अमृतराय, रामविलास शर्मा आदि) विद्वान।
५. डा० नगेन्द्र, पं० विनयमोहन शर्मा, पं विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि विद्वान जिन्होंने वाद-मुक्त प्रगतिवाद का समर्थन किया है तथा जिनकी सांस्कृतिक जड़ें विदेश में न होकर भारत की मिट्टी में ही हैं।

वर्णन ही पाया जाता है। इस आरोप का उत्तर दो प्रकार से दिया जायगा १-रीतिकाल में जो श्रृंगार वर्णन है वह उसी काल में उत्पन्न और विकसित नहीं हुआ था अपितु वह तो शताब्दियों से क्रमशः विकसित होने वाली शृंगार-परम्परा का विकास मात्र था तथा उसके वर्णन की पद्धति (रीति) भी प्राचीनकाल से चली आ रही थी तथा रीतिकालीन कवियों ने केवल भक्तिकालीन कृत्रिम (अलौकिक) शृंगार-भावना को मानवीय बनाया। २—रीतिकाल की जो कटु आलोचना की जाती है उसका सबसे बड़ा तर्क यह है कि रीतिकाल में श्रृंगार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है[1] इसलिए यहाँ हमें इस भ्रम का निवारण करना है कि रीतिकाल में कविता केवल एक संकुचित नाली से बह रही थी [2]। रीतिकालीन कविता के बहुमुखी स्वरूप को स्पष्ट करके यह सिद्ध किया जायगा कि रीतिकाल में (शृंगार के अतिरिक्त) अन्य भावों की कविता भी पूर्ण विकसित अवस्था में पायी जाती थी।

"श्रृंगार की प्रवृत्ति का लोप साहित्य में कभी नहीं होता। हिन्दी की ही दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट दिखायी देता है कि प्राकृत और अपभ्रंश-काल में श्रृंगार और वीर रस की धाराएं प्रवाहित थीं[3]।"

—पं० **विश्वनाथ प्रसाद मिश्र**

रीतिकाल में श्रृंगार का जो चित्रण किया गया वह पर्याप्त मात्रा में उसे विरासत में मिला था और उसका मूल केवल संस्कृत-साहित्य में ही नहीं था वरन् उस श्रृंगार की धारा प्राकृत-अपभ्रंश में भी अक्षुण रूप में बहती पायी जाती है। रीतिकाल ने जिस श्रृंगार-भावना का विकास किया उसकी परम्परा आदिकाल से चली आ रही थी, इसमें तो कोई सन्देह है ही नहीं कि रीतिकाल की श्रृंगार-भावना उस का पूर्ण उठान (कल्मिनेशन) मात्र थी। संस्कृत-साहित्य के श्रृंगार कां तथा उसके रीतिकाल पर पड़े प्रभाव का विवेचन न करके यहाँ हम हिन्दी-साहित्य में रीतिकाल से पूर्व की

---

१. (अ) **"इस काल (मध्यकाल) के कवियों को गुन्डेपन और शोहदेपन की हरकतों के अतिरिक्त और कुछ बड़ी मुश्किल से सूझता था।"**
(मार्कण्डेय वाजपेयी, वीणा, वर्ष ८, अंक ११, सितम्बर १९३५ ई०, पृ० ८६२)
(ब) **"सभी की प्रतिभा केवल कच-कुच-कटाक्षों तक सीमित रही" ...(इसका) अधिकांश है कविताबद्ध कोकशास्त्र और महाघृणित रूप में लिखा हुआ।**
—जगन्नाथप्रसाद मिश्र
(विश्वमित्र, वर्ष ५, खण्ड ९, अंक १, अक्टूबर १९३६ ई०, पृ० ११०, १११)

२. **श्यामसुन्दरदास (हिन्दी साहित्य, चतुर्थ संस्करण, २००३ सं, रीतिकाल, पृ० २१२)**

३. **'श्रृंगार काल की सीमा' (हिमालय, अंक ३, अप्रैल १९४६ ई०)**

शृंगार-भावना के क्रमिक विकास तक ही अपने को सीमित रखेंगे। वीरगाथा काल की वीर-भावना तथा भक्तिकाल की भक्ति-भावना का जब विकास हो रहा था तब भी शृंगार-भावना अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए हुए थी और साथ ही साथ उसका भी क्रमिक विकास हो रहा था।[1]

वास्तव में वीरगाथा काल में हमें शृंगार की भावना का लगभग वही स्वरूप मिलता है जो कि विद्यापति से होता हुआ सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियों तथा रहीम और जायसी में पाया जाता है तथा जिसका आगे चलकर रीतिकालीन कविता में विकास हुआ। 'रासो' के काल और उसकी प्रामाणिकता के विषय में अभी भी विवाद चल रहा है फिर भी इतना तो अधिकांश विद्वान् मानते ही हैं कि प्रक्षिप्त अंशों से युक्त होते हुए भी रासो अति प्राचीन ग्रन्थ है। 'पृथ्वीराज रासो' में वीर रस के बाद शृंगार का ही बाहुल्य है; उस शृंगार-वर्णन की परिपाटी और उसके स्वरूप के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

विभिन्न कामिनियों का नखशिख तथा सौन्दर्य-वर्णन

१—इच्छिनी का—समय १४, छन्द ४८ से ६० तक

२—पुंडीरी का—समय १६, छन्द ४ से ६ तक

३—पृथा का—समय २१, छन्द ६८ से ९२ तक

४—इन्द्रावती का—समय ३२, छन्द ९ से २० तक

५—हंसावती का—समय ३६, छन्द १५४ से १६४ तक

६—संयोगिता का—समय ४७, छन्द ६० से ७३ तक तथा समय ६१ तथा ६२ में भी।

नख-शिख वर्णन के अतिरिक्त निम्नलिखित वर्णन भी पाये जाते हैं :—

झरोखे में से झांकना[2], वय-सन्धि[3], स्नान-वर्णन[4], सोलह शृंगार वर्णन[5], विभिन्न प्रकार की नायिकाओं का वर्णन[6], रति-वर्णन[7]।

---

१. "दूसरी ओर यह सूचना मिलती है कि वीरता और भक्ति की लपेट से बहुत कुछ बचकर भी शृंगार अपने लिए मार्ग प्रशस्त कर रहा था"—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।
('शृंगार काल की सीमा', हिमालय, अंक ३, अप्रैल १९४६ ई०, पृ० १९)

२. ३६वां समय, छन्द १४८ तथा १५१।

३. वही, छन्द १५५।

४. वही, (सद्य-स्नाता) १५८ से छन्द १६० तक।

५. वही, १६१ से १८७ छन्द तक।

६. समय २५, छन्द १२६—पद्मिनी नायिका, छन्द १२७ हस्तिनी, छन्द १२८ चित्रिणी, छन्द १२९ शंखिनी।

७. समय ६२, छन्द ७१ से ७२ तक (संयोगिता तथा पृथ्वीराज का रतिवर्णन)

अंगों में काम की अलौकिक लालिमा (मदन—तरंग या 'लिविडो')[1], प्रथम समागम वर्णन[2] तथा सुरति-श्रम, दम्पत्ति—संयोग वर्णन[3], पृथ्वीराज का 'दक्षिण' से 'अनुकूल' नायक हो जाना,[4] कोक-कला में पटु हंसावती के साथ पृथ्वीराज का 'कामान्ध-वृषभ समान मत्त होना' तथा क्रमशः हंसावती की 'लज्जा का हटना' और 'कामेच्छा का बढ़ना,[5] 'षट्-ऋतुओं का उद्दीपन की दृष्टि से वर्णन[6] तथा पृथ्वीराज का 'रति में अहिर्निस मस्त रहना'।

इन थोड़े से उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वीरगाथा काल के कवियों ने शृंगार-वर्णन की जिस परिपाटी का अनुगमन किया वह उनसे पूर्व से चली आती संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की परम्परा थी[7] तथा आगे चलकर **यही परम्परा भक्त-कवियों के माध्यम से रीतिकालीन कवियों को प्राप्त हुई।**

वीरगाथा काल का, 'रासो' के अतिरिक्त, अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण वीर-ग्रन्थों में शृंगार के चित्रण का विवेचन 'रासो' तक ही सीमित रह जाता है। वीरगाथा काल के बाद भक्तिकाल की मधुर भावना की कृष्ण-भक्ति में हमें शृँगार की उसी परम्परा के दर्शन होते हैं जो कि 'रासो' में पायी जाती है।

बल्लभ सम्प्रदाय की मधुर भाव की भक्ति पर चैतन्य महाप्रभु तथा विद्यापति का पर्याप्त प्रभाव पाया जाता है। यही नहीं कुछ लोग तो यहां तक मानते हैं कि मधुर भाव (शृंगार) की भक्ति का समावेश बल्लभाचार्य ने चैतन्य के प्रभाव से ही किया[8] तथा गो० विठ्ठलनाथ के निकट चैतन्य के अनेक अनुयायी आया-जाया करते थे[9]

१—समय ३६, छन्द २०१-२
२—वही, छन्द २२५ से २३०
३—समय ६१, छन्द १२१२ से १२१५
४—वही, छन्द १२१५ से १२१८
५—समय ३६, छन्द २३१ से २३३
६—समय २५, छन्द ३५ से ४५
समय ६१, छन्द ६ से ७२
समय ३६, छन्द २४० से २४७
७—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—'शृंगार काल की सीमा' (हिमालय, अप्रैल १९४६ ई०, पृ० १८)
८—अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ५२७ तथा ५२८
९—वही, पृ० ५२८ ('एक बार गोस्वामी बिट्ठलनाथ ने छप्पन भोग का उत्सव किया उसमें राधा बल्लभीय, हरिदासी, गौड़ीय (बंगाली) भक्तों के कीर्तन की व्यवस्था की गयी थी')

और उनके राधा-भाव सम्बन्धी विचारों पर चैतन्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था[1]। वार्ता-साहित्य से सिद्ध है कि वल्लभ और चैतन्य की भेंट हुई थी। सम्भव है कि चैतन्य की भक्ति से प्रभावित होकर ही बंगाली वैष्णवों को श्रीनाथ जी के मन्दिर में रखा गया हो[2]। चैतन्य महाप्रभु बंगाली थे और उनमें तथा वल्लभाचार्य में जो विचार-साम्य पाया जाता है, वह इस बात को पुष्ट करता है कि संस्कृत की शृंगार-भावना का हिन्दी से इतर भाषाओं में भी उसी रूप में विकास हुआ जैसा कि हिन्दी में हुआ। यह शृंगार-भावना प्राचीन काल से देव-भाषा संस्कृत में बद्धमूल थी और वह क्रमशः सब देशी भाषाओं में लगभग समान रूप से विकसित हुई थी। चैतन्य बंगाली थे और विद्यापति मैथिल, यद्यपि बंगाली उन्हें अपनी ओर घसीटने का प्रयत्न करते हैं परन्तु फिर भी अब यह सर्वमान्य रूप से माना जाने लगा है कि विद्यापति हिन्दी के ही हैं। चैतन्य और विद्यापति में शृंगारपरक भक्ति की समानता है और विद्यापति शृंगार तथा भक्ति के बीच में झूलते हैं। अब भी इस बात पर विवाद चल जाया करता है कि विद्यापति 'शृंगार' के कवि हैं या 'भक्ति' के। वास्तव में विद्यापति में शृंगार की लौकिक भावनाएँ अधिक मुखर हैं और उन्होंने उन्हें (जैसा रीतिकाल के कवियों ने किया) भक्ति की ओर लगा दिया। चैतन्य के, ब्रज में निवास करने वाले, अनुयायी विद्यापति के पद बड़ी तल्लीनता से गाया करते थे। चैतन्य-सम्प्रदाय का प्रचार अष्टछाप के समय में श्री रूपगोस्वामी के प्रभाव से बहुत हुआ और इस प्रकार ब्रज में विद्यापति का प्रचार और मान बढ़ा[3]। स्पष्ट है कि अष्टछाप के कवियों पर विद्यापति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था और उन्होंने विद्यापति की शृंगार-परम्परा और मधुर-भाव की भक्ति को स्वीकार किया था। यही नहीं, हम कह सकते हैं कि वल्लभ-सम्प्रदाय के बीज हमें विद्यापति में मिलते हैं। (विद्यापति ने अपनी इस भावना का विकास जयदेव तथा 'भागवत' के सहारे किया था)। हम यहाँ विद्यापति की कविता की शृंगार-भावना का विवेचन करेंगे।

विद्यापति में शृंगार-वर्णन की लगभग वही परिपाटी पायी जाती है जिसका दर्शन हम (वीरगाथा काल के) 'रासो' में कर चुके हैं।

नायिका के सद्य-स्नाता स्वरूप का परम सुन्दर चित्रण, पूर्ण शारीरिक आकर्षण के साथ विद्यापति में पाया जाता है,[4] तथा प्राचीन परिपाटी की शृंगार-

---

१. वही, पृ० ५२८
२. वही, पृ० ५६
३. डा० दीनदयाल गुप्त—'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' पृ० २५
४. कामिनी करए सनाने।
　　हेरितहि हृदय हनए पंचबाने॥ २
　चिकुर गरए जलधारा।
　　जनि मुख ससि डर रोअए अंधारा॥ ४

भावना के अनुरूप नायिका के अभिसार-गमन आदि के चित्रण भी उनमें हैं। अलौकिक नायक[1] कृष्ण के प्रति उनकी प्रेयसी के मन में बाल-वयस से जो प्रेम पुष्ट हो रहा है उसका सखी-सम्भाषण के रूप में, वार्तालाप के माध्यम से, जो वर्णन है उसमें विद्यापति ने बड़े कौशल से प्रेयसी के मन की अनुराग की वृत्ति को पुष्ट करने वाली रति-क्रीड़ा की स्मृति का भाव-पूर्ण चित्रण किया है।[2]

(१८ का शेष)

कुच जुग चारु चकेवा।
निज कुल मिलिअ आनि कोन देवा॥ ६
× × × × ×
बांधि घएल उड़ि जाएत अकासे॥ ८
तितल वसन तनु लागू।
मुनिहु क मानस मनमथ जागू॥ १०
भनइ विद्यापति गावे।
गुनमति धनि पुनमत जन पावे॥ १२

('विद्यापति की पदावली'—संकलनकर्ता—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रकाशक पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना—सद्य-स्नाता, २३)

१. धनि धनि चलु अभिसार।
सुभ दिन आजु राजपन मनमथ, पाओब कि रीति विचार॥ २
गुरुजन नयन अंध भरि झाझोल बाधव तिमिर विसंख।
तुम उर फुरत बाम कुच लोचन बहु अंनग करि लेख॥ ४
कुलबति धरम करम भय अब सब गुरु मन्दिर चलु राखि।
प्रियतम संग रंग करु चिर दिन फलत मनोरथ साखि॥ ६
नीरद बिजुरि बिजुरि संप नीरद किंकिन गरजन जान।
हरखमय फुल सब साखी सिखि-कुल दुहु गुन गान॥ ८
(बिद्यापति की पदावली, अभिसार-१०७)

२. न कर न कर सखि मोहि अनुरोध।
की कहब हमहु तुकर परबोध॥ २
अलप वयस हम कानु से तरुना।
अतिहु लाज डर अतिहू तरुना॥ ४
लोभे निठुर हरि कए लन्हि केलि।
की कहब जामिनि जत दुख देलि॥ ६
हठ मेल रस मोर हरल गेआन।
निबि-बंध तोड़ल कखन के जान॥ ८

इसी प्रकार के अनेक भावपूर्ण चित्र विद्यापति में पाये जाते हैं। विद्यापति के सम्पूर्ण काव्य में शृंगार के पद अधिक हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। शिव, दुर्गा, गंगा तथा राम विषयक पद शुद्ध भक्ति के कहे जा सकते हैं। कुछ पद सामाजिक हैं, तथा दो एक पद नीति विषयक सूक्तियों के रूप में हैं। इन सब पदों की संख्या सौ के लगभग है। शेष लगभग सात सौ पचास पद शृंगार के हैं। इन शृंगार के पदों में कुछ तो कृष्ण का नाम लेकर अलौकिकत्व को प्राप्त हैं और शेष में शुद्ध शृंगार का चित्रण है जो कि अपने से पूर्व की परम्परा का पालन, तथा अपने बाद की शृंगार परम्परा का पोषण करने वाले हैं। १८० पद कृष्ण-राधिका के शृंगार के विषय के हैं, जिनमें कि प्रेम भक्ति का मिश्रण है तथा रास-लीला आदि का चित्रण है, १५० पद ऐसे हैं कि जिनमें है तो चित्रण शुद्ध शृंगार का ही किन्तु कृष्ण का नाम ले देने से उनको अलौकिक रति की ओर लगाया जा सकता है, वास्तव में उनमें है शुद्ध शृंगार ही। ३२ पद कृष्ण की रतिक्रीड़ा के हैं, २० परकीया-प्रेम विषयक हैं तथा १० पद (जैसे नं० ४९७,५०० तथा ७०२ आदि) विपरीत-रति के पाये जाते हैं। शेष पद ऐसे हैं जिनमें कि रीति-परिपाटी के आधार पर नायक-नायिका भेद आदि का वर्णन है[1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यापति के काव्य का अधिकांश वास्तव में शृंगार परक ही है। विद्यापति भक्त हैं या शृँगारी इस झगड़े में हमें यहां नहीं पड़ना है, हमारा उद्देश्य केवल यह दिखाने का है कि विद्यापति ने संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश से चली आती शृंगारी-परम्परा का (जिसका

(१९ का शेष)

देल आलिंगन भुज—जुग चापि।
तरवन हृदय मझु ऊठल कांपि॥ १०
नयन बारि दरसा अलि रोइ।
तबहु कान्हु उपसम नहि होइ॥ १२
अधर सुरस मझु कएलन्हि मन्द।
राहु गरासि निसि तेजल चन्द॥ १४
कुच जुग देलन्हि नख-परहार।
केहरि जनि गज कुम्भ विदार॥ १६
भनइ विद्यापति रसवति नारि।
तुहूं से चेतन लुबुध मुरारि॥ १८
(विद्यापति की पदावली—सखि सम्भाषण-९४)

१. यह गणना खगेन्द्रनाथ मित्र तथा विमानविहारी मजूमदार द्वारा सम्पादित सर्वमान्य प्रामाणिक संग्रह 'विद्यापति' के आधार पर है। इस ग्रन्थ में विद्यापति के प्रामाणिक पदों की संख्या ८५० दी गयी है। वैसे विद्यापति के ९३२ पदों का विवेचन इस वृहद ग्रन्थ में है, शेष पदों की प्रामाणिकता विवादास्पद है।

'रासो' में भी पालन है) पूर्ण पोषण किया तथा उसे और भी विकसित रूप में भक्ति-कालीन कृष्ण-भक्त कवियों को प्रदान किया। **यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है कि इस काल का शृंगार (इसकी दृष्टि से अपने विरोधी) भक्ति/शान्तरस की गोदी में पला है।** इसका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव आगे आने वाले रीतिकालीन शृंगार पर पड़ा। चूंकि अलौकिक प्रिय (ब्रह्म) एक है और उसकी प्रेयसियाँ (भक्त) अनेक हैं (जो कि अपना-अपना विलग मिलन चाहती हैं) इस कारण इस शृंगार-परक भक्ति में परकीया प्रेम तथा सवति-ईर्षा का बाहुल्य हो गया जो कि आगे चलकर शुद्ध शृंगार के क्षेत्र में भी परकीया प्रेम तथा सवति-विषयक-ईर्ष्या के चित्रण का कारण बना।[1]

भागवत, चैतन्य तथा विद्यापति से प्रभावित, वल्लभ—मार्गीय मधुर भाव की भक्ति के अनुयायी, सूर आदि अष्टछाप के कवियों में यह शृंगार-भावना लगभग उसी रूप में पायी जाती है जैसी कि विद्यापति (या कहिए 'रासो') में।

यद्यपि सूर की भक्ति, 'विनय' तथा एकाग्रता परम उच्चकोटि की थी, फिर भी काव्य-क्षेत्र में परम्परा से वर्णित तथा वल्लभ—सम्प्रदाय में स्वीकृत, रीति/परि-पाटी-भुक्त शृंगार का पूर्ण वर्णन उनमें पाया जाता है। नायिका-भेद के अन्तर्गत खण्डिता आदि का वर्णन भी उनमें मिलता है:—

आये लाल जामिनी जागे तो भोर।
नील कलेवर कोमल उर पर गड़ि गये कुच जु कठोर।।

तथा

आज हरि रैनि उनीदे आए।
बिनु गुन माल विराजति उर पर, चन्दन रेख लगाए।
अंजन अधर लिलाट महावर नयन तमोर खबाए।।
मगन देह सिर पाग लट पटी जावक रंग रंगाए।।
नख रेख विराजति हृदय सुभग कंकन पींठि बनाए।।[2]

यही नहीं, शृंगार की ऐसी-ऐसी विचित्र (जिन्हें अश्लील भी कहा जा सकता है) परिस्थितियों का चित्रण भी उनमें मिलता है जिनमें कि कृष्ण के साथ रति क्रीड़ा-रत केवल राधा का ही चित्रण नहीं है, वरन् बीच में माता यशोदा भी आ जाती हैं। कृष्ण का बाल्यकाल पूर्ण—यौवन के गुणों से युक्त था इस कारण उनमें

१, 'भक्ति अपनी छाप शृंगार पर छोड़ती गयी। कृष्ण-भक्ति से ही शृंगारिक रचना का सम्बन्ध रहा। यह भी एक हेतु है कि शृंगार में परकीया-प्रेम की उक्तियां अधिक कही गयीं।'

—विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'शृंगार काल की सीमा'

(हिमालय, अंक ३, अप्रैल १९४६ ई०, पृ० २०)

२. डा० नगेन्द्र द्वारा 'रीतिकाल की भूमिका-देव और उनकी कविता' में पृ० २६० पर 'सूरसागर'-खंडिता वर्णन से उद्धृत।

स्वाभाविक रूप से 'श्रीफल' की ओर हाथ बढ़ाने की लत थी किन्तु वे ही कृष्ण माता के आते ही सामान्य बालक का ढोंग रच कर 'गेंद' की 'टटोल' का बहाना कर जाते हैं।[1] इस प्रकार के चित्रण में सूर को दूर की कौड़ी लाने का तथा अपनी वर्णन चातुरी का प्रयोग करने का पूर्ण अवसर मिला है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। फिर भी अलौकिक होते हुए भी उसमें शृंगारिकता का ही बाहुल्य है। स्पष्ट है कि यह शृंगार की परिपाटी रीतिकालीन कवियों को अपने पूर्वजों (कृष्ण-भक्त कवियों) से ही प्राप्त हुई थी।

इन वर्णनों के साथ-साथ सूर में शृंगार की परिपाटी के अनुसार रति-क्रीड़ा तथा सुरति-श्रम,[2] विपरीत-रति आदि के चित्रण भी पूर्ण रूप से पाये जाते हैं।

अष्टछाप के कवियों में सूर सबसे आगे थे और (किंचित मात्रा में नन्ददास तथा परमानन्ददास को छोड़ कर) अन्य अष्टछाप के कवियों ने न्यूनाधिक रूप से सूर का ही अनुगमन किया था। राधा और कृष्ण का विस्तृत नख-शिख वर्णन तथा शृंगार की परिपाटी के अनुसार उनका सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण जैसा सूर में पाया जाता है, लगभग वैसा ही अष्टछाप के अन्य कवियों में भी पाया जाता है। रासलीला के भाव-

---

१. सूरसागर (दशम स्कन्ध)

नीबी ललित गही जदुराइ।
जबहिं सरोज धर्‌यौ श्रीफल पर, तब जसुमति गयी आइ ।।
ततछन रुदन करत मनमोहन, मन में बुधि उपजाइ।
देखौ ढीठि देति नहिं माता, राख्यो गेंद चुराइ ।।
तब बृषभानु-सुता हँसि बोली, हम पै नाहिं कन्हाई।
काहे को झकझोरत नोखे, चलहु न देउं बताइ ।।
देखि बिनोद बाल सुत कौ तब, महरि चली मुसुकाइ।
सूरदास के प्रभु की लीला को जाने इहिं भाइ ।। ६८२/१३००

२. नवल गुपाल, नवेली राधा, नये प्रेम रस पागे।
अंतर बन बिहार दोउ क्रीड़त, आपु आपु अनुरागे ।।
सोभित शिथिल बसन मन मोहन, सुखवत स्त्रम के पागे।
मानहुं बुझी मदन की ज्वाला, बहुरि उजारन लागे ।।
कबहुंक बैठि अंस भुज धरि के, पीक कपोलिन पागे।
अति रस-रासि लुटावत लूटत, लालचि लाल सभागे ।।
नहि छूटति रति रुचिर भामिनीं, वा रस में दोउ पागे।
मनहुं सूर कल्पद्रुम की सिधि, ले उतरी फल आगे ।।
(सूर सागर, दशम स्कन्ध, ६८६/ १३०४)

भंगियों से युक्त असंख्यों चित्र, 'हिंडोरे' आदि की क्रीड़ा[1] का वर्णन तथा उद्दीपन के लिए खींचे गए प्रकृति के चित्र इन कवियों में भरे पड़े हैं।

सूर आदि अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त कविवर पृथ्वीराज की अनुपम रचना 'वेलिक्रिसन रुक्मणी री' में शृंगार का परम्पराबद्ध वर्णन हमें मिलता है। यद्यपि कृष्ण तथा रुक्मिणी विषयक शृंगार का वर्णन होने के कारण लोग उसको भी कुछ लोकोत्तरता का अधिकार देते हैं, किन्तु पूर्ण रचना देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने शृंगार-रस की निष्पत्ति की दृष्टि से ही इसकी रचना की है। इस रचना का विवेचन हम इसलिए कर रहे हैं क्योंकि इसमें परम उच्चकोटि की भावानुभूति पायी जाती है। कालानुक्रम की दृष्टि से भक्तिकाल में (अकबर के समय) होने पर भी यह रचना वास्तव में वीरगाथा की परम्परा में लिखी हुई है, वीर तथा शृंगार-रस का ही इसमें बाहुल्य है, 'रासो' से केवल एक भेद इसमें पाया जाता है—रासो का नायक लौकिक और 'वेलि' का नायक इस जगत में होते हुए भी अलौकिक है और उसकी नायिका भी अलौकिकत्व को प्राप्त है। इस अलौकिकत्व (कृष्ण के ब्रह्मत्व) के होते हुए भी इस रचना का स्वरूप शृंगार-परक है तथा इसमें वीर-रस गौण है और शृंगार का ही पोषक है। इसमें शृंगार की परिपाटी पर रुक्मिणी तथा कृष्ण के प्रेम, विवाह, रति तथा सोलह शृंगार आदि का चित्रण है। सद्यस्नाता[2] के वर्णन में कवि ने मधुर शृंगारी-चित्र उपस्थित किये हैं। प्रयुक्त भाषा की स्वभावगत कर्ण-कटुता की कठिनाई को कौशल से कुचल कर कवि ने कमनीय तथा परम मधुर

---

१. (हिंडोरा)

हिंडोरे झूलत स्यामा-स्याम।
ब्रज जुवती मण्डली चहूंघा निरखत बिथकित विथकित काम ॥
कोउ गावति कोउ हरिषि झुलावति कोउ पुरवति मन साधि।
कोउ संग मचति कहति कोउ मचिहों उपज्यौ रूप अगाध ॥
कोउ डरपति हा-हा करि बिनवति प्यारी अंकम लाइ।
गाढ़ै गहति पियहिं अपने कर पुलकित अंग डराइ ॥
अब जनि मचौ पाइ लागति हौं, मोकों देहु उतारि।
यह सुनि हँसत मचत अति गिरिधर डरति देखि अति नारि ॥
प्यारी टेरि कहति ललिता सों, मेरी सौं गहि राखि।
सूर हँसति ललिता चन्द्रावलि, कहा कहति पिय भाखि ॥६६॥

(सूरदास रास-रंग)

२. **कुम कुमै मंजरण करि धोत बसत धरि**
चिहुरे जल लागो चुवरण।
छीरो जारिण छछोहा छूटा
गुरण मोती मखतूल गुरण ॥

अनेक चित्र उपस्थित किये हैं। नखशिख[1] वर्णन परम्परा का पालन करता हुआ भी केवल शारीरिक सौन्दर्य को ही उपस्थित नहीं करता वरन् नायिका की मानसिक अवस्था का भी संकेत करता है। इसके अतिरिक्त प्रथम समागम को जाती हुई[2] रुक्मिणि का ससंभ्रम चित्रण तथा सुरतान्त[3] का चित्रण भी बेलि में पाया जाता है। यही नहीं प्रकृति का चित्रण भी शृंगार के सहयोग से ही किया गया है[4]। षट्ऋतु-वर्णन भी इसमें[5] है और वह उद्दीपन के हेतु ही किया गया है।

(२३ का शेष)

छन्द ८१, बेलीक्रिसन रुकमणी री—राठोड महाराज पृथ्वीराज जी कृत।
(सम्पादक-ठा० रामसिंह तथा श्री सूर्यकिरण पारीक)
प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडमी—प्रयाग, १९३१ ई०

१. (अ) कमनीय करे कूँ कूँ चौ निज करि
कलंक घूम काढ़े बे काट।
सम्प्रति कियौ आप मुख स्यामा
नेम तिलक हर तिलक लिलाट।।

(ब) धर धर शृंग सुघर सुपीन पयोधर
घणी खीण कटि अति सुघर।
पदमणि नाभि प्रियाग तणी परि
त्रिवलि त्रिवेणी स्रोणि तट।।
(वेलि क्रिसन रुक्मणी री. छन्द २५)

(स) कामिणि कुच कठिन कपोल किरी किरि
वेस नवी विधि वाणि वखाणि।
अति स्यामता विराजति ऊपरि
जोवण दाण दिखालिया जाणि।
(वही, छन्द २४)

२. अवलम्बि सखी कर पगि पगि ऊभी
रहती मद बहती रमणि।
लाज लोह लांगरे लगाये
गय जिम आणी गयगमणि।।
(बेलि क्रिसन रुकमणी री, छन्द १६७)

३. पति पवन प्रारथित त्री तत्र निपतित सुरत अन्त केहवी श्री।
गजेन्द्र क्रीडता सु विगलित गति नीरासइ परि कमिलिनी।।
(वही, छन्द १७४)

४. संयोगिणि चीर रई कैरव श्री घर हट ताल भँमर गोघोख।
दिणयर ऊगि एतला दीघा मोखियाँ बंध बंधियाँ मोख।।
(वही, छन्द १८५)

५. वही, छन्द १८७ से २५५ तक।

इस प्रकार कविवर पृथ्वीराज ने परम्परा से चली आती शृंगार की रीति का पूर्ण परिपालन किया है; केवल नायक तथा नायिका-भेद के वर्णन का प्रयत्न कवि ने नहीं किया। ग्रन्थ का अल्प कलेवर (३०५ छन्द) तथा प्रबन्धात्मक रूप विस्तृत नायिका भेद के वर्णन के उपयुक्त नहीं था।

भक्ति काल के मुख्य कवियों में ज्ञानमार्गी कबीर (जो कि संसार को मिथ्या मानकर चले हैं) तथा रामचन्द्र शुक्ल जैसे आदर्शवादी (प्यूरीटन) तुलसी को छोड़कर लगभग सब कवियों ने शृंगार की उसी पुरातन परिपाटी का अनुगमन किया। कृष्ण-भक्त कवियों में जिस प्रकार भक्ति का आधार ही शृंगार है, उसी प्रकार जायसी के पद्मावत में भी (काव्य के शैली-शिल्प की दृष्टि से) अलौकिक प्रेम (भक्ति) का आधार लौकिक शृंगार ही है। जायसी के पुनर्जन्मदाता शुक्ल जी ने यद्यपि लौकिक शृंगार को अलौकिक का साधन मात्र ही माना है, और कहा है कि जायसी का साध्य अलौकिक प्रेम (प्रेममार्गीय भक्ति) ही है, परन्तु अब (जैसा कि विद्यापति के विषय में है) इस विषय पर विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। यहाँ जायसी के काव्य के उद्देश्य और उसकी सफलता का विवेचन हमें नहीं करना है। हमें तो केवल यह देखना है कि जायसी ने उस शृंगार परम्परा का कितना प्रयोग किया, जो कि 'रासो', से लेकर उनके समय तक चली आयी थी। जायसी ने 'पद्मावत' के अन्त में रूपक को स्पष्ट करने का जो प्रयत्न किया है[1] उसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी को स्वयं सन्देह था कि कहीं उनके ग्रन्थ को शुद्ध शृंगार-रस का ग्रन्थ न समझा जाने लगा जाय। वास्तव में 'पद्मावत' में शृंगार (और उसके पूरक वीर) रस का इतना बाहुल्य है और उसके अंग-उपांगों का इतना विस्तृत चित्रण है कि यदि कवि के सूफी सन्त होने का परिचय न दिया जाय और अन्त में यदि वह व्याख्यात्मक टिप्पणी[1] न हो तो पद्मावत में भक्ति की भावना तथा रहस्यवादी संकेत केवल 'थिगली' (समासोक्ति) के रूप में ही प्रतीत होंगे, तथा 'पद्मावत' शुद्ध शृंगार की ही रचना मानी जायगी। **भक्ति की रचनाएँ तो उनकी 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम'** ही हैं। अस्तु, यहां हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि जायसी ने शृंगार का पूर्ण विकसित तथा विस्तृत चित्रण किया है।

ग्रन्थारम्भ में, मसनवी पद्धति के अनुसार शाहे-वक्त आदि का वर्णन करने के बाद जायसी ने पद्मावती के जन्म की कथा (पद्मावती की माता की गर्भावस्था के

---

१. **में एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम किछ और न बूझा॥**
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदिमिनी चीन्हा॥
× × ×
राघव चेतन सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥ आदि
जायसी ग्रन्थावली, सम्पादक, रामचन्द्र शुक्ल। तृतीय संस्करण—सं० २००३,
(पद्मावत—उपसंहार—१/ पृ० ३०१)

चित्रण के साथ) दी है और फिर नखशिख खण्ड में पद्मावती का विस्तृत शिख-नख वर्णन किया है[1]। यह नखशिख वर्णन उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से युक्त तथा शरीर के वाह्य चित्रण पर ही निर्भर है, हां बीच-बीच में उनका ससीम रूप-वर्णन असीम की ओर खींचा गया सा दिखायी देता है। तदुपरान्त जो हिन्डोरा वर्णन[2] तथा स्नान-वर्णन[3] किया गया है वह प्राचीन परिपाटी की सद्यस्नाता-नायिका-वर्णन के समान ही है। इतना अवश्य है कि जायसी के इस वर्णन में पद्मावती के वाह्य सौन्दर्य के अतिरिक्त उसके मन में अंकुरित होने वाली काम-भावना के भी संकेत हैं (जिसे अलौकिक प्रेम की दृष्टि से रूपक में घटाना कठिन है) जो कि नायिका के लौकिक व्यक्तित्व को परम आकर्षक तथा मधुर बना देती है। परिपाटीबद्ध श्रृंगार-चित्रण की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है पद्मावती और रत्नसेन के संयोग का वर्णन । आगे चलकर रीतिकालीन कवियों को भी ऐसी उपमाएँ कम ही सूझी थीं जैसी कि जायसी ने यहां दी हैं[4]। रति-क्रीड़ा की कार्य-विधि का परम सफल चित्रण जायसी ने किया है। रेखांकित भागों से वर्णन के जो संकेत निकलते हैं वे जायसी के मन की श्रृंगारी अनुभूति के परिचायक हैं। सूर आदि अष्टछाप के कवियों में भी केवल कटि से ऊपर तक की ही रति क्रीड़ा का विस्तृत चित्रण है, वास्तविक संभोग के सम्बन्ध में वे केवल नीबी तक ही पहुंचे थे ; जायसी की पहुँच-तथा वर्णन—उन लोगों से कहीं अधिक प्रभविष्णु तथा गहरी है। विरह-वर्णन में जायसी ने पूर्वराग[5] प्रवास[6] तथा करुण

---

१. वही, नख-शिख खण्ड-२

२. रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित, जायसी ग्रन्थावली, 'पदमावत' मानसरोदक खण्ड ३, पृ० २३

३. वही, मानसरोदक खण्ड—दोहा ४ से ६, पृ० २४

४. कहि सत भाव भई कंठ लागू। जनु कंचन औ मिला सोहागू ॥
चौरासी आसन पर जोगी। खटरस, बंधक चतुर सो भोगी ॥
कुसुम माल असि मालति पाई। जनु चंपा गहि डार ओनाई ॥
कली बेधि जनु भंवर भुलाना। हना राहु अरजुन के बाना ॥
कंचन करी जरी नग जोती। बरमा सौं बेधा जनु मोती ॥
नारंग जानि कीर नख दिये। अधर आमरस जानहुँ लिये ॥
कौतुक केलि करहि दुख नंसा। खूंदति कुरलहिं जनु रस हंसा ॥
रही बसाइ बासना चोवा चंदन भेद।
जेहि अस पद्मिनि रानी सो जानै यह भेद ॥
जायसी ग्रन्थावली—रा० च० शुक्ल सम्पादित, 'पद्मावत'-पद्मावती रत्नसेन भेंट खण्ड-३०)

५. 'पद्मावत'—जायसी ग्रन्थावली, रा० च० शुक्ल, पद्मावती—वियोग खण्ड पृ० ७३—७५।

६. वही, नागमती-वयोग-खण्ड, पृ० १५१-१५८।

तीनों का चित्रण किया है, मान का वर्णन नहीं है। पद्मावती का पूर्व-राग परिपाटी के अनुसार गुण-श्रवण पर आधारित है, रत्नसेन का भी इसी प्रकार का है। नागमती के विरह-वर्णन[1] में कवि ने बारहमासे का आश्रय लिया है जिसमें कि प्रकृति का (साम्य तथा विरोध के आधार पर) उद्दीपन के लिए ही प्रयोग है । प्रकृति-चित्रण में जायसी का षट्-ऋतु-वर्णन भी उद्दीपन को लेकर ही चला है। इसके अतिरिक्त जहां भी प्रकृति का समावेश है वह वस्तु-परिगणन की परिपाटी पर ही है। विरह के अन्तर्गत 'दूत' के रूप में तोता[2] है जो कि नागमती का सन्देश रत्नसेन तक ले जाता है। इसके अतिरिक्त पद्मावती की रूप-चर्चा[3] को लेकर स्त्री-भेद वर्णन[4] कराया गया है जो कि रीति-परिपाटी पर ही है। इसके साथ साथ जायसी में सवति की ईर्ष्या[5] का भी वर्णन है; यहां कवि रीतिकालीन कवियों से भी आगे हैं। दोनों सौतों में मार-पीट, 'दम्म-दच्च' का भी चित्रण कवि ने किया है। देवपाल ने जो दूती पद्मावती के पास भेजी है उसमें परकीया के संकेत मिलते हैं किन्तु परकीया-प्रेम का विस्तार कवि ने नहीं किया है।

इस प्रकार जायसी ने सांगोपांग श्रृंगारी परिपाटी का अनुगमन किया और पूर्व काल से चली आती श्रृंगार-वर्णन की धारा को प्रवाहित रखने में योग-दान किया, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। जायसी के अतिरिक्त उस काल में रहीम ने 'बरवै-नायिका-भेद'[6] लिखा और श्रृंगार-वर्णन की पद्धति के प्रति अपना अनुराग प्रकट किया। रहीम ने बरवे—नायिका-भेद के अतिरिक्त 'श्रृंगार सोरठ' तथा 'मदनाष्टक' की भी रचना की। यद्यपि उनके इन ग्रन्थों के केवल नमूने के छन्द ही

---

१. वही, नागमती-वियोग-खण्ड, पृ० १५१-१५८।

२. वही, नागमती-सन्देश खण्ड, पृ० १५६-१६४

३. वही, पद्मावती-रूप-चर्चा खण्ड, पृ० २०६-२१७

४. वही, स्त्री-भेद-वर्णन खण्ड, पृ० २०७-२०८

५. वही, नागमती-पद्मावती विवाद खण्ड, पृ० १६२-१६७

६. जस मद मातल हथिया, मकत जाति।
चितवत जाति तरुनियां मन मसुकाति ॥

× × ×

पिय आवत अंगनैया उठि के लीन।
साथे चतुर तिरियवा बैठक दीन ॥ (बरवै नायिका-भेद)

प्राप्य हैं[1] फिर भी उनसे इन ग्रन्थों के स्वरूप का पता हमें चल जाता है। वास्तव में श्रृंगार की परिपाटी को जीवित तथा पूर्णरूपेण विकसित अवस्था में रखने में इन भक्ति-काल के कवियों का बड़ा भारी योग रहा है। रहीम के समकालीन (लगभग सं० १६१०) कविवर गंग, रीतिकालीन कवियों के समान दरबारी कवि थे और उन्होंने हास्य नीति आदि की कविता के साथ-साथ श्रृंगार की परम्परा।बद्ध कविता भी की थी। यद्यपि गंग का कोई ग्रन्थ प्राप्य नहीं है फिर भी 'तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार' के अनुसार यह सिद्ध हो जाता है कि अपने काल में गंग धुरंधर कवियों में गिने जाते थे। वास्तव में गंग की कविता में आगे मिलने वाली सारी रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। छन्द शैली तथा भाषा आदि के देखने से यह अनुमान अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता।

इसके बाद हम हिन्दी-साहित्य के इतिहास में चली आने वाली एक गड़बड़ी की व्याख्या करेंगे। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में जो काल-विभाजन किया है, उसमें उन्होंने हिन्दी-साहित्य को समय के आधार पर विभाजित किया है। इस विभाजन की प्रक्रिया तथा विधि, की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि हिन्दी के प्राप्य ग्रन्थों को एकत्रित करके उन्हें उनके 'ढंग' के अनुसार 'काल खण्डों' में विभाजित कर दिया है। फिर ग्रन्थों की प्रसिद्धि के आधार पर उस काल-खण्ड की प्रवृत्ति का निश्चय[2] किया और उसे नाम-विशेष दे दिया। इस प्रकार वीरगाथा काल, भक्ति काल, रीतिकाल आदि नामों की उत्पत्ति हो गई। इसके बाद शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य का अध्ययन काल-खण्डों के आधार पर ही किया और आज सामान्य रूप से सर्वसाधारण में हिन्दी-साहित्य का अध्ययन शुक्ल जी के इस विभाजन के आधार पर ही किया जाता है। वैसे श्यामसुन्दरदास जी जैसे कुछ विद्वानों से हिन्दी-साहित्य का लेखा-जोखा प्रवृत्तियों के आधार पर भी किया

---

१. **दीपक दिये छिपाय, नवल बधू घर ले चली।**
कर बिहीन पछिताय, कुच लखि निज सीसे धुनै॥ (श्रृंगार सोरठ)

× × ×

कलित ललित माला, वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखन वाला चाँदनी में खड़ा था॥
कटि तट विच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला यार मेरा अकेला॥ (मदनाष्टक)

२. **हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण २००३, प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृ० २ और ३।**

किन्तु बहुमान्य पद्धति शुक्ल जी वाली ही रही। शुक्ल जी के इस विभाजन के अनुसार आचार्य केशवदास (सं० १६१२ से १६७४) भक्ति-काल में आते हैं और उनके काव्य का अध्ययन भक्तिकाल के अन्तर्गत ही किया जाना चाहिए। यद्यपि अधिकांश इतिहासों में केशव भक्तिकाल में ही दिखाए जाते हैं किन्तु जो लोग उनमें छिद्रान्वेषण करते हैं, वे उनके दोषों को गिनकर उन दोषों को रीतिकाल पर मढ़ देते हैं। यही नहीं एक बार उन्हें रीति परिपाटी का पालन करने वाला मान लेने पर उनके काव्य को तोड़-मरोड़ कर एक विशेष सांचे में ढालने का प्रयत्न किया जाता है और उनकी भक्ति-भावना को वेकार सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है[1]। इस प्रकार केशव को लेकर रीतिकाल की, तथा (रीतिकालीन भावना से भावित मान कर) रीतिकाल को लेकर-केशव की खींचातानी की जाती है। आजकल जो काल विभाजन हिन्दी-साहित्य में प्रचलित है उसके अनुसार केशव भक्तिकाल के ही हैं। केशव ने लक्षण-ग्रन्थ लिखे, केशव ने परम्परावद्ध शृंगार का अपनी कविता में विकास किया—इससे यही सिद्ध होता है कि यह शृंगार की रीति रीतिकाल के पूर्व से चली आ रही है। यह मानने के वजाय कि भक्तिकाल में भी रीति ग्रन्थ लिखे गये और शृंगार की कविता हुई, केशव को रीतिकाल में ठूँसना उचित नहीं है। भक्ति काल में इस परम्परा के मानने वाले केशव यदि अकेले होते तव तो किसी सीमा तक केशव को रीतिकाल में धकेलना उचित भी होता, परन्तु फिर हमें यह मानना पड़ता कि केशव रीतिकाल के आदि आचार्य हैं, प्रवर्तनकर्त्ता हैं। परन्तु केशव की चलायी परम्परा पर रीतिकाल का प्रचलन न तो शुक्ल जी ही मानते हैं[2] और न श्यामसुन्दरदास जी ही मानते हैं[3]। ऐसी दशा में केशव को भक्ति काल का ही कवि मानना चाहिए। वास्तव में रीतिकाल के बहुत पूर्व से यह शृंगार तथा रीति की परम्परा चली आ रही थी और केशव ने उसी परम्परा के अनुसार 'रसिक प्रिया' और 'कवि प्रिया' की रचना की थी। इन ग्रन्थों में से उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करना कि केशव में शृंगार का परम्परावद्ध वर्णन है, व्यर्थ है, क्योंकि यह तथ्य सर्वविदित है। केशव तथा रीतिकाल के विषय में हमें यहाँ केवल यह कहना है कि (क) न तो केशव के अतिरिक्त किसी विशेष आचार्य ने रीतिकाल की कविता का प्रचलन किया और (ख) न स्वयं केशव ने ही उसका प्रचलन किया। जिस प्रकार भक्तिकाल की भक्ति-भावना पराजित हिन्दुओं के क्षुब्ध चित्त की निराशा से उत्पन्न नहीं है[4] अपितु शताब्दियों से चली आती भक्ति-भावना का क्रमिक विकास तथा उत्थान मात्र है, उसी प्रकार

---

१. हिन्दी साहित्य, श्यामसुन्दरदास, चतुर्थ संस्करण, सं० २००३, पृ० २१४ से २२२।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रा० च० शुक्ल—२००३, पृ० २०८
३. हिन्दी साहित्य, श्यामसुन्दरदास—चतुर्थ संस्करण सं० २००३, पृ० २१०-१४
४. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (प्रथम संस्करण, पृ० २ और ३)

रीतिकाल की शृंगार-भावना और रीति-पद्धति भी केवल रीतिकाल में ही पायी जाने वाली तथा केवल उस काल के कवियों की वासना का फल नहीं है। वह तो सदियों से चली आ रही थी, हाँ उसका विकास रीतिकाल में विशेष रूप से हुआ। इस शृंगार-भावना ने अपने विकास के कारण अन्य भावनाओं (भक्ति आदि) को समाप्त नहीं कर दिया था, जिस प्रकार कि भक्तिकाल की भक्ति-भावना ने शृंगार की भावना को समाप्त न करके उसे भी विकास का अवसर प्रदान किया था।

इस प्रकार हम रीतिकाल के निकट आ जाते हैं। रीतिकाव्य में दो प्रवृत्तियाँ अभिन्न रूप से गुंथी हुई मिलती हैं, १—रीतिनिरूपण अथवा आचार्यत्व २—शृंगारिकता[1]। यह तो हमने देख ही लिया कि रीतिकाल के आरम्भ के बहुत पूर्व से शृंगार की धारा बहती चली आ रही है। रीतिकाल के समय भक्ति और रीति-भुक्त शृंगार की पृथक-पृथक धाराएँ ही नहीं प्रवाहित हो रही थीं अपितु भक्ति की धारा भी न्यूनाधिक रूप में रीतिबद्ध शृंगार से प्रभावित थी और भक्ति की कविता में भी शृंगार की रीतिबद्ध रचना होती थी, उसमें नख-शिख (वय-सन्धि आदि) षट्-ऋतु आदि का प्रचुर प्रयोग किया जाता था। 'रासो', विद्यापति के पद, 'पद्मावत', 'वेलि' तथा रहीम की कविता में तो शृंगार का रीतिबद्ध वर्णन है ही, सूर तथा उनके सम्प्रदाय के अन्य कवि तो रीतिबद्ध शृंगारी परम्परा के 'मास्टर' हैं। फिर यह कहना कि रीतिबद्ध-शृंगारी-परम्परा बाद को कहीं से आ[2] टपकी और उसके सब दोषों का (यदि उन्हें दोष मान भी लिया जाय तो) उत्तरदायित्व रीतिकालीन कवियों पर है—कहाँ तक युक्त-संगत है। रीतिकाव्य की शृंगारिकता के (वीरगाथा-काल तथा भक्ति-काल में) क्रमिक विकास का विवेचन हम कर चुके हैं, अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे रीति-निरूपण या लक्षण-ग्रन्थों को लेकर आचार्यत्व की मर्यादा की स्थापना की परिपाटी कितनी पुरानी है। जैसा कि हम पीछे देख आये हैं 'रासो' में चन्द ने विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के भेद तथा स्त्रियों के भेद देकर इस ओर थोड़ा सा प्रयास किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के समान

---

१. डा० नगेन्द्र—रीतिकाल की भूमिका देव और उनकी कविता,
(रीतिकाल की अन्तःप्रेरणा और स्वरूप, पृ० १४७)

२. वस्तुतः सत्रहवीं शती विक्रमीय के आरम्भ में एक ओर भक्ति की सरिता कई धाराओं में बह रही थी तो दूसरी ओर शृंगार की पृथक धारा भी भक्ति की कृष्णपरक भक्ति धारा के ठीक समानान्तर। भक्ति में भी शृंगार की रीतिबद्ध रचना होती थी। उसमें नखशिख, षड्ऋतु, बारहमासा आदि के वर्णन भरे पड़े हैं। यदि इतिहासकारों के ही अनुसार 'साहित्य लहरी' को सूरदास की रचना मानें तो उसमें नायिका-भेद और अलंकार के लक्षण-लक्ष्य, दृष्ट-कूट के चमत्कार के साथ उलझे पड़े हैं, फिर कैसे कहा जाय कि रीत का प्रवर्तन बाद में हुआ।
—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—शृंगारकाल की सीमा, पृ० २२
(हिमालय अंक ३, अप्रैल १९४६ ई०)

हिन्दी में कवि तथा आचार्य के कर्म का स्पष्ट विभाजन नहीं रहा है[1]। कवि ही आचार्य तथा आचार्य भी कवि, हुआ करते थे। वास्तव में आचार्य का कार्य समालोचक (भावक) का सा है, और कोई भी समालोचक कवि हो सकता है। यदि भक्तिकाल के कुछ प्रमुख कवियों ने विलग से लक्षण-ग्रन्थ नहीं लिखे तो उससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि दोनों कर्म पूर्णरूपेण पृथक रहकर ही पनप सकते हैं। वास्तव में भक्तिकाल में भी अनेक कवियों ने लक्षण ग्रन्थ लिखे थे। रीतिकालीन कवियों ने भी यदि इसी प्रकार से कवि और आचार्य दोनों के कामों का निर्वाह किया तो कौन सा अनर्थ हो गया! वैसे तो आजकल के कविता-संग्रहों के आरम्भ में पचासों पन्नों में कवि-जन अपना मत, अपनी मान्यताएँ, अपना जीवन-दर्शन, अपनी कला की परिभाषा आदि देते[2] हैं परन्तु वे ही 'आधुनिक कवि' प्राचीन कवियों के लक्षण-ग्रन्थों की कटु आलोचना करते हैं। वे भूल जाते हैं कि वे **लक्षण-ग्रन्थ वास्तव में हिन्दी की समालोचना परम्परा (यद्यपि उसका माध्यम पद्य था) के बीज हैं।** रीतिकाल के बहुत पूर्व से रीतिग्रन्थों की रचना की परम्परा चली आ रही थी। सं० १५९८ में कृपाराम ने जो 'हिततरंगिणी' लिखी उसमें उन्होंने संकेत किया है कि उनसे पूर्व भी अनेक रीति ग्रन्थ लिखे गए तथा इन लक्षण-ग्रन्थों के लिखने की परम्परा उनसे कहीं पहले की है।[3]

---

१. एक बात जो यहाँ विशेषरूप से देखने योग्य है, यह है, कि संस्कृत की भाँति हिन्दी काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में कवि और आचार्य की, दो श्रेणियाँ पृथक पृथक नहीं रहीं अर्थात् यहाँ (हिन्दी काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में) कवि ही आचार्य और आचार्य ही कवि होकर काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों की रचनाएँ करते रहे हैं। दोनों के भेद का यहाँ अभाव या लोप ही सा हो गया।

पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'—हिन्दी साहित्य का इतिहास

(लक्षण ग्रन्थ और कवि-ऐतिहासिक, पृ० ४०३)

२. आज का लगभग प्रत्येक कवि (अपने) काव्य के लक्षण प्रस्तुत करके आचार्यत्व का दावा करता है।

३. सं० १५९८ में कृपाराम ने 'हिततरंगिणी' लिखी थी जिसमें शृंगार रस का दोहों में विवेचन किया गया है अर्थात् लक्षण—लक्ष्य जुटाए गये हैं। उन्होंने सूचित किया है कि "और कर्ता बड़े छन्दों में रस-ग्रन्थ प्रस्तुत करते हैं, मैंने छोटे छन्द अर्थात दोहा, सौरठा, बरवे में इसका प्रणयन किया।" इससे एक ओर तो यह स्पष्ट पता चलता है कि रीति-ग्रन्थ प्रस्तुत करने का स्फुरण कुछ और पहले का है और दूसरी ओर यह सूचना मिलती है कि बीरता और भक्ति की लपेट से बहुत कुछ बचकर भी शृंगार अपने लिए मार्ग प्रशस्त कर रहा था।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र—शृंगारकाल की सीमा, पृ० १९

(हिमालय, अंक ३ अप्रैल १९४६ ई०)

हमारे अनेक प्राचीन ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं और उनके अस्तित्व के प्रमाण केवल अन्य ग्रन्थों में दिए गए हवाले मात्र हैं, इस कारण कृपाराम से पूर्व की लक्षण-ग्रन्थ-परम्परा के अस्तित्व में हमें कोई सन्देह नहीं रहना चाहिए। कृपाराम से लेकर रीतिकाल के आरम्भ तक (लगभग १७०० सं०) रीति-ग्रन्थों की परम्परा अखण्ड रूप में[1] चली आयी है इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि रीतिकाल में पायी जाने वाली १—शृंगारिकता तथा २—रीतिनिरूपण की (लक्षण-ग्रन्थों के माध्यम से) पद्धति वास्तव में बहुत प्राचीन है तथा उसकी धारा कभी सूखी नहीं थी, यही नहीं उस रीतिबद्ध शृंगार की धारा ने भक्तिकाल की भक्ति-भावना को भी पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया था[2]।

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि क्या रीतिकाल में केवल शृंगार की ही कविता हुई ? और यदि अन्य भावों की कविता की गयी तो उसका मूल्य तथा महत्व क्या है ? इसके बाद रीतिकाल के ऊपर लगाये जाने वाले अन्य आरोपों का उत्तर दिया जायगा।

रीतिकाल में अन्य भावों की कविता भी पर्याप्त मात्रा में की गयी थी, यह सिद्ध करने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम शृंगार की कविता को किसी प्रकार हीन

---

१. कृपाराम से लेकर संवत १७०० तक रीति-ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा रही है, इस सम्बन्ध में इतिहास मुखर है। देखिए :—

संवत् (रचनाकाल)	कवि	रचना
१५९८	कृपाराम	हिततरंगिणी
१६१६	गंग	स्फुट
१६१६	मोहनलाल	शृंगार-सागर
१६२०	मनोहर	स्फुट
१६२०	गंगाप्रसाद	कोई रीति ग्रन्थ बनाया जिसका नाम अज्ञात है।
१६३७	करनेस	करणाभरण, श्रुति-भषण, भूप-भूषण।
१६४०	बलभद्र मिश्र	नख-शिख
१६४०	रहीम	बरवै नायिका भेद
१६५०	केशवदास	कविप्रिया, रसिकप्रिया।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, शृंगार काल की सीमा, पृ० २१
(हिमालय अंक ३, अप्रैल १९४६ ई०)

२. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र 'शृंगार काल की सीमा' पृ० २२
(हिमालय, अंक ३, अप्रैल १९४६ ई०)

या कम महत्व की मानते हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि शृंगार रसराज इसीलिए है कि मानव उसके बिना रह नहीं सकता और रति की भावना जीवन का एक परम आवश्यक अंग है, अतएव काव्य में उसका बाहुल्य स्वाभाविक ही नहीं अपितु आवश्यक है। रतिभावना से सर्वथा हीन काव्य जीवन से कोसों दूर तथा अस्वाभाविक हो जाता है। इस कारण रीतिकाल में शृंगार की कविता का जो बाहुल्य पाया जाता है, उसे हम उस काल का गुण मानते हैं (**इसी कारण रीतिकाल के स्थान पर उसका नाम शृंगार-काल हम अधिक उचित मानते हैं**) तथा इसी कारण उस काल को काव्य के उत्कर्ष का युग मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि रति मानव-हृदय की वह वृत्ति है जो चिरकाल से उसके विभिन्न क्रियाकलापों का संचालन करती आयी है। हृदय में यदि किसी अच्छे अथवा किसी बुरे कार्य के लिए प्रेरणा उत्पन्न न हो, तो मनुष्य किसी कार्य के लिए प्रयत्नशील भी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से संसार में अधिकांश कार्यों की प्रेरक शक्ति यही रति की भावना ही है[1]। रति-भावना को मानव के अधिकांश कार्यों का प्रेरक मानते हुए भी हम फ्रायड के समान काम-प्रवृत्ति को संसार के प्रत्येक कार्य का प्रेरक (या कारण) नहीं मानते हैं। रति-भावना का मानव के भाव-संसार में अत्यधिक महत्व है, कृष्ण-भक्त कवियों ने तो **शान्त रस (भक्ति भावना)** को भी शृंगार का अनुयायी बना दिया था। इसलिए रीतिकाल में शृंगार का बाहुल्य केवल उचित ही नहीं था अपितु वह तो कविता के भाव-क्षेत्र का परम स्वाभाविक विकास था। संसार के साहित्यों में (मध्य युग में) कविता के विकास का क्रम कुछ इसी प्रकार का रहा है—वीर—भक्ति—शृंगार। मनुष्य की अनुभूतियाँ दो प्रकार की होती हैं जो १—सौन्दर्य-मूलक और २—कार्य-मूलक कहलाती हैं[2]। आज हम कार्यमूलक अनुभूति को अधिक महत्व प्रदान करते हैं, मध्यकाल के कवि सौन्दर्य-मूलक अनुभूति को अधिक महत्व देते थे, कुछ उसे ब्रह्म में (अलौकिक प्रेम) खोजते थे और कुछ उसे प्रिय में (लौकिक प्रेम) पा जाते थे। कुछ ऐसे भी थे जो इस लौकिक तथा अलौकिक के भेद को मिटाने का प्रयत्न भी करते थे। सौन्दर्य की अनुभूति से ही उत्पन्न है सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की भावना, और शृंगार-रस में इसकी जितनी सुविधा है उतनी अन्य रसों में नही ; और इस कारण शृंगारी कवि सौन्दर्योपजीवी कवि होते हैं, शृंगारी कवियों ने सुविधा की दृष्टि से शृंगार-वर्णन की एक विशेष परिपाटी बना ली है या कहिये उन्होंने शृंगार-भावना का विवेचन करके उसके विभिन्न अंगों का निरूपण किया है। रीतिकालीन कवियों ने अपने

---

१. **काम मंगल से मण्डित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम।**
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल, बनाते हो असफल भवधाम।
प्रसाद, कामायनी, 'श्रद्धा'

२. **श्री विनयमोहन शर्मा 'दृष्टिकोण' पृ० २४।**

शृंगार वर्णन में उसी परिपाटी का—या विवेचन का—अनुसरण किया था, इसलिए जब हम शृंगारेतर भावनाओं का विवेचन करेंगे तब शृंगार के अंगों के अतिरिक्त जो अन्य भावनाएँ हैं उन सब का दिग्दर्शन करने का प्रयत्न करेंगे।

"रीति-काव्य आध्यात्मिक तो है ही नहीं, परन्तु वस्तु रूप में भौतिक भी नहीं है, अर्थात् उसमें न आत्मा की अतुल जिज्ञासा है न प्रकृति की दृढ़ कठोरता। वह तो जसे जीवन का एक विराम-स्थल है, जहाँ सभी प्रकार की दौड़-धूप से श्रान्त होकर मानव नारी की मधुर अंचल-छाया में बैठकर अपने दुखों और पराभवों को भूल जाता है। उसका आधार-फलक इतना सीमित है कि जीवन की अनेक रूपता के लिए उसमें स्थान ही नहीं है, उस पर अंकित जीवन-चित्र भी स्वभावतः एकांगी ही है।"[१]

इस प्रकार की आलोचना से हिन्दी के सामान्य पाठकों पर यह प्रभाव पड़ता है कि रीतिकाल में केवल शृंगार की—वह भी घिनोंने शृंगार की[२] कविता होती थी तथा रीतिकालीन कविता का क्षेत्र परम सीमित था। हमारा दावा है कि रीतिकाल में विभिन्न भावों की भी पूर्ण विकसित अवस्था की कविता पायी जाती है, हाँ, शृंगार की कविता का बाहुल्य अवश्य है।

सर्वप्रथम जो ध्यान देने योग्य बात है वह यह है कि रीतिकाल के अनेक कवियों ने लक्षण ग्रन्थ लिखे थे और उनमें उदाहरण के रूप में अपनी विभिन्न रसों की कविताएँ दी थीं। विभिन्न रसों के असंख्यों उदाहरण इस प्रकार रीतिकालीन कवियों ने रचे थे। वे उदाहरण काव्य में उच्च स्थान रखते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। कुछ विद्वानों के अनुसार तो सम्पूर्ण संस्कृत- साहित्य में से भी यदि ऐसे स्वतन्त्र उदाहरण एकत्रित किये जायँ तो वे भी इस रीतिकालीन भण्डार के अनुरूप हो सकेंगे, इसमें सन्देह[३] है। रीतिकाल में जो शृंगारेतर कविता है, उसे न प्रकाशित किया जाय, और न पढ़ा जाय, और फिर यह कहा जाय कि रीतिकाल में केवल शृंगार की कविता है, यह बात 'जाट और बकरी के तीन पैर' वाली कहावत के ही समान है। कहा जाता है कि रीतिकाल के कवि के लिए आचार्य होना आवश्यक था (यद्यपि यह कथन उस काल के लगभग आधे कवियों के सम्बन्ध में असत्य है) जिसके लिए उन्हें लक्षण ग्रन्थ लिखने पड़ते थे और उनमें वे विभिन्न रसों और अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत करते थे। इसी के साथ-साथ यह भी कहा जाता है कि रीतिकालीन

---

१. रीतिकाल की भूमिका तथा देव, और उनकी कविता (डा० नगेन्द्र) सं० १९४९ (जीवन दर्शन : रुढ़िबद्ध एवं अवैयक्तिक दृष्टिकोण, पृ० १७९)

२. जगन्नाथप्रसाद मिश्र—विश्वमित्र, वर्ष ५, खण्ड ९, अंक १ अक्टूबर १९३६ ई०, पृ० ११०, १११/पन्त—'पल्लव' की भूमिका, पृ० ७, ९, १०।

३. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रवर्द्धित संस्करण, सं० २००३, रीतिकाल, सामान्य परिचय, पृ० २३६ (अंतिम दो पंक्तियाँ) तथा पृ० २३७ (ऊपर की पाँच पंक्तियाँ)

कविता का क्षेत्र संकुचित था। पारस्परिक विरोधी तर्कों का इससे उत्तम उदाहरण मिलना कठिन है। बात वास्तव में यह थी कि लक्षण-ग्रन्थ लिखकर कवि अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं करते थे अपितु वे लक्षण-ग्रन्थ उनके पूर्ण भावुक तथा रस सिद्ध होने के प्रमाण के रूप में हुआ करते थे, जो कि यह बताते थे कि कवि के भाव-क्षेत्र का पूर्ण विस्तार हो चुका है (रसों के विभिन्न उदाहरण उसके प्रमाण होते थे) और वह काव्य-शिक्षा में पारंगत है (अलंकार आदि के उदाहरण)। **उस काल में प्रत्येक लक्षण-ग्रन्थकार आचार्य नहीं कहा जाता था, यह तो आज हमने कहना आरम्भ कर दिया है।** केवल उस लक्षण-ग्रन्थकार को जो कि कुछ विशेष (अथवा नूतन) विवेचन करता था, आचार्य का नाम दिया जाता था। बिहारी तथा भूषण कवि नाम से ही प्रसिद्ध थे, आचार्य नाम से नहीं।

लक्षण-ग्रन्थ ही इस बात के सबसे प्रबल प्रमाण हैं कि रीतिकाल के कवि ने अपनी पटुता को प्रत्येक क्षेत्र में सिद्ध कर दिया था। अब हम उस काल की शृंगारेतर कविता का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

भक्ति भाव

सर्व प्रथम हम भक्ति भाव को लेते हैं। इतना तो विद्वानों ने माना ही है कि रीतिकाल का कोई भी शृंगारी कवि भक्ति-भावना से हीन नहीं है।[1] यह स्वयंसिद्ध है कि रीतिकाल के प्रत्येक कवि ने शान्त रस की और भक्ति-भावना की कविता की थी। शृंगार रस, वीर रस, शान्त रस (भक्ति) नीति तथा हास्य की कविताओं का विशेष प्रचलन था। रीतिकालीन कवियों की भक्ति की भावना को मानते हुए भी आलोचक-गण उनकी नीयत पर शक करते हैं[2] और कहते हैं कि वह भक्ति तो विलास-जर्जर कवियों के लिए वृद्धावस्था का एक आवश्यक उपकरण मात्र थी। वे भक्ति की कविता क्यों करते थे, इसका अनपेक्षित निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न, रीतिकालीन कवियों पर मिथ्या लांछन लगाने की एक विधि मात्र है। हम यह क्यों (और कैसे) मान लें कि जो भक्त हैं उनकी कविता में शृंगारी भावना हो ही नहीं सकती (जब कि भक्तिकाल के कृष्ण-भक्त और जायसी इसके उदाहरण हैं) और जो शृंगार की कविता करते हैं उनमें (वृद्धावस्था में ही सही) भक्ति की भावना नहीं हो सकती, **अथवा नहीं होनी चाहिये**। वास्तव में रीतिकालीन कवियों ने जीवन के उपभोग पक्ष और वैराग्य-पक्ष दोनों का (भारतीय आश्रम-धर्म के अनुसार) पूर्ण सामन्जस्य अपनी कविता में उपस्थित किया है। समय पर स्वस्थ-उपभोग वृत्ति का विकास (शृंगारी कविता जिसकी अभिव्यक्ति है) तथा जीवनान्त के उचित समय पर वैराग्य तथा भक्ति

---

१. डा० नगेन्द्र, 'रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता,' १९४९, रीतिकालीन धार्मिकता और भक्ति का स्वरूप, पृ० १८०)

२. वही ,, ,, ,,

की भावना का विकास उनकी पुरातन मान्यताओं के अनुरूप ही है। एक ओर तो कहा जाता है कि रीतिकालीन कवियों में केवल शृंगार है और भक्ति की कविता दिखाने पर, दूसरी ओर कहा जाता है कि वह सच्ची भक्ति नहीं है, तो फिर वह शृंगार ही सच्चा है इसका क्या प्रमाण, और आलोचक जो कहते हैं उसकी सचाई का ही क्या प्रमाण है।

रीतिकालीन कवि सेनापति ने जितनी सुन्दर कविता शृंगार की की है उतनी ही सुन्दर उनकी राम-भक्ति की कविता भी है, उनके 'कवित-रत्नाकर' में पूरी एक तरंग 'राम रसायन' की है। ये जीवनान्त काल में सन्यासी हो गए थे[1] और इनकी भक्ति की कविता पूर्ण भावावेश से युक्त है इसमें कोई सन्देह नहीं है। वास्तव में रीतिकाल के कवियों का एक वर्ग ज्ञान का उपदेश देता था तथा ब्रह्म-ज्ञान और वैराग्य की कविता के लिए प्रसिद्ध था[2]। वैसे तो रीतिकाल का प्रत्येक कवि भक्ति की भावना से प्रभावित था किन्तु इन भक्तों का स्थान रीतिकाल में अपना विशेष है। गुरू गोविन्द सिंह[3] सिक्खों के महा पराक्रमी गुरू थे, उन्होंने 'सुनीति-प्रकाश,' 'सर्वलोह प्रकाश,' 'बुद्धि सागर,' 'चण्डी चरित्र'[4] आदि भक्ति तथा वैराग्य के ग्रन्थ रचे थे। भक्तवर नागरीदास[5] का स्थान भक्त-कवियों में विशेष रूप से उच्च है। भक्त-कवियों में ये, बहुत ही प्रचुर कृति छोड़ गए हैं[6]। इनके लिखे लगभग ७३ ग्रन्थ पाये जाते हैं जो कि कृष्णगढ़ में सुरक्षित हैं। बल्लभ-सम्प्रदाय के भक्तों में इनका नाम बहुत ऊँचा है।

सं० १८७० में रीवां की गद्दी पर बैठने वाले महाराज विश्वनाथ सिंह जैसे भक्त थे वैसे ही विद्या-व्यसनी और विद्वानों के आश्रयदाता भी थे। इनके वैराग्य तथा भक्ति विषयक लगभग ३३ ग्रन्थ पाये जाते हैं जिनकी भाषा स्पष्ट तथा परिमार्जित है। यद्यपि ये राम-भक्ति परम्परा के थे किन्तु निर्गुण मत का भी प्रचुर प्रभाव इन पर पड़ा था, वैसे इनकी अधिकांश रचना रामचरित सम्बन्धिनी है।[7]

अयोध्या के बैरागी जनककिशोरीशरण ने भी भक्ति, ज्ञान तथा रामचरित

---

१. श्यामसुन्दरदास, हिन्दी साहित्य, नवां अध्याय (कृष्ण-भक्ति शाखा) पृ० २०१।
२. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, रीतिकाल के अन्य कवि, पृ० २३४।
३. वही, पृ० ३३१
४. वही, पृ० ३३२
५. वही, पृ० ३४६
६. वही. पृ० ३४८
७. वही, पृ० ३४४

सम्बन्धिनी बहुत सी कविता की थी[१], इनके लगभग १०-१५ ग्रन्थ पाये जाते हैं जिनमें भाव पूर्ण भक्ति की कविता संगृहीत है।

पुष्कर क्षेत्र के निवासी 'चचा' हितवृन्दावनदास अपने काल के परम प्रसिद्ध वैष्णव भक्त हो गये हैं।[२] रदास के समान इनके विषय में भी प्रसिद्ध है कि इन्होंने सवा लाख पद लिखे थे, उनमें से २०००० तो पाये भी जाते हैं।[३] **कृष्ण-भक्ति परम्परा के ये भक्त कवि सूरदास की टक्कर के माने जाते हैं और रीतिकालीन भक्त कवियों के शिरोमणि हैं। इतने अधिक परिमाण में होने पर भी इनकी कविता शिथिल या भरती की नहीं है।**[४] इससे इनके काव्य-कौशल तथा भक्ति की अनुभूति की सचाई का पता चलता है। भाषा पर इनका पूरा अधिकार था।[५] चचा हित वृन्दावनदास का अपने समय में बहुत आदर था, इसका प्रमाण इनके नाम के आगे लगा 'चचा' शब्द है। ये तत्कालीन गोसाई के पिता के गुरुभ्राता होने के कारण 'चचा' कहलाते थे।[६] ये अकेले इस बात को सिद्ध करने के पर्याप्त प्रमाण हैं कि रीतिकाल में भक्ति की परिपुष्ट तथा विकसित भावना पायी जाती थी। इनके अतिरिक्त भगवत रसिक भी[७] 'टट्टी-सम्प्रदाय' के प्रसिद्ध भक्त कवि हो गये हैं। इनमें एक ओर वैराग्य का तथा दूसरी ओर परम-प्रेम का भाव झलकता है। ये कृष्ण-प्रेम में लीन एक प्रेम-योगी थे।[८] श्री हठी जी तथा गुमान मिश्र भी भक्त कवियों में श्रेष्ठ थे। गुमान जी उत्तम श्रेणी के कवि थे।[९] उसी समय ब्रजवासीदास ने तुलसी के अनुकरण पर 'ब्रजविलास' नामक प्रबन्ध-काव्य लिखा था[१०]।

गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव इन तीन कवियों ने हिन्दी-साहित्य में बड़ा भारी काम किया था, इन्होंने समस्त महाभारत तथा हरिबंश का अनुवाद अत्यन्त मनोहर तथा विविध छन्दों में किया था। **कथा प्रबन्ध का इतना बड़ा ग्रन्थ (लगभग २००० पृ०) हिन्दी में आज तक नहीं[११] बना।** ग्रन्थ बनने में लगभग ५० वर्ष लग

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, रीतिकाल के अन्य कवि, पृ० ३४५।
२. वही, पृ० ३५४
३. वही, पृ० ३५५
४. वही, पृ० ३५६
५. वही, पृ० ३५६
६. वही, पृ० ३५५
७. वही, पृ० ३५७
८. वही पृ० ३५८
९. वही, पृ० ३६०
१०. वही, पृ० ३६६
११. वही, पृ० ३६८

गये थे। यही बात इन कवियों की भावना तथा लगन की साक्षी है। महाभारत के अतिरिक्त इन्होंने अन्य भक्ति विषयक ग्रन्थ भी लिखे थे जो कि उस काल में परम प्रसिद्ध थे।[१]

मथुरा के चौबे मधुसूदन दास ने 'रामाश्वमेध' नाम का एक भक्ति-भाव पूर्ण वृहद् ग्रन्थ लिखा था जो कि गोस्वामी जी के रामचरितमानस का परिशिष्ठ होने योग्य है[२]। ऐसे ही ग्रन्थों के आधार पर हमने यह कहने का साहस किया है कि रीतिकाल में भक्ति की कविता पूर्ण विकसित अवस्था में पायी जाती थी।

झांसी निवासी कवि और चित्रकार नवलसिंह कायस्थ का झुकाव भक्ति और ज्ञान की ओर था। इनके लिखे लगभग २०–२५ ग्रन्थ पाए जाते हैं।[३] इनकी रचना पुष्ट है, और इन्होंने गद्य भी लिखा है।

प्रसिद्ध अन्योक्तिकार बाबा दीनदयाल गिरि अपने काल के परम प्रसिद्ध भक्त कवि थे। इनका रचा हुआ 'वैराग्य दिनेश' अपने काल का ज्ञान तथा भक्ति का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।[४]

देव के लिखे लगभग ७२ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं और उनमें अनेक भक्ति-ज्ञान-वैराग्य विषयक हैं, यह सर्व विदित है।

मिश्र-बन्धु-विनोद (चतुर्थ भाग) में रीतिकाल के भक्त कवियों का वर्णन है, उनमें से कुछ ये हैं :—

१—कृष्णदास, कविता काल सं० १७००, महाराष्ट्र प्रदेश के प्रसिद्ध कवि जयराम शास्त्री के ये गुरू थे। इन्होंने भक्ति की कविता की।[५]

---

१. "ग्रन्थों की सूची से यह स्पष्ट है कि ये कितने निपुण कवि थे। रीति और प्रबन्ध दोनों ओर इन्होंने प्रचुर रचना की है। इतने अधिक परिमाण में, और इतने प्रकार की रचना वही कर सकता है जो पूर्ण साहित्य-मर्मज्ञ, काव्य-कला में सिद्ध-हस्त और भाषा का पूर्ण अधिकार रखने वाला हो। साहित्य क्षेत्र में वे बहुत ही ऊंचे पद के अधिकारी हैं" (रा० च० शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० ३६६)

२. वही, पृ० ३७४

३. रामचन्द्र शुक्ल का हिंदी साहित्य का इतिहास, रीतिकाल के अन्य कवि (४०), पृ० ३८७

४. वही पृ० ३६४

५. जसुमति सुत नन्दलाल, ब्रज की गैल डोलै।
पीताम्बर कछनि काछि, गौअन के संग जात,
फैर मुरलि, मुकुट सीस, बन न बिच डोले।······आदि
मिश्रबन्धु विनोद (चतुर्थ भाग) प्रथमावृत्ति, पृ० ३३।

२—रूप सिंह (महाराजा), ये बल्लभाचार्य के शिष्य श्री गोपीनाथजी के शिष्य थे ।[1]

३—मानसिंह, (महाराष्ट्र देश) ये नाथ-पंथी थे । (इनकी कविता का उदाहरण भी दिया हुआ है जिससे लगता है कि ये सामान्य कोटि के कवि थे ।)[2]

४—भैरव अवधूत, उपनाम ज्ञान सागर (महाराष्ट्र प्रान्त) नागा जी के समकालीन कवि थे । वेदान्ती तथा ब्रह्मनिष्ठ थे, जीवनान्त में सन्यासी हो गए थे । कविता का उदाहरण भी दिया गया है ।[3]

५—रंगनाथ स्वामी निगड़ीकर, आप रामदास स्वामी के पंचायतन में थे और उच्च कोटि के कवि तथा राजयोगी साधु थे ।[4]

६—मध्व मुनीश्वर, शिवाजी के सेनापति कान्होजी के गुरु थे । उच्चकोटि के भक्त कवि थे ।[5]

७—राजेन्द्र मुनि तथा

८—उद्धव चिद्घन[6] ।

९—महाराज राज सिंह, (सुकवि वृन्द के शिष्य थे) इनके लिखे पाँच-छः ग्रन्थ पाये जाते हैं[7] ।

१०—स्वामी मुक्तानन्द (काठियावाड़) शान्त-रस के प्रसिद्ध कवि कहे जाते हैं । इनके रचे हुए भक्ति-रस के आठ ग्रन्थ पाये जाते हैं[8] ।

११—रांमदयाल तिवारी—इनकी कविता का निम्न लिखित उदाहरण दिया गया है ।

---

१. बनतै बानक बनि ब्रज आवत
 बेनु बजाय रिझाय जुवति जन, गौरी रागहिं गावत ।। आदि
 (वही, पृ० ३५)

२. मिश्रबन्धु विनोद, चतुर्थभाग, प्रथमावृति, पृ० ३९ ।

३. वही, पृ० ४५ ।

४. देखा नाथ गुपाला जग मों, देखा नाथ गोपाला ।
 घट पर घट मों आप रमे हैं, आपु गुरू औ चेला ।
 जोग जुगुत मों खेले नित ही, झूठें घर मों झूले ।
 छह अठरा का कै विचार वर पंडित होकर डूले ।। (वही, पृ० ४६)

५. वही, पृ० ५० ।

६. वही, पृ० ५१ ।

७. वही, पृ० ५२ ।

८. मन मतंग वश करन, हरन मद-मोह उजागर । सरणागत सुख खान विरद सद्गुण के सागर ।।
 अगहन बदि एकादशी, ग्रन्थ संपूरन सार ।। ग्रन्थ का रचना काल १८८२ आदि दिया है । (वही, पृ० ८१)

भजु राम नाम राम नाम रामा।

× × ×

राम नाम विमल नीर संगम सत्संग तीर।
मज्जत निर्मल शरीर, पावत निज धामा॥
राम नाम कमल फूल सन्तन मन भ्रमर भूल।
पीवत रस भूमि भूमि अमृत अनुपामा॥ आदि[१]

इन कवियों के अतिरिक्त अन्य अनेक भक्त-कवि रीतिकाल में पाये जाते हैं।

१—बाबा मलूकदास का शरीरान्त १०८ की आयु में सं० १७३९ में हुआ था अतएव इनके कविता-काल के ३९ वर्ष रीतिकाल में आते हैं। ये विट्ठलदास के शिष्य थे तथा अपने समय के परम प्रसिद्ध भक्त-कवि थे। इनके नाम की गद्दियाँ आज तक कड़ा (इलाहाबाद), जयपुर, पटना, नेपाल आदि स्थानों में चली आती हैं। इनकी कविता, ज्ञान तथा उत्कृष्ट भक्ति-भावना से भरी हुई है।

दीन दयाल सुनी जबतें तबतें हिय में कछु ऐसी बसी है।
तेरौ कहाय कें जाऊँ कहाँ तेरे हित की पट खेंचि कसी है॥
तेरोई एक भरोसो मलूक कों तेरे समानन दूजौ जसी है।
एहो मुरारि पुकारि कहाँ अब, मेरी हँसी नहीं तेरी हँसी है॥

× × × ×

माला जपों न कर जपों जिभ्या कहो न राम।
सुमिरन मेरा हरि करें, मैं पायो विसराम॥ आदि[२]

२—गोपालचन्द्र मिश्र[३]—इन्होंने 'भक्ति चिन्तामणि' तथा 'सुदामा चरित्र' की रचना की थी। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी।

३—चरनदास (सं० १७६० से १८३९)[४], ये रीतिकाल के प्रसिद्ध सन्तों में से हैं। इन्होंने १९ वर्ष की अवस्था में वैराग्य ले लिया था। अपने समय में इनके ५२ शिष्य थे तथा आज तक इनकी ५२ गद्दियाँ चली आती हैं। इनकी दो चेलियाँ भी थीं—सहजोबाई तथा दयाबाई। 'ज्ञान सरोवर' तथा 'चरनदास की बानी' नाम से दो ग्रन्थ पाये जाते हैं। योग-मार्ग, ज्ञान तथा भक्ति-भावना से भरे ये ग्रन्थ परम प्रसिद्ध थे और भक्तों के परम प्रिय थे। इन्होंने नीति के दोहे भी कहे थे।

---

१. मिश्र बन्धु विनोद, चौथा भाग, पृ० ८२।
२. कविता कौमुदी, (रामनरेश त्रिपाठी), पहला भाग, छठा संस्करण, सं० १९९०, पृ० ३२३-३२४।
३. वही, पृ० ३७९।
४. कविता कौमुदी, पहला भाग, छठा संस्करण, सम्पादक-रामनरेश त्रिपाठी पृ० ४४३।

४—पूर्व वर्णित सन्त चरनदास की दो शिष्याएँ दयाबाई तथा सहजोबाई भी प्रसिद्ध भक्त कवियों में गिनी जाती थीं। इनके काव्य में अटूट गुरु-भक्ति तथा ज्ञान की भावना पायी जाती है[1]।

स्पष्ट है कि रीतिकाल में ज्ञान-मार्गी (तथा योग से प्रभावित) राम-भक्त तथा कृष्ण-भक्त अनेक प्रकार के कवि थे और उनका स्थान काव्य के क्षेत्र में बहुत ऊंचा था। पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रशंसा करने में सतर्क विद्वान् ने भी इस काल के अनेक भक्त कवियों की भूरि भूरि प्रशंसा की है। यदि इस काल के सब ग्रन्थों का अच्छा सम्पादन तथा प्रकाशन किया जाय तो **संभावना है कि संख्या में भक्तिकाल से भी अधिक और महत्व में लगभग भक्तिकाल की कविता के ही समान भक्ति की और भी कविता प्रकाश में आ जाय।**

नीति की कविता

आज के युग में अनेक कवि 'वादों' (तथा 'विवादों') को लेकर कविता करते हैं, बहुत से कवि तो आज केवल किसी वाद विशेष—चाहे वह राजनैतिक 'वाद' हो अथवा अन्य **किसी भी प्रकार** का 'वाद' हो—के प्रचार के लिए ही कविता करते हैं; यही नहीं, यदि उस वाद का प्रचार वे न करें तो वे कवि ही न रहें, क्योंकि तब उनकी कविता जो कि उस विशेष वाद-प्रचारक-पत्रों में छपती है, कभी भी प्रकाशन की सुविधा न प्राप्त कर सकेंगी। आधुनिक काल में इन दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक सामाजिक, राजनैतिक अथवा साहित्यिक वादों की कविता की भरमार है; और यह तब है जब कि आज के विचारक को अपने चिन्तन को अभिव्यक्त करने के लिए सुविकसित गद्य के माध्यम की सुविधा प्राप्त है, तथा आज के सामान्य-जन को समाचार-पत्रों तथा सुलभता से प्राप्य और लम्बी अवधि तक टिकाऊ पुस्तकों की सुविधा है। रीतिकाल में इस प्रकार के सर्वमान्य तथा सुविकसित गद्य की सुविधा उस काल के विचारकों तथा कवियों को नहीं थी तथा उस काल के जन-साधारण के पास कण्ठस्थ कर लेने के अतिरिक्त ज्ञान-कोष वर्द्धन का अन्य उपाय भी नहीं था। उस काल में सामान्य उपदेशों तथा नीति के वचनों की बड़ी आवश्यकता थी—तथा उस काल के कवियों ने इसी आवश्यकता की पूर्ति के हेतु नीति की कविता की थी। भक्ति काल में तुलसी ने रामचरितमानस में 'शिवेतर-क्षतये' तथा व्यवहारविदे, के उद्देश्य से ही तो लिखा था :—

सिमिटि सिमिटि छल भरहिं तलावा। ज्यों सद्गुन सज्जन पहं आवा॥
बूंद अघात सहें गिरि कैसे। खल के बचन सन्त जन जैसे॥

× × ×

जे न मित्र दुख होंइ दुखारी। तिनहिं विलोकत पातक भारी॥

---

१. वही, पृ० ४६७ तथा ४६९।

निज दुख गिरि सम रज करि जाना । मित्र के दुख रज मेरु समाना ।।
जिन कर असि मति सहज न आई । ते सठ कत हठि करत मिताई ।।

× × ×

तात वर्ग अपवर्ग सुख, धरअ तुला इक अंग ।
तुलहिं न ताहि सकल निधि जो सुख लव सत्संग ।।

× × ×

बन्दहुं सन्त असज्जन चरना । दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ।।
मिलत एक दारुन दुख देहीं । बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं ।।

वास्तव में नीति की कविता, सुव्यवहार की स्थापना, अमंगल का क्षय करने के लिए तथा लोगों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए होती थी और आज भी उसका वही महत्व बना हुआ है। यहाँ तक कि रीतिकालीन नीति-कविता आज तक लोग याद करते हैं तथा उससे लाभ उठाते हैं। डा० रसाल के शब्दों में :—

"मुसलमान राजाओं की ओर से न्यायालय बहुत ही कम थे और जो थे भी उनमें मुसलमानी नीति-विधान ही प्रधान था, जो हिन्दुओं के लिए उपयुक्त न ठहरता था इसलिए इस समय नीति-ग्रन्थों की भी आवश्यकता हुई। बहुत से कवियों ने नीति-काव्य की रचना की । चूँकि जनता का राजनीति से सम्बन्ध न था अतएव इसे छोड़कर केवल लौकिक या व्यावहारिक (सामाजिक) नीति को ही कवियों ने प्रधानता दी । कुछ कवियों ने कृषि आदि से सम्बन्ध रखने वाले अपने अनुभवों को भी लेकर, घाघ के समान, रचना की है[1]"। नीति कविता की लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि आज भी उस काल की नीति की कविताएँ प्रसिद्ध हैं तथा उस काल के अधिकांश कवियों ने नीति की कविता की थी। नीति-काव्य स्वभाव से ही उपदेशात्मक होता है और सुन्दर उपदेश सर्वदा मनोविज्ञान और सूक्ष्म निरीक्षण पर निर्भर रहता है । समूह मनोविज्ञान (मोव साइकोलोजी) का आज बड़ा नाम है । उस काल के नीतिकार—इस समूह-मनोविज्ञान तथा सामान्य मनोविज्ञान के बड़े कुशल पंडित हुआ करते थे तथा उनका जीवन और जगत का निरीक्षण बड़ा गहरा तथा सूक्ष्म हुआ करता था। भक्ति के उपदेशों और सामान्य उपदेशों में थोड़ा-सा ही भेद हैं; दृष्टिकोण को थोड़ा-सा विस्तृत कर देने पर कबीर की अधिकांश साखियाँ नीति-उपदेश मात्र रह जाती हैं । अस्तु नीति की कविता की, उस काल में, बड़ी आवश्यकता थी और उस काल के कवियों ने नीति की कविता करके समय की माँग को पूरा किया था । ऐसी दशा में इन नीतिकारों को कवि न कहकर सूक्तिकार कहना[2] उनके प्रति अन्याय करना है। यदि इन्हें कवि नहीं मानना है तो फिर इन्हें

---

१. 'साहित्य प्रकाश'—नीति काव्य और अन्य सुकवि, पृ० १५० ।
२. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रवर्धित संस्करण, रीति के अन्य कवि, पृ० ३२४, ३२५

साहित्य के इतिहास में स्थान ही क्यों दिया जाता है और यदि स्थान दिया जाता है तो सूक्तिकारों का यह नूतन वर्गीकरण क्यों ? वास्तव में ये नीति के कवि पूर्ण अनुभूति तथा सूक्ष्म निरीक्षण से कविता करते थे—और बहुत से कवियों ने तो (जैसे घाघ तथा वेनी बन्दीजन) वर्णन की पद्धति को थोड़ा-सा तिरछा करके जो वर्णन किया है वह चुटीले व्यंगों तथा सुन्दर हास्य से युक्त है। जैसे घाघ की परम प्रसिद्ध दो उक्तियां लीजिए :—१—खाइ के परि रहे। मारि के टरि रहे। २—गया पेड़ जहँ बगुला बैठा, गया गेह जहँ मुड़िया पैठा[1]। इस प्रकार की उक्तियों में विशेष चमत्कार है, जिसे उस काल के लोग स्नेह—दृष्टि से देखते थे—तथा नीतिकारों की कविता इसी लोक-प्रियता के कारण आज जीवित है, जब कि भक्ति के अनेक ग्रन्थ कालान्तर में लुप्त हो गए।

अब हम उस काल के कुछ नीति-कवियों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे :—

१—गिरधर कविराज, इनकी नीति की कुण्डलियाँ ग्राम ग्राम में प्रसिद्ध हैं। इनकी सर्वप्रियता का कारण है सीधी सादी भाषा में तथ्य का कथन। इनमें अलंकारों आदि की सजावट अधिक नहीं है। घर-गृहस्थी तथा साधारण लोक-व्यवहार का इन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में कथन किया है[2]। 'साईं या संसार में मतलब का व्यवहार' तथा 'बीती ताहि विसारि दे, आगे की सुधि लेहि' आदि अनेक परम लोकप्रिय नीति की कुंडलियों के अतिरिक्त इनकी कुछ अन्य अत्यधिक सरस उक्तियाँ भी प्रसिद्ध है :—

सोना लादन पिय गये, सूना करि गये देस।
सोना मिला न पिय मिले, रूपा ह्वै गये केस॥
रूपा ह्वै गये केस, रोय रंग रूप गंवाया।
सेजन को विसराम, पिया बिनु कबहुं न पाया॥
कह गिरधर कविराय लोन बिनु सबै अलौना।
बहुरि पिया घर आउ, कहा करि हो लै सोना॥

२—'अन्योक्ति कल्पद्रुम' के रचने वाले बाबा दीनदयाल 'गिरि' की सी अन्योक्तियाँ हिन्दी-साहित्य में किसी की नहीं हैं। इनकी सी स्वच्छ तथा परिष्कृत भाषा बहुत थोड़े से कवियों में ही मिलती है। इनका 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' हिन्दी साहित्य में एक अनमोल वस्तु है। लौकिक विषयों पर तो इन्होंने अन्योक्तियाँ कही ही हैं अध्यात्म पक्ष में भी इनकी रहस्मय उक्तियाँ हैं। "कोमल, व्यंजक पद-विन्यास पर तो इनका अधिकार था ही, शब्द-चमत्कार विधान पर भी इनका पूरा अधिकार था।

---

१. घाघ और भड्डरी—सम्पादक—रामनरेश त्रिपाठी।

२. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रवर्धित संस्करण पृ० ३५६ ३५७।

ये एक बहुरंगी कवि थे, रचना की विविध प्रणालियों पर उनका पूरा अधिकार था[१]।" इनकी नीति-सार पूर्ण अनेक अन्योक्तियाँ परम लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध थीं—और हैं।

३—गोपालचन्द्र मिश्र—इनकी लिखी पाँच-छः पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। इन्होंने चारों दिशाओं के सुख दुख का बड़ा रोचक वर्णन किया है, जिसमें कि प्रत्येक दिशा के सुख तथा दुख का वर्णन है[२]। वैसे इनकी नीति की कविता भी सुन्दर ।

४—वृन्द—इनकी 'शृंगार शिक्षा,' तथा 'वृंद सतसई' नाम की दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। ये नीति की कविता करने वाले थे और इनकी कविता में स्थान-स्थान पर अच्छी, घटती हुई और सुन्दर उपमाओं का विधान है[३]। इनकी नीति की उक्तियाँ अति प्रसिद्ध हैं जैसे:—

नीकी पै फीक लगै बिन अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में रस सिंगार न सुहात॥
फीकी पै नीकी लगै कहिये समय विचारि।
सबको मन हर्षित करै, ज्यों विवाह में गारि॥
(वृन्द दृष्टान्त सतसई)[४]

५—विक्रमशाह के दरबार में रहने वाले कवि बैताल की नीति-विषयक कविता भी परम प्रसिद्ध है। इनका रचा कोई ग्रन्थ यद्यपि नहीं मिलता, फिर भी इनके अनेक स्फुट छन्द आज तक प्रसिद्ध हैं:—

मरै बैल गरियार, मरै वह अड़ियल टट्टू।
मरै करकसा नारि मरै वह खसम निखट्टू॥
बांभन सो मरि जाय हाथ लै मदिरा प्यावै।
पूत वही मरि जाय जो कुल में दाग लगावै॥
अरु बेनियाउ राजा मरै, तबै नींद भरि सोइये।
बैताल कहै विक्रम सुनो एते मरै न रोइए[५]॥

---

१. वही, पृ० ३९३, ३९४
यह तेलिया पखान बड़ी कठिनाई जाकी, टूटी याके सीस बीस बहु बांकी टाँकी।
बरनैं दीनदयाल चन्द तुम ही चित चेतौ, कूर न कोमल होंहि कला जो कीजै केतौ॥

२. लोग दयावान तिय सुन्दर सुजान मीठी बोलनि निदान नीर लगै न तहाँ कहूँ।
पारि नहीं लहूँ जिय सोचत ही रहूँ प्यारी पच्छिम दिशा के सुख बरनि कहा कहूँ॥
आदि
(कविता कौमुदी, पहला भाग, छठाँ संस्करण पृ० ३८२)

३. रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रवर्धित संस्करण, पृ० ३५७
(ऊपर से तीसरी पंक्ति)

४. कविता कौमुदी, पृ०४१४।

५. वही पृ० ४२०, ४२१।

६—घाघ, ये कन्नौज के निवासी थे। इनका अधिक वृत्त नहीं मिलता किन्तु इनकी कहावतें तथा नीति विषयक कविता जितनी प्रसिद्ध है, सम्भवतः उतनी प्रसिद्ध अन्य किसी की भी उक्तियाँ नहीं हैं। गावों में, किसानों में इनकी कृषि-विषयक कहावतें तथा ज्योतिष की कहावतें—परम प्रसिद्ध हैं। किसानों के खेती बारी के अनेक कार्य इनकी कहावतों के आधार पर ही होते हैं। ये बड़े अनुभवी तथा प्रतिभावान थे। कहीं-कहीं तो इनकी कविता में सामाजिक व्यंग तथा तीखे हास्य का पुट पाया जाता है[1]। इतने प्रसिद्ध होने पर भी घाघ का जीवन-वृत्त रहस्य के गर्भ में लिपटा हुआ है यहां तक कि कुछ लोग तो घाघ नाम का कोई व्यक्ति ही नहीं मानते और कहते हैं कि अनेक व्यक्तियों की संकलित रचनाएँ इस नाम से प्रसिद्ध हैं, किन्तु सब रचनाओं की शैली तथा पहुंच एक-सी होने के कारण यह बात युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती।

७—बाबा चरनदास की अनेक नीति-विषयक उक्तियाँ तथा कहावतें पायी जाती हैं।[2] वैसे वे भक्त कवि हैं।

८—'यह प्रेम को पन्थ कराल महा तलवार की धार में धावनो है' के कहने वाले कवि बोधा ने भी नीति-विषयक कविता की थी :—

---

१. वनियक सखरच ठकुरक हीन, बयद क पूत व्याधि नहिं चीन्ह।
पण्डित चुप चुप बेसबा मइल, कहें घाघ पाँचों घर गइल॥

× × ×

गया पेड़ जब बगुला बैठा, गया गेह जब मुड़िया पैठा।

× × ×

आलस नींद किसानै नासै, चोरै नासै खाँसी।
अखियां लीचर बेसवै नासै, बाबै नासै दासी॥

× × ×

पुरबा में जो पछुवां बहै। हँसि के नारि पुरुष से कहै।
ऊ बरसै ई करै भतार। घाघ कहें यह सगुन विचार॥

× × ×

उत्तम खेती आप सेती। मध्यम खेती भाई सेती॥
निकृष्ट खेती नौकर सेती। बिगड़ गयी तो बलाय सेती॥

× × ×

सावन सोये ससुर घर, भादों खावे पूवा।
खेत खेत में पूछत डोले, तोहरे केतिक हुआ॥
(घाघ और भड्डरी, सम्पादक—रामनरेश त्रिपाठी)

२. आठ पहर बहिनों चले बविले नहिं जो पौन।
तीन बर्ष काया रहे, जीव करै फिरि गौन॥
(कविता कौमुदी, पहला भाग, छठां संस्करण, पृ० ४४६)

हिलि मिलि जाने तासों मिलि के जनावे हेत हित कों न जाने ताको हितू न बिसाहिए।
होय मगरूर तापै दूनी मगरूरी कीजै, लघु ह्वै चलै जो तासौ लघुता निबाहिये ॥
बोधा कवि नीति को निबेरो यही भाँति ग्रहै, ग्रापको सराहे ताहि ग्रापहूँ-सराहिये।
दाता कहा सूर कहा सुन्दर सुजान कहा, ग्रापको न चाहे ताके बाप को न चाहिये ॥

९—**ग्वाल कवि** :—इनके रचे ग्रन्थों की संख्या ६० के लगभग कही जाती है। ग्रब तक इनमें से१५ ग्रन्थ कहीं न कहीं से प्रकाशित भी हो चुके हैं। इन्होंने खूब देशाटन किया था ग्रतएव ग्रनेक ग्रन्य-प्रदेशीय भाषाग्रों में भी इन्होंने कविता की थी। ये परम भावुक तथा प्रतिभावान कवि थे; इनकी नीति विषयक कविता बड़ी मार्मिक है[1]।

रीतिकाल के इन नीति-विषयक कवियों ने लगभग प्रत्येक विषय पर उपदेशात्मक छन्द कहे थे । इन नीतिकारों में (घाघ ग्रौर गिरधर के समान) कुछ तो सामान्य लोक-व्यवहार की बातें, वे-पढ़े-लिखों के लिए कहा करते थे, ग्रौर कुछ (ग्वाल तथा गिरि समान) ज्ञान के उच्च विचारों से पूर्ण कविता करते थे—जिसका ग्रानन्द विशेष विकसित बुद्धि वाले भी ले सकते हैं।

हास्य

वीर-गाथा-काल तथा भक्ति-काल में हास्य की कविता का एकमात्र ग्रभाव-सा था। तुलसी के एकाध छन्दों (तथा, 'नारद-मोह' प्रसंग) के ग्रतिरिक्त हास्य-रस की कविता उस काल में हुई ही नहीं थी । सूर की गोपियों की वाक्-चातुरी हास्य के ग्रन्तर्गत नहीं गिनी जा सकती । इस दृष्टि से रीतिकाल में कविता के भाव-पक्ष का विस्तार हुग्रा ग्रौर ग्रनेक कवियों ने हास्य रसात्मक कविता की। कुछ पर संस्कृत का प्रभाव भी पड़ा था किन्तु संस्कृत का प्रभाव तो मध्य-युग के सम्पूर्ण साहित्य पर ही है, भक्तिकाल की भक्ति-भावना भी पर्याप्त मात्रा में संस्कृत-साहित्य से प्रभावित थी।

---

१. चाहिए जरूर इनसानियत मानस को नोबत बजे पै फेर भेर बजनो कहा,
जात औ अजात कहा हिन्दू ग्रौ मुसलमान जाते कियो नेह फेरि ताते भजनौ कहा,
ग्वाल कवि कहै जाके लिये सीस पै बुराई लई लाज हू गमाई कहो फेरि लजनौ कहा,
यातो रंग काहू पे न रंगिये सुजान प्यारे, रंगौ तो रंगेई रहो फेरि तजनौ कहा।

× × ×

दिया है खुदा ने खूब खुसी करो ग्वाल कवि खाग्रो पिग्रो लेउ देउ यही रहि जाना है,
राजा राव उमराव केते बादशाह भये कहां से कहां को गयो लाग्यो न ठिकाना है।
ऐसी जिन्दगानी के भरोसे ये गुमान ऐसे देस देस घूमि घूमि मन बहलाना है,
ग्राये परवाना पे चले ना बहाना इहां नेकी करि जाना फेरि आना है न जाना है।
(कवि-हृदय-विनोद)

१—**बेनी बन्दीजन**—इन्होंने 'टिकैतराय प्रकाश' तथा 'रस विलास' नाम के ग्रन्थ लिखे थे। इनका 'भंडौवा' संग्रह प्रसिद्ध है। भंडौवा हास्य-रस के अन्तर्गत होता है यह प्रायः सब देशों में साहित्य का एक अंग रहा है, जैसे अंग्रेजी में 'सटायर' और उर्दू-फारसी में 'हजो'[1]। यह अति प्राचीन परिपाटी है। बेनी बन्दीजन ने इस प्रकार की परम मनोरंजक कविता की थी :—

कारीगर कोऊ करामात के बनाय लायो लीनी दाम थोरो जानि नई सुघरई है।
रायजू कों रायजू रजाई दीन्ही राजी ह्वै के सहर में ठौर ठौर सौहरत भई है॥
बेनी कवि पाय के अघाय रहे घरी द्वैक कहत न बनें कछु ऐसी मति ठई है।
सांस लेत उड़िगो उपल्ला औ भितल्ला सबे दिन द्वै के बाती हेतु रूई रह गयी है॥

२—नीति विषयक कविता करने वाले घाघ आदि कवियों की कविता में भी सुन्दर व्यंग तथा हास्य की मात्रा पायी जाती है, इसका वर्णन पीछे किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त पद्माकर आदि लक्षण-ग्रन्थकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में हास्य के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

३—पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'कविता कौमुदी' (प्रथम भाग) में विभिन्न कवियों की अनेक हास्य रसात्मक कवितायें संगृहीत की हैं। उनके देखने से पता चलता है कि उस काल में हास्यरस की परम मनोरंजनकारी कविताएँ लिखी गयीं थीं। **हिन्दी-साहित्य में हास्य की विभिन्न प्रकार की कविताएं सबसे प्रथम रीतिकाल में ही की गयी थीं।** 'कविता कौमुदी' में संकलित छन्दों में से कुछ इस प्रकार हैं :—

दानी कोउ नाहिंन गुलाबदानी पीकदानी गोंददानी घनी शोभा इनहीं में लहे हैं।
मानत गुणी को गुण ही में प्रकटत देखो याते गुणीजन मन सावधानी गहे है॥
हयदान, हेमदान, राजदान, भूमिदान सुकवि सुनाये औ पुराणन में कहे हैं।
अब तो कलमदान, जुजदान, जामदान, खानदान, पानदान कहिबे कौ रहे हैं॥

× × ×

सासु के बिलोके सिंहनी सी जमुहाई लेइ।
ससुर के देखे बाघिनी सी मुँह बावती॥
नँनद के देखे नागिनी सी फुसकारै अरु।
देवर के देखे डाकिनी सी डरपावती॥
भनत प्रधान मौछैं जारती परोसिन की खसम को देखे खांव खांव कर धावती॥
करकसा कसाइन कुबुद्धिनी कुलच्छिनी ये करम के फूटे घर ऐसी नारि आवती॥

पेट पिराइ तौ पीठहिं टोवत पीठ पिराइ तौ पाय निहारैं।
दै पुरिया पहले विष की पुनि पीछे मरे पर रोग बिचारैं॥

---

१. रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रवर्धित संस्करण, पृ० ३०१

बीस रुपैया करैं कर फीस न देत जवाब न त्यागत द्वारैं।
भाखै प्रधान ये वैद्य कसाई हैं, देव न मारैं तो आप ही मारैं ।।

(पृ० ५५६)

× × ×

दाम की दाल छदाम के चाउर घी अंगुरिन ले दूरि दिखायो ।।
टोनों सो नोन धरयो कछु आनि सवै तरकारी को नाम गनाओ ।।
विप्र बुलाय पुरोहित को अपनी बिपती सब भाँति सुनायो।
साहसी आज सराध कियो सो भली विधि सौं पुरखा फुसलायो ।।

(पृ० ५६१)

× × ×

भांड़न को भेंटे तिमि मेटे मरजाद दुष्ट लोभ के लपेटे बेटे काके बने काजी हैं।
न्याव मुख देखा कियो रोखन की रेखा कियो लुच्चन में लेखा कियो कैसे मूढ़-माजीहैं।
लोक में न माल परलोक त्यों न पाल कछ पूछते न हाल ठये चाल जालसाजी हैं।
दे तो ताहि राजी करैं के तो कहो ना जी करैं चेतो दगाबाजी करैं ए तो पंच पाजी है।

(पृ० ५४२)

× × ×

जगत के कारन करन चारों बेदन के कमल में बसे वे सुजान ज्ञान धरि के।
पौखन अवनि दुख सोखन तिलोकन के समुद में जाय सोये सेज सेस करि के ।।
मदन जरायौ और संहार्यौ दृष्टि ही सौं सृष्टि बसे हैं पहार बेऊ भाजि हरबरि के।
विधि हरि हर बढ़ इनतें न कोऊ तेऊ खाट पै न सौवैं खटमलन सौ डरिकै ।।

(पृ० ५४३)

× × ×

म्यांन सों कलमदान करते निकारि तामें स्याही जल विष में बुझाई बार बारहे
चारु युक्ति जौहर जगावत सनेह संग अकिल अनेक तामें सिकिल सुढार है।
जुगुलकिशोर चले कागद धरा पे धाय धारै ना दया को नेकु लागै वार पार है।
पाइ के गंवार गाइ साफ करैं साइति में मुनसी कसाई की कलम तरवार है ।।

(पृ० ५४७)

× × ×

बड़े बिभिचारी कुलकानि तजि डारी निज आतम बिसारी अघ ओघ के निकेत हैं।
जटा सीस धारें मीठे बचन उचारें न्यारे-न्यारे पंथ परि सुभ पंथ पीठ देत हैं ।।
गावत कहानी पर वेद को न मानी ऐसे उमर बिहानी होत आये बार सेत हैं।
कलि ठकुराई में बिराग की बड़ाई करैं माई माई कहि के लुगाई करि लेत हैं ।।

× × ×

पौर के किवार देत घरै सबै गारि देत साधुन को दोष देत प्रीति ना चहत हैं।
मांगने को ज़्वाब देत बात कहे रोय देत लेत देत भांज देत ऐसे निबहत हैं ।।

बागे हू के बंद देत बारन की गांठ देत परदन की कांछ देत काम में रहत हैं ।
एते पै सबेई कहैं लाला कछु देत नाहीं लाला जू तो आठों याम देतई रहत हैं ॥

× × ×

प्रकृति चित्रण

रीतिकाल में कवियों के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने प्रकृति की अनेक रूपता की ओर ध्यान नहीं दिया[1], कुछ विद्वान् तो कहते हैं कि रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति की ओर से अपनी दृष्टि खींच ली थी[2] और उन्होंने प्रकृति का चित्रण केवल उद्दीपन के हेतु ही किया था ; कहा जाता है कि उन्होंने इस बन्धन को तोड़ने का प्रयत्न ही नहीं किया ।[3]

इस विषय में हमें प्रथम तो यह निवेदन करना है कि रीतिकालीन कवि उस प्राचीन परिपाटी के अनुयायी थे जिसका प्रचलन भक्तिकाल में (उनसे पूर्व) हो चुका था । प्रकृति के स्वतन्त्र, आलम्बन-रूप के चित्रण का प्रयत्न रस-परिपाटी के मानने वाले नहीं करते । यदि प्रकृति को आलम्बन माना जाय तो उससे प्रेरित स्थायी भाव कौन सा हुआ ? उसके संचारी तथा अनुभाव क्या हुए ? आश्रय तो स्वयं कवि को ही मानना पड़ेगा । इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर न मिलने के कारण तथा प्रकृति को ब्रह्म की सत्ता की अभिव्यक्ति मानकर उसे (प्रकृति को) केवल अपने प्रिय के प्रेम में सहायक ही मानना उन्हें रुचा था । अतएव प्रकृति को केवल अपने प्रिय (वह चाहे लौकिक हो अथवा अलौकिक) की प्राप्ति का सहायक-साधन मात्र मानकर वे भावुक भक्त कवि चले थे[4] । यह तो आज के विद्वान् भी मानते हैं कि भक्तों ने भी प्रकृति का कोई अच्छा (आलम्बन रूप में) प्रयोग नहीं किया तथा उद्दीपन के बन्धन को तोड़कर चलने का प्रयत्न भक्तों ने भी नहीं किया[5] । **स्पष्ट है कि रीतिकालीन कवियों को विरासत में प्र ति का उद्दीपन हेतु किया गया वर्णन ही मिला था; भक्तिकाल के सब कवियों ने भी प्रकृति की ओर यही दृष्टिकोण रखा था ।** शुक्ल जी ने बड़े प्रयत्न से तुलसी में एकआध स्थल तथा पद स्वतन्त्र प्रकृति चित्रण के खोज निकाले हैं । किन्तु वे चित्र (चित्रकूट का वर्षाकाल में वर्णन) भी वास्तव में अलंकार योजना के आधार

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रवर्द्धित संस्करण, रीतिकाल, सामान्य परिचय, पृ० २३७ ।
२. प्रोफेसर विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्राचीन-स्वच्छन्द-काव्यधारा की विशेषताएँ, हिमालय, ६, अक्टूबर १९४६ ई०, पृ० २९ ।
३. वही— ,, ,, ,,
४. वियोगी हरि 'सच्चा मनोराज' नामक निबन्ध ।
५. पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र-'प्राचीन स्वच्छन्द काव्यधारा की विशेषताएं' हिमालय ६, अक्टूबर १९४६ ई०, पृ० २९ ।

पर ही है। यही नहीं वे वर्णन भी पाठक के मन में भक्ति की मावना उद्दीप्त करने के लिए होने के कारण उद्दीपन के अन्तर्गत ही आते हैं। 'मानस' में—

भूमि पड़ा भा ढाबर पानी।
ज्यों जीवहिं माया लपटानी॥
सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा।
ज्यों सद्गुन सज्जन पहं आवा॥

इस प्रकार के उपदेशात्मक भावों से युक्त कुछ प्रकृति चित्र पाये जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जायसी, सूर आदि अन्य भक्त कवियों में आलम्बन रूप में प्रकृति के दर्शन नहीं होते[1]। इस प्रकार हमने देखा कि भक्तिकाल के कवियों में रस-सिद्ध महाकवि गोस्वामी तुलसीदास के बहुत ही नगण्य छुट-पुट वर्णनों के अतिरिक्त अन्य कवियों में प्रकृति का वह स्वतन्त्र चित्रण नहीं पाया जाता जो कि संस्कृत के कवियों में प्रचलित था तथा जिसका विकास आधुनिककाल में (द्विवेदी युग से) हुआ। स्पष्ट है कि रीतिकाल के कवियों ने यदि आलम्बन रूप में प्रकृति को नहीं देखा तो यह उनका दोष नहीं है, उस समय की पूर्वकाल से प्राप्त परिपाटी ही ऐसी थी। इतना कहने के बाद हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि रीतिकाल के कवियों ने स्वभाव तथा परम्परा से उद्दीपन रूप में तो प्रकृति का चित्रण किया ही, किन्तु उनमें से कुछ कवियों ने संस्कृत कवियों के समान प्रकृति का आलम्बन रूप में भी प्रयोग किया।

१—अलंकारों के आधार पर (बिहारी--'जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ') या वस्तु-परिगणन के द्वारा प्रकृति-चित्रण (केशव की परिपाटी पर) तो रीतिकाल में हुआ ही, लक्षण-ग्रन्थों में उसके उपकरण तथा लक्षणों की गिनती की गयी थी, इसके अतिरिक्त सेनापति ने अत्यन्त सफल तथा स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण किया। **आलम्बन रूप में चित्रोपम प्रकृति-चित्रण, जो कि व्यंग रूप में वातावरण का भी संकेन करता है, हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम सेनापति ने किया।** सेनापति के प्रकृति चित्रण में प्रकृति उद्दीपन के बन्धन से मुक्त ही नहीं है अपितु उसका परम 'स्वाभाविक' चित्रण भी उन्होंने किया है।[2] स्वाभाविक हम एक दूसरे दृष्टिकोण से कह रहे हैं। भारत (विशेषकर वह भाग जहां कि सेनापति आदि कवि निवास करते थे) उष्ण देश है और प्रकृति के विभिन्न रूपों में हमारे लिए उसके दो रूपों का विशेष महत्त्व है। जो कवि प्रकृति के इन दो रूपों का

---

१. भक्तिकालीन कवि आचार्य केशव में जो आलम्बन के रूप में दण्डक बन आदि का चित्रण है वह भी वस्तु-परिगणन की परिपाटी पर है। सम्भव है केशव ने तुलसी से प्रेरणा लेकर इस प्रकार का चित्रण करने का प्रयत्न किया हो।

२. प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, 'प्राचीन स्वच्छन्द काव्यधारा की विशेषताएं' हिमालय ६, अक्टूबर १६४६ ई०।

सुन्दर चित्रण कर सकता है वही हमारा अपना 'देशी' कवि है। बसन्त आदि ऋतुओं के साथ वर्षा का चित्रण अनेक विरही अथवा प्रकृति प्रेमी, (वैसे दोनो में कोई विशेष भेद नहीं है) कवियों ने किया है किन्तु हमारा दावा है कि भारत में पड़ने वाली गर्मी का जितना स्वाभाविक वातावरण-सूचक चित्रण सेनापति ने किया है **उतना 'स्वाभाविक' चित्रण आज तक किसी कवि ने नहीं किया**[1]। यहीं नहीं, ठिठुराने वाली शीत का, वर्षा के घुमुड़-घुमुड़ कर आते 'काजल के पहार से मेघों' आदि का अत्यन्त भावनापूर्ण चित्रोपम वर्णन हमें सेनापति में मिलता है। शीतकाल, ग्रीष्म तथा वर्षा के जैसे चित्र सेनापति ने उतारे हैं वैसे आज भी (पन्त जैसे कुछ कवियों को छोड़कर) हिन्दी में दुर्लभ हैं।

२—गुमान मिश्र की 'कृष्ण-चन्द्रिका' में भी इसी प्रकार के चित्रण हैं, किन्तु समीक्षकों का ध्यान अभी उस ओर गया ही नहीं है।[2] वास्तव में रीतिकाल का अध्ययन तीस-चालीस वर्षों से चली आती—कुदृष्टिकोण युक्त-परिपाटी पर ही अब भी किया जाता है, इस कारण इस काल के प्राचीन ग्रन्थों की खोज और उनके सम्पादन का कार्य ठप्प-सा पड़ा है।

३—द्विज देव (महाराज मान सिंह) के प्रकृति चित्रों की अत्यन्त प्रशंसा पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में की है :—

'ऋतु-वर्णन में इनके हृदय का उल्लास उमड़ पड़ता है। बहुत से कवियों के ऋतु-वर्णन सच्ची उमंग का पता नहीं देते···पर इनके चकोरों की चहक के भीतर इनके मन की चहक भी साफ झलकती है। एक ऋतु के उपरान्त दूसरी ऋतु के

---

१. बृष कौं तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल विकराल बरसत है।
तचति धरनि जग जात झरनि सीरी
छाँह कौं पकरि पंथी पंछी बिरमत है॥
सेनापति नैंक दुपहरी के ढरत होत,
धमाका विषम, ज्यौं न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कों पकरि कौनों
घरी एक बैठि कहूँ घामे बितवत है॥
(तीसरी तरंग, छंद ११ 'कवित्त रत्नाकर')

२. "गुमान मिश्र का 'कृष्णचन्द्रिका' नामक प्रबन्ध-काव्य इस दृष्टि (स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण) से बिशेष ध्यान देने योग्य है, पर उधर किसी समीक्षक की दृष्टि अभी नहीं गयी है। पं० बिश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिमालय ६, अक्टूबर १९४६ ई०, 'प्राचीन स्वच्छन्द काव्यधारा की विशेषताएं'।

आगमन पर इनका हृदय अगवानी के लिए मानो आप से आप आगे बढ़ता था[१]।
उदाहरण :—

मिलि माधवी आदि के फल के ब्याज विनोद लवा बरसायौ करें।
रचि नाच लतागन तान वितान सबै विधि चित्त चुरायौ करें।।
द्विज देव जू देखि अनोखी प्रभा अलि चारन कीरति गायो करे।
चिरजीवो बसन्त सदा द्विज देव प्रसूननि की झरि लायो करें।।

४—परम अलमस्त, फक्कड़ तथा विदग्ध और कुशल कवि ग्वाल[२] ने भी परम सुन्दर तथा भावपूर्ण स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण किया है। यद्यपि इनके अधिकांश प्रकृतिवर्णन उद्दीपन के लिए ही है फिर भी इनमें प्रकृति के स्वतन्त्र चित्र मिल जाते हैं।[३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल में उद्दीपन हेतु प्रकृति-चित्रण सबने किया और स्वतन्त्र आलम्बन रूप प्रकृति-चित्रण करने वाले सेनापति जैसे सूक्ष्म दृष्टि वाले[४] अनेक कवि भी इस काल में हुए। **महत्व की बात यह है कि आलम्बन रूप में सुन्दर भावात्मक प्रकृति-चित्रण के आरम्भ का श्रेय रीतिकाल को ही है।** रीतिकाल को उसका यह श्रेय न देकर उसके प्रति अन्याय करना आज के समीक्षकों का फैशन हो गया है।

वीररस

भक्तिकाल में तुलसी, जायसी तथा केशव ने अपने काव्यों में वीररस का समावेश किया था। कर्म करने मात्र से प्राप्त होने वाले आनन्द को 'उत्साह' कहा जाता है[५]। इस कारण 'उत्साह' के स्थायी भाव को जागृत करके रस की अवस्था

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास, प्रवर्धित संस्करण,
रीतिकाल के अन्य कवि, पृ० ४००।

२. वही पृ० ३१४।

३. ग्रीष्म की गजब धुकी है धूप धाम धाम
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी।
भीजे खस-बीजन झले हूं ना सुखात स्वेद,
गात ना सुहात बात दावासी डरापिनी।।
ग्वाल कवि कहै कोरे कुम्भन तें कूपन तें
लै लै जलधर बार बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो अब पियो फेरि अब
पीवत हूँ पीवत मिटे न प्यास पापिनी।।
(शुक्ल जी का इतिहास, पृ० ३१४)

४. श्यामसुन्दरदास—'हिन्दी साहित्य' (चतुर्थ संस्करण) नवां अध्याय, पृ० २०१

५. रामचन्द्र शुक्ल का 'उत्साह' नामक निबन्ध।

तक पहुँचने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि कवि शारीरिक प्रयास (युद्धादि कर्म) के साथ-साथ मन की 'उत्साह' की भावना का भी वर्णन करे। इस दृष्टि से भक्तिकाल के कवियों में जायसी का 'गोरा बादल' युद्ध-वर्णन सबसे अच्छा है । तुलसी तथा केशव में वाह्य-पक्ष (कर्म) का कलात्मक (सागर सरिता के रूपक के आधार पर) वर्णन अधिक है । 'उत्साह' के भाव को पूर्ण उत्कर्ष के साथ रस की कोटि तक पहुँचाने के लिए क्रमबद्ध भाव-वर्णन की आवश्यकता पड़ती है और इसीलिए प्रबन्ध काव्य में वीर-रस की निष्पत्ति की सहूलियत अधिक रहती है । मुक्तकों में वीर-रस की निष्पत्ति कठिन है, इस कारण जो कवि मुक्तक छन्द में वीररस की सफल निष्पत्ति कर सकता है वह अवश्य ही रस सिद्ध कवि है।

कहा जाता है कि रीतिकाल के कवियों का भावक्षेत्र संकुचित था और उस काल में स्फूर्ति तथा उत्साह निःशेष हो चुका था[1], और जीवन बंधा हुआ तथा रुग्ण हो गया था, काम और अर्थ पर आश्रित केवल भोग बुद्धि ही शेष रह गयी थी[2]। जीवन की गत्यात्मकता का एकमात्र प्रमाण है अत्याचार का विरोध करने की प्रवृत्ति का प्रयोग । भक्तिकाल में मुगलों का विरोध (चाहे किसी कारण से क्यों न हो) जनता और कवियों ने नहीं किया था । रीतिकाल में स्थापित साम्राज्यशाही सत्ता के विरुद्ध अनेक विद्रोह हुए[3] और शिवा जी तथा छत्रसाल क्रान्तिकारी शक्तियों के

---

१. डा० नगेन्द्र 'रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता' जीवन दर्शन पृ० १७।

२. वही, पृ० १७८

३. भारत का इतिहास, भाग २, १९५३, डा० ईश्वरी प्रसाद :—
क, मराठों का उत्कर्ष पृ० १८७
ख, गोकुल जाट का विद्रोह, पृ० २०२-२०४ (१६६६ ई०)
ग, राजाराम का विद्रोह १६८ ई०, पृ० २०२-२०४
ङ—सतनामी विद्रोह, १६७२ ई०, पृ० २०४
च—सिक्खों का विद्रोह, पृ० २०५—२०७
छ—राजपूतों का विद्रोह, पृ० २०९
ज—वन्दा का विद्रोह, पृ० २२१
झ—चूरामन के पुत्र का विद्रोह, पृ० २२४

इनके अतिरिक्त उस काल में निम्न युद्ध हुए (पृ० २७९) :—
प्रथम मैसूर युद्ध (१७६७-६९), प्लासी का युद्ध (२३ जून १७५७); रूहेला युद्ध (१७७३-७४), प्रथम मराठा युद्ध (१७७५-८२), चतुर्थ मैसूर युद्ध (१७९९ ई०); त्रावणकोर का विद्रोह (१८०८); गोरखा युद्ध (१८१४-१६); पिण्डारी युद्ध (१८१६-१८); भरतपुर का घेरा (१८२६); प्रथम सिक्ख युद्ध (१८४५-६) ।

प्रतिनिधि बन गए थे; और उन दोनों को लेकर उस समय खूब कविता की गयी। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक व्यक्तियों और शक्तियों ने विद्रोह किया था किन्तु उनका विद्रोह एक शक्ति का लगातार (सस्टेण्ड) चलने वाला प्रयास न होकर अनेक शक्तियों का बिखरा हुआ, अनेक समयों और स्थानों पर किया गया, विद्रोह था। यही उसकी असफलता का मूल कारण भी था। डा० वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यास 'झांसी की रानी' में तथा सरकार की ओर से प्रकाशित १८५७ के विद्रोह के इतिहास में इस तथ्य को सिद्ध किया गया है कि १८५७ के अनेक वर्ष पूर्व से इस विद्रोह का कार्य चल रहा था। इस प्रकार रीतिकाल में जनता ने मुगलों तथा अंग्रेजों दोनों के विरुद्ध विद्रोह किया जब कि भक्तिकाल में लोग (दिल्लीश्वर को जगदीश्वर मानकर) कलिकाल से छुटकारा पाने के लिए भगवद् कृपा की प्रतीक्षा ही करते रहे थे।

शिवाजी तथा छत्रसाल को लेकर की गयी भूषण तथा लाल की कविता का विस्तृत विवेचन करना यहाँ आवश्यक नहीं हैं क्योंकि उनका महत्त्व सर्वविदित है। हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि उपयुक्त 'हीरो' (जन-नायक) पाकर रीतिकाल के कवि ने जो वीर रसात्मक कविता की है (और भूषण ने लक्षण-ग्रन्थ लिखकर अपने को ठेठ रीतिकालीन सिद्ध कर दिया है) वह उसके जन-सम्पर्क तथा गत्यात्मक भाव-संसार की प्रतीक है। रीतिकाल में जितनी कुछ वीर-रस की कविता हुई है वह उस काल के कवि के भाव-क्षेत्र के विस्तार की साक्षी देती है। हाँ यह कहा जा सकता है कि उस काल में वीर रस की जितनी कविता होनी चाहिए थी उतनी नहीं हुई। उसका कारण था कवियों का राज्याश्रित होना और अधिकांश आश्रयदाताओं में स्थापित सत्ता का विरोध करने के साहस का अभाव।

भूषण तथा लाल के अतिरिक्त निम्नलिखित कवियों ने भी वीर-रस की कविता की थी :—

१—शंभुनाथ मिश्र : इन्होंने राजा भगवन्तराय की प्रशंसा में वीर रसात्मक कवित्त रचे थे।[1]

२—पद्माकर ने 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' के नाम से एक बहुत ही फड़कती हुई वीर रसात्मक-पुस्तक लिखी थी।[2] हिम्मत बहादुर बड़े अच्छे योद्धा थे[3] और उनके विषय में लिखी गयी पद्माकर की कविता में वीर रस की पूर्ण निष्पत्ति है। दौलतराव सिंधिया को अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध करने की प्रेरणा देने का प्रयत्न भी पद्माकर ने ही किया था।[4] पद्माकर ठेठ शृंगारी कवि थे केवल इसीलिए उनकी

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रवर्धित संस्करण, रा० च० शुक्ल, पृ० २६२
२. वही, पृ० ४०८
३. वही, ,,
४. मीनागढ़ बम्बई सुमन्द मन्दराज बंग बंदर कों बन्द करि बन्दर बसावेगो।
कहे पद्माकर कसकि कासमीर हूं को पिंजरं सों घेरि के कलिंजर छुड़ावेगो।

वीर रस की कविता की उपेक्षा करना वास्तव में साहित्यिक-बेईमानी है।

३—छत्रसिंह कायस्थ ; इन्होंने महाभारत की कथा का प्रबन्ध-काव्य के रूप में वर्णन किया था। इनकी इस पुस्तक में काव्य के गुण यथेष्ठ रूप में पाये जाते हैं और कविता बड़ी ओजस्विनी है[1]। छत्रसिंह की कविता में वीर-रस का सुन्दर चित्रण है[2]।

४—श्रीधर (मुरलीधर) ; इन्होंने 'जंगनामा' नाम का ऐतिहासिक प्रबन्ध-काव्य लिखा जिसमें सेना की चढ़ाई आदि के वीर-रसात्मक वर्णन बड़े अच्छे हैं[3]।

५—जोधराज ; इन्होंने 'हम्मीर रासो' नाम का प्रबन्ध-काव्य लिखा जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा शुक्ल जी ने की है। इस काव्य के नायक हम्मीरदेव लोकप्रिय नायक थे तथा ग्रन्थ में वीर-रस का चन्द की परिपाटी में वर्णन है। ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कविता ओजस्विनी है तथा वर्णित घटनाएं ऐतिहासिक हैं।[4]

६—सूदन ; जाटों के विद्रोह का हम पहले संकेत कर आये हैं, उसी विद्रोह के लोकप्रिय नायक सूरजमल को लेकर कवि सूदन ने 'सुजान-चरित' की रचना की थी। कवि ने अपने समय के वीर नायक का बहुत सुन्दर वीर रसात्मक चित्रण किया है। सूदन की कविता में जो घड़द्धरं तथा तड़त्तरं का प्रयोग है उसे लेकर बहुधा कवि की आलोचना की जाती है। पन्त की 'टी वी टी टुट टुट' तथा 'रेणु' के उपन्यासों की अनुकरणात्मक भाषा[5] को देखते हुए सूदन का चित्रण स्वाभाविक ही माना

(५४ का शेष)
बाँका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौं साजिदल पकरि फिरंगिनि दबावेगो।
दिल्ली दहपट्टि पटना हू को झपट्टि करि कबहुँक लत्ता कलकत्ता को उड़ावेगो।

१. रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रवर्धित संस्करण, पृ. ३२८

२. 'विजय मुक्तावली'—छत्रसिंह कायस्थ; शुक्ल का इतिहास, पृ० ३२८

निरखत ही अभिमन्यु को विदुर डुलायो सीस।
रक्षा बालक की करौ ह्वै कृपालु जगदीस।।
आपुन काँधौ युद्ध नहिं धनुष लियो भुवि डारि।
पापी बैठे गेह कत पाण्डु पुत्र तुम चारि।।
पौरूष तजि लज्जा तजी तजी सकल कुलकानि।
बालक रनहिं पठाय कैं आपु रहे सुख मानि।।

३. वहीं, ३३३

४. वही, ३५१

५. 'जितेन्द्र टाइप कर रहा है' टप्पा टप्पा टः टः टः टः टप्पा टा ट्रिं!......क्रेंक!!' सरकारी डौडी-डिग डिग डिगिड, डिगिड डिगिड डिग!!—बादल गरजते हैं भट ट ट ट ट भड़ भड़ भड़ भड़ भर्र र र र। 'परती परिकथा' फणीश्वरनाथ रेणु।

जायगा। कवि ने युद्ध के वातावरण को सूचित करने का प्रयत्न किया है, और वह भी दरबार में, कविता पाठ के द्वारा। इस कारण इसे हम दोष नहीं मानते। सूदन का काव्य सफल वीरकाव्य है।

७—'तिरिया तेल हमीर हठ चढ़े न दूजी वार' लिखने वाले कविवर चन्द्रशेखर की वीर रसात्मक रचना 'हम्मीर हठ' हिन्दी-साहित्य का एक रत्न है[1]। उत्साह की, उमंग की व्यंजना, जैसी चलती तथा स्वाभाविक और जोरदार भाषा में इन्होंने की है वैसे ढंग से करने में बहुत ही कम कवि समर्थ हुए हैं[2]। इन्होंने उग्रोत्साह व्यंजक उक्तियों का ही अधिक सहारा लिया है, जो कि वीर-रस की जान है[3]।

चन्द्रशेखर का 'हम्मीर हठ' अकेला ही रीतिकाल में वीर-रस की कविता की पताका फहराने में समर्थ है।

इन, तथा अन्य कवियों के अतिरिक्त सेनापति ने भी वीर-रस की कविता की थी। राम के युद्ध का वीर रसात्मक वर्णन सेनापति ने बड़े कौशल से किया था। इन्होंने शुद्ध ब्रजभाषा में तथा परम्परा से चली आती चारणों की द्वित्त प्रधान भाषा (डिंगल से प्रभावित) में वीर-रस की कविता की थी[4]।

इस प्रकार रीतिकाल में अनेक कवियों ने वीर रस की कविता की। कुछ ने (भूषण, लाल, पद्माकर) तत्कालीन नायकों को अपनी कविता का विषय बनाया और कुछ ने (चन्द्रशेखर, छत्रसिंह कायस्थ)। प्राचीन योद्धाओं को। कहा जाता है कि भूषण तथा लाल के अतिरिक्त रीतिकाल के पास वीर-कवि नहीं हैं। प्रथम तो यह तर्क ही मिथ्या है क्योंकि यह 'अतिरिक्तवादी' तर्क कुछ समझ में नहीं आता। वीरगाथा-काल में रासो के 'अतिरिक्त' यदि वीरगाथा खोजने का प्रयत्न किया जाय तो एक भी नहीं मिलेगी, प्राप्य ही नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो जितना वीर-कांव्य रीतिकाल में मिलता है वह वीरगाथा-काल के सम्पूर्ण साहित्य से अधिक नहीं तो कम भी नहीं है; फिर रीतिकाल में वीर-कविता का अभाव बताना कहाँ तक युक्ति-संगत है। हमारा तात्पर्य यह है कि वीरगाथा-काल से चली आने वाली वीर रस की कविता की धारा रीतिकाल में भी प्रवाहित रही; हाँ आगे चलकर, आधुनिक काल में, वीर रसात्मक कविता का ह्रास होना आरम्भ हो गया।

---

१. शुक्ल का इतिहास, पृ० ३९१
२. वही, पृ० ३८९
३. वही, पृ० ३९०
४. अक्खि पिक्खि नहिं सकइ सेस नक्खिन लग्गिय तल।
सेनापति जय सद्द सिद्ध उच्चरत बुद्धि बल॥
उद्दंड चंड भुजदंड भरि, धनुष राम करवत प्रबल।
ट्टुट्टिया पिनाक निर्घात सुनि, लुट्टिय दिगंत दिग्गज विकल॥
('कवित्त—रत्नाकर'; सेनापति, चौथी तरंग, छंद १६)

प्रबन्ध-काव्य

रीतिकाल में यद्यपि मुक्तकों का ही प्रचलन था, किन्तु अनेक प्रबन्ध-काव्य भी लिखे गये। अन्विति की दृष्टि से तो लक्षण-ग्रन्थों को भी हम मुक्तक नहीं कह सकते, परन्तु हम शुद्ध लक्ष्य ग्रन्थों में से कुछ की गिनती यहां करेंगे[1] :—

सबल सिंह का 'महाभारत', छत्रसिंह की 'विजय मुक्तावली', गुरु गोविन्द सिंह का 'चन्डी चरित्र' और 'गोविन्द रामायण,' लाल कवि का 'छत्र प्रकाश', जोधराज का 'हम्मीर रासो', गुमान मिश्र का 'नैषध चरित्र', सूदन का 'सुजान चरित', देवीदत्त की 'वैताल पचीसी', गोकुलनाथ आदि का महाभारत', मधुसूदनदास का 'रामाश्वमेध', कृष्णदास की 'भाषा भागवत' चन्द्रशेखर का 'हम्मीर हठ', श्रीधर का 'जंगनामा', पद्माकर का 'राम रसायन', बृजवासीदास का 'बृजविलास'।

इन अनेक प्रबन्ध-काव्यों में से रेखांकित सात को शुक्ल जी ने उच्चकोटि में रखा है[2]। संख्या की दृष्टि से चार-पाँच; और कसौटी की कस पर टिकने वाले केवल दो, प्रबन्ध-काव्य ('मानस' तथा 'पद्मावत') भक्तिकाल में पाये जाते हैं फिर भी **रीतिकाल के कवि फुटकरिये हैं !** वास्तव में रीतिकाल में काव्य के दोनों स्वरूपों का (प्रबन्ध तथा मुक्तक) का पूर्ण विकास हुआ था। हाँ सम्मेलनों (दरबारों में) कविता सुनाने के अधिक अवसर होने के कारण कवियों का झुकाव मुक्तकों की ओर अधिक था (ठीक जिस प्रकार समाचार-पत्रों, कवि सम्मेलनों और रेडियो ने आज के कवि को मुक्तक की ओर ढकेल दिया है।)

रीतिबद्ध-रीतिमुक्त

रीतिबद्ध-रीतिमुक्त के प्रवाद को चलाकर समीक्षकों ने सामान्य पाठक पर यह प्रभाव डाल दिया था कि रीतिकालीन कवि किसी घृणित बन्धन में बंधा था, जिससे वह कभी न मुक्त हो सका। अधिक न कहकर हम यहां शुक्ल जी के इतिहास से उनके कुछ कथन उद्धरित करते हैं :—

"अब यहाँ पर इस काल के भीतर होने वाले उन कवियों का उल्लेख होगा जिन्होंने रीति-ग्रन्थ न लिखकर दूसरे प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं। ऐसे कवियों में कुछ ने तो प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं, कुछ ने नीति या भक्ति-ज्ञान सम्बन्धी पद, और कुछ ने शृंगार-रस सम्बन्धी फुटकल कविताएँ लिखी हैं[3]।"

इसके बाद शुक्ल जी ने इस प्रकार के कवियों को छः वर्गों में विभाजित किया है तदुपरान्त उनका संक्षिप्त परिचय दिया है। ध्यान देने की बात यह है कि स्वयं

---

१. रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास पृ०, ३२२

२. वही, पृ० ३२३

३. रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य का इतिहास (प्रवर्धित संस्करण) पृ० ३२२—३२४

शुक्ल जी ने इस वर्गीकरण ('रीतिकाल के अन्य कवि') के रीतिमुक्त कवियों की संख्या ४६ दी है। कथित 'रीति-बद्ध-परम्परा' के ५७ कवियों का वर्णन शुक्ल जी इससे पूर्व के प्रकरण में कर चुके हैं। अतएव रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त कवियों का अनुपात हुआ—५७।४६। स्पष्ट है कि जिन्हें समीक्षक रीतिबद्ध कहते हैं उनकी संख्या कोई बहुत बड़ा बहुमत प्रदान करने वाली नहीं है। वह भी तब जबकि असंख्यों ग्रन्थ अभी छिपे पड़े है, जो कि इस अनुपात को पूर्णरूप में बदल सकते हैं। निष्कर्ष सरल है।

इस प्रकार हमने देखा कि कैसे ब्रजभाषा और खड़ी बोली के विवाद के सहारे से रीतिकाल की अनुचित तथा निराधार आलोचना आरम्भ हुई और फिर किस प्रकार राष्ट्रीयता के प्रसार के बहाने अब्रज-भाषा भाषियों ने उस कटु तथा अन्यायपूर्ण आलोचना को बढ़ावा दिया। प्रगतिवाद की खाल में जों मार्क्सवाद साहित्य में घुस आया, (जिसकी जड़ें रूस में थीं) उसने प्रत्येक प्राचीन भावना का नाश करने का प्रयत्न किया; और उसीने सामन्तवादी कह कहकर प्रथम तो रीतिकाल की सभ्यता-संस्कृति पर, फिर रीतिकाल के काव्य पर कीचड़ उछालना आरम्भ किया। इस अन्यायपूर्ण आलोचना के कारणों तथा उसके क्रमिक वर्णन का विवेचन करने के बाद हमने यह सिद्ध किया कि १—रीतिकाल में विकसित होने वाली शृंगार की रीति की जड़ें उससे पूर्व के कालों में थीं और उसका उत्कर्ष रीतिकाल में हुआ। २—रीतिकाल में केवल शृंगार रस की ही कविता नहीं हुई थी अपितु, विभिन्न भावनाओं की प्रबन्ध तथा मुक्तक दोनों पद्धतियों में कविता हुई। ३—लक्षण ग्रन्थों के विवेचन के बाद हमने देखा कि उस काल के सब कवि किसी जड़ रीति में बद्ध नहीं थे, वरन् अधिकांश कवि स्वतन्त्र भाव से अपने हृदय की अनुभूति का अनुसरण करते थे।

आज की समीक्षा का यह हाल है कि कोई भी राह-चलता समीक्षक रीतिकाल की कविता का अध्ययन किये बिना, उसकी कटु आलोचना करने लगता है। ये समीक्षक भूल जाते हैं कि रीतिकाल के कवियों ने भक्तिकाल की जीवन-विमुख अति-आध्यात्मिकता की अस्वाभाविकता से हिन्दी-कविता को मुक्त किया, सम्भव है इसी कारण उसमें शृंगार की कुछ अति हो गयी हो[1] किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि भक्तिकाल

---

१. उन्होंने सीमा का उल्लंघन अवश्य किया है परन्तु वह स्वाभाविक था। नैराश्य जनित अवस्था में वे धार्मिक नियंन्त्रणों और निरोधों ('इनहीबिशन्स तथा रिप्रेशन्स') को अधिक काल तक सह सके। अत्यधिक आध्यात्मिकता की प्रतिक्रिया के रूप में शृंगार साहित्य इन्द्रियों की पुकार है। (आधुनिक हिन्दी साहित्य-कविता (पुरानी धारा) डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रथम संस्करण, १६४२, ई०, पृ० १७६

के कुण्ठित चित्त वाले जन-समाज के मन को मृदुता प्रदान करने का कार्य रीतकालीन कवियों ने ही किया। हर 'राह चलते' समालोचक के कटूक्ति-वाणों को कालान्तर से सहते आने वाली इस कविता ने जीवन के स्वस्थ पथ के आदर्शों से भ्रष्ट मानवता का मार्ग प्रदर्शन ही नहीं किया अपितु उसे बर्बर होने से बचाया।[1] दर्शन-वेदान्त आदि का भक्तिकाल का सा (वैसे रीतकाल में भी दर्शन-दिग्दर्शन खूब हुआ था) विवेचन चाहे हमें रीतिकाल में न मिले किन्तु मानस-मृदुकारी मधुर भावनाओं से उसे हम आपूरित पाते हैं।

रीतिकाल के कवियों का एकमात्र दोष यह था कि वे आजकल के सीमित दृष्टि वाले समीक्षकों के विपरीत अपने पूर्वजों तथा शास्त्रों की परम्परा का पालन करते थे और अपने व्यक्तिगत मत पर शास्त्रीय मत को प्रधानता देते थे[2], क्योंकि उनका काल शास्त्रमत-प्रधान काल था। उस काल के साहित्य एवं समाज के विस्तृत इतिहास के अभाव में उन कवियों के ऊपर अपना आधुनिक मान्यताओं से प्रेरित फैसला लाद देना अत्यधिक अनुचित है। उन शृंगारी कवियों के प्रति घृणा और उपेक्षा के भाव का प्रचार उनके प्रति अन्याय ही नहीं अत्याचार भी है।[3] शृंगार की भावना से भावित इन परम्परा प्रेमी कवियों ने केवल अपने पूर्वजों को आदर देने के लिए ही राधा और कृष्ण को अपनी कविता का आधार बनाया था। उस शृंगार

---

१. "मध्य युग के कवि जो हर राह चलते समालोचक के वाक्य-वाणों के निशान बने हैं केवल इस एक कारण से कवि की गद्दी के अधिकारी बने रह सकते हैं कि उन्होंने अपने श्रोताओं को संवेदना दी है, उनका हृदय मुलायम बनाया है। उन कविताओं के अभाव में आदर्श-भ्रष्ट मानवता कितनी बर्बर हो उठती, यह केवल अनुमान का विषय है। हम कवि से यही आशा रखते हैं कि वह हमारे दिल को मुलायम बना दे। हम उससे यह आशा हरगिज नहीं रखते कि वह हमें वेदान्त वाद समझा दे या समाजवाद के तत्व रटा दे।"

(आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५८)

२. "शास्त्रमत की प्रधानता ने इस काल के कवियों को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना शक्ति के प्रति अतिरिक्त सावधान बना दिया, उन्होंने शास्त्रीय मत को श्रेष्ठ और अपने मत को गौण मान लिया, इसलिए स्वाधीन चिन्ता के प्रति एक अवज्ञा का भाव आ गया।"

(हिन्दी-साहित्य की भूमिका, रीति-काव्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण, १९४० पृ० १२५)

३. अस्तु शृंगारी कवियों की रचनाओं को घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखना जैसी कि आधुनिक काल में प्रथा चल पड़ी है सर्वथा अनुचित है। वास्तव में इन कवियों ने रस की सृष्टि की है। रसों में शृंगार ही प्रधान रस है। मूल रूप में प्रेम

की भावना को गंदगी की नाली और उनकी कविता को भावना के नाम पर कलंक लगाने वाली कहना[१] इसीलिए अनुचित है । भाव-पक्ष के क्षेत्र में ही नहीं उस काल के कवियों ने अपनी कमनीय शृंगारिकता के माध्यम से (ब्रज) भाषा को ही माधुर्य प्रदान किया और अपने प्रयुक्त छन्दों को विकास की चरम सीमा पर पहुँचाया[२]। ब्रजभाषा को विकास की जिस सीढ़ी पर वे छोड़ गए उससे ऊपर उसे अब तक कोई नहीं ले जा सका है।

यह कहना सत्य नहीं है कि उस काल की कविता की सभी विभिन्न विशेषताएँ उसे ज्यों की त्यों विरासत में मिली थीं। वास्तव में उस काल के कवियों ने कुछ प्राचीन मान्यताओं को स्वीकार किया, अपने काल की कसौटी पर- उन्हें कसा और फिर उसी रूप में या परिवर्तित-परिवर्धित स्वरूप में उन्हें अपनी कविता में भुक्त

(५९ का शेष)

और शृंगार सदैव बिलासपूर्ण होते हैं। परिस्थिति विशेष में वे चाहे जैसा रूप धारण कर ले यह दूसरी बात है । तत्कालीन समाज के इतिहास का अभाव है। सम्भव है शृंगार-साहित्य में वर्णित अनेक शिष्टाचारों और रीतियों का उस समय समाज में प्रचार रहा हो। उसको आधुनिक दृष्टि से देखना कवियों के प्रति अन्याय और अत्याचार करना है।

(आधुनिक हिन्दी साहित्य । कविता, पुरानी धारा) डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय- प्रथम संस्करण, १९४१ ई०, अप्रैल, पृ० १७६)

१. कभी कभी इन्हें गन्दगी की नाली बहाने वाले भगवान के नाम पर कलंक प्रचार करने वाले आदि भी कहा गया है, फिर भी इस विषय में दो मत नहीं कि ऐसा लिखने वाले कवि काफी ईमानदार थे। वे सचमुच विचार करते थे कि—

राधामोहन लाल को जिन्हें न भावत नेह ।
परियो मुठी हजार दस, तिनकी आँखिन खेह ।। —मतिराम

(हिन्दी साहित्य की भूमिका, रीति काव्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण, १९४० ई०, पृ० ११९)

२. भाषा और छन्द आदि की दृष्टि से भी रीतिकाल के कवियों का प्रयत्न प्रशंसनीय ही कहा जायगा। ब्रजभाषा का जो साहित्यिक रूप निर्मित हुआ था, उसमें अनुभूयमान कोमलता और सुकुमारता उन्हीं कवियों के प्रयास का फल था। इस प्रकार की कोमलता और सुकुमारता को हम सर्वथा हेय ही समझते हों, यह बात नहीं है। शृंगार रस का पल्ला पकड़ कर गार्हस्थ्य जीवन के जैसे सुन्दर और सुकुमार चित्र उन्हें उतारने थे उसके उपयुक्त भाषा का स्वरूप स्थिर करना कवियों की प्रतिभा का ही परिचायक है। इसके कारण छन्दों में भी अच्छी प्रौढ़ता और परिष्कृति आयी है । बिहारी ने दोहा छन्द को विकास की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। देव और पद्माकर के कवित्त तथा मतिराम के सवैया गठन की दृष्टि से अद्वितीय हुए हैं ।

'हिन्दी साहित्य'-डा० श्यामसुन्दरदास, चतुर्थ संस्करण, रीतिकाल, पृ० २१०

किया। अपने द्वारा स्वीकृत अलंकार शास्त्र को भी उन्होंने प्रथम अपनी भाषा के अनुरूप बनाया तदुपरान्त उसका वैज्ञानिक विवेचन किया। इसी प्रकार अन्य परम्पराओं (कवि प्रसिद्धियों आदि) के क्षेत्र में भी उन्होंने केवल संस्कृत का अन्धानुकरण ही नहीं किया वरन् बहुत सी नूतन परम्पराओं का निर्माण किया और बहुत सी प्राचीन परम्पराओं को (समय के अनुपयुक्त जानकर) त्याग दिया[1]। यही उनके दृष्टिकोण तथा चिन्तन की समयानुकूल गत्यात्मकता है। उनके द्वारा स्वीकृत नायिका-भेद की परिपाटी निःसन्देह प्राचीन (नाट्यशास्त्र उद्भूत) थी किन्तु उन्होंने उसे मनोविज्ञान के सहारे कामशास्त्रीय ग्रन्थों से अनुप्राणित कर लिया था और उनका परिपाटीबद्ध नायिका भेद का वर्णन भी उनकी स्वतंत्र विशेषताओं से युक्त था, इसे बड़े बड़े विद्वान मानते हैं।[2]

कभी कभी कहा जाता है कि उनकी भाषा व्यवस्थित नहीं थी। भाषा के साथ वे मनमानी करते थे। रीतिकाल में ब्रजभाषा गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब (पटियाला) अवध आदि प्रदेशों में पसरी हुई थी[3] (आज की खड़ी बोली गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों की काव्य-भाषा नहीं बन सकी है) फलतः विभिन्न प्रदेशों के शब्दों का थोड़ा

---

१. केवल लोक-भाषा से प्रभावित और बाद में सम्पूर्ण भाव से वैज्ञानिक विवेचना का रूप ग्रहण किया हुआ अलंकार शास्त्र ही इस युग के (रीतिकाल के) कवित्व को रूप नहीं दे रहा था। कुछ और उपादान भी काम कर रहे थे। यह लक्ष्य करने की बात है कि रीतिकाल की समूची रूढ़ियां और कवि-प्रसिद्धियां वही नहीं थीं जो प्राचीन संस्कृत काव्यों में मिलती हैं। इनमें बहुत कुछ नयी थीं और बहुत सी पुरानी भुलादी गयी थीं। स्त्री-रूप के उपमानों में से बहुत से भुला दिये गए थे और पुरुष रूप के वर्णन को अत्यन्त कम महत्व दिया गया। एक नयी बात जो इस युग की कविता में दिखाई पड़ी वह यह है कि प्रायः सभी शृंगारात्मक उत्तम पद्यों का विषय श्रीकृष्ण और गोपियों का प्रेम है।

('हिन्दी साहित्य की भूमिका' रीति काव्य, ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण १६४० ई०, पृ० ११६)

२. इस प्रकार एक तरफ नायिका-भेद का विषय जहां नाटय-शास्त्रीय ग्रन्थों से लिया गया वहां उसका व्यवहारिक अंग काम-शास्त्रीय ग्रन्थों से अनुप्राणित था। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि रीति-काल का कवि केवल नाट्य-शास्त्र और काम-शास्त्र की रटन्त-विद्या का जानकार था।

(हिन्दी साहित्य की भूमिका, रीतिकाव्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण, १६४०, पृ० १२४)

३. "ब्रजभाषा की काव्य-परम्परा गुजरात से लेकर बिहार-बंगाल तक और कुमायूं गढ़वाल से लेकर दक्षिण भारत की सीमा तक बराबर चलती आयी है। काश्मीर के किसी ग्राम के रहने वाले ब्रजभाषा के एक कवि का परिचय हमें जम्मू में किसी

बहुत आ जाना स्वंभाविक ही था। यदि हम इस दृष्टि से देखें तो यह बात आश्चर्य सी लगेगी कि फिर भी ब्रजभाषा अपने स्वरूप को अधिकांशतः बनाये रख सकी। इसका कारण था काव्य-भाषा का दृढ़ निर्मित स्वरूप (बोलचाल में तो ब्रज केवल एक सीमित क्षेत्र की ही भाषा थी) और कवियों का उसकी रक्षा का प्रयास। आज हम चाहें इसे भाषा की जड़ता कह लें या रूढ़िवद्धता किन्तु वास्तव में यह उस काल में उसका आवश्यक गुण ही था।

इस प्रकार रीतिकाल की कविता की संक्षिप्त समीक्षा करने के बाद अब हम आधुनिक काल की कविता पर पड़े उसके प्रभाव का विवेचन करेंगे।

(६१ का शेष)

महाशय ने दिया था और शायद उसके दो एक सवैये भी सुनाए थे।" रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, आधुनिक काल, काव्यखण्ड पुरानीधारा पृ० ५७७।

द्वितीय खण्ड

भारतेन्दु–युग

रीतिकाल की समाप्ति तथा आधुनिक काल का आरम्भ ई० सन् १८५० के लगभग माना जाता है। रीति कविता का समय सं० १७०० से १६०० तक मानने पर बीच के सात वर्षों (सं० १६०० से १६०७ अर्थात् सन् १८५० ई० तक) का हिसाव खटाई में पड़ता है। अध्ययन की सुकरता की दृष्टि से आज के समीक्षकों ने आधुनिक काल का आरम्भ ई० सन् १८५० से ही माना है[1]; अपने इस विवेचन में हम भी उसी विभाजन का अनुकरण करेंगे। आधुनिक काल को प्रवृत्तियाँ की ऐतिहासिकता के आधार पर तीन युगों में विभाजित कर दिया जाता है—१ — भारतेन्दु युग (१८५० ई० से १६०० ई०), २—द्विवेदी युग (१६०० से १६२५ ई०), ३ — प्रसाद-पन्त-निराला युग अथवा छायावादी युग (१६२५ से अब तक)। आधुनिक काल की हिन्दी की कविता पर रीतिकाल के प्रभाव का विवेचन करने के लिए हम इसी विभाजन का तथा ईस्वी सन् का प्रयोग करेंगे क्योंकि अधिकांश पुस्तकों तथा समीक्षकों द्वारा आज उसी का प्रयोग किया जा रहा है।

भाव—क्षेत्र

सूत्र रूप में यदि आधुनिक काल के तीनों युगों में हिन्दी कविता के विकास को वर्णित किया जाय तो कहना पड़ेगा कि भारतेन्दु युग में हिन्दी-कविता के भाव-पक्ष में विकास आया, द्विवेदी युग में उसकी भाषा का परिवर्तन हुआ (ब्रज के स्थान पर खड़ी बोली) तथा छायावादी युग में उसकी शैली का विकास हुआ। इस प्रकार भारतेन्दु युग में कविता में जो सर्वप्रमुख विशेषता आयी वह थी उसके भाव-क्षेत्र के विस्तार की। इस विस्तार के अनुसार कविता में उन नूतन भावनाओं का समावेश हुआ जिनकी परम्परा कवियों को रीतिकाल से नहीं मिली थी। भारतेन्दु ने इन नूतन भावनाओं को कविता में स्थान दिलाने में सबसे अधिक प्रयास किया। इन नूतन भावनाओं में से कुछ थीं :—भारतेन्दु द्वारा करुण रस के माध्यम से प्रतिपादित देश-प्रेम, स्वदेशी तथा राष्ट्रीयता की भावना, समाज सुधार की भावना, धर्म के पुनरुद्धार की भावना (जिसपर विभिन्न सुधारवादी भावनाओं का प्रभाव पड़ा था), उर्दू का विरोध करने की भावना तथा हिन्दी के प्रचार की भावना। गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली के आ जाने पर कविता के क्षेत्र में ब्रज तथा खड़ी बोली का विवाद भी चल पड़ा और इस विवाद को न्यूनाधिक रूप में कविता में भी स्थान मिला। अब्रज-भाषा-भाषियों के ब्रजभाषा विरोध के वावजूद इस काल के अधिकांश कवि ब्रजभाषा में ही

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य'

कविता करते थे, तथा बालमुकुन्द गुप्त जैसे एक-आध कवि को छोड़कर ब्रजभाषा में कविता करने वाले लगभग सब कवि रीतिकालीन परम्परा का सम्मान करने वाले थे और उस परम्परा की ही कविता करते थे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु युग में नवीन भावनाओं का अभी आगमन ही हुआ था, अधिकांश कविता प्राचीन रीतिकालीन परिपाटी की ही थी[1]। वास्तव में कवियों में रीतिकालीन कविता-परिपाटी के प्रति विद्वेष की भावना अभी जड़ नहीं जमा पायी थी, हाँ ब्रजभाषा-खड़ीबोली के विवाद के माध्यम से उसके बीजों का बोया जाना आरम्भ हो रहा था। रीति परिपाटी ही इस काल की काव्य-परिपाटी थी इसका सबसे बड़ा प्रमाण है—नूतन भावनाओं तथा रीति परिपाटी का सह-अस्तित्व। सभी कवि अपनी कविता में समयानुकूल नूतन भावनाओं का समावेश करते हुए भी प्राचीन परिपाटी का पूर्ण परिपालन करते पाये जाते थे, रीतिकालीन कविता के प्रति विद्वेष की भावना तथा उसके बहिष्कार का प्रयत्न तो द्विवेदी युग से आरम्भ हुआ। रीतिकालीन कविता का मुख्य रस शृंगार था, यद्यपि वीर, भक्ति, नीति आदि की कविताएँ भी प्रचुर-मात्रा में उस काल में हुई थीं। रीतिकालीन वीर रस का अवसान भारतेन्दु युग की राष्ट्रीयता की भावना में हो चुका था। १८५७ की जनक्रान्ति में कुचले जाने के बाद उग्र वीर रस के लिए स्थान नहीं रहा था। देश की दलित अवस्था ('भारत-दुर्दशा') के करुण चित्रण के माध्यम से कर्म-वीरता की ओर ('नील देवी') संकेत करना भारतेन्दु जी ने आरम्भ कर दिया था। रीतिकालीन वीर रस की भावना का अनुगमन करने का अवकाश भारतेन्दु युग में अधिक नहीं था। इस प्रकार रीतिकाल की शृंगार, भक्ति तथा नीति—उपदेश की भावना (जिसका अधिकांश सुधारवादी भावना के अन्तर्गत आ जाता है) भारतेन्दु युग में उसी रूप में स्वीकृत कर ली गयी थी। रही हास्य की भावना सो उसका स्वरूप पर्याप्त मात्रा में परिवर्तित हो चुका था। रीतिकालीन शुद्ध हास्य तथा परिहास (भंड़ोवा-जो कि केवल मनोरंजन के लिए होते हैं) के स्थान पर भारतेन्दु युग में सोद्देश्य हास्य ('अन्धेर नगरी' तथा 'भारत दुर्दशा' में भारतेन्दु द्वारा प्रयुक्त हास्य) अर्थात् व्यंग रचना की जाने लगी थी। भारतेन्दु युग में हास्य के माध्यम से किसी विशेष दिशा में सुधारवादी व्यंग्य किए जाते थे। रीतिकालीन भक्ति-भावना का स्वरूप भी इस युग में अक्षुण्ण बना रहा—वल्लभ-सम्प्रदायी भारतेन्दुजी स्वयं इसके सबसे बड़े प्रमाण हैं।

---

१. **यदि देखा जाय तो ऐसा कवि कोई न मिलेगा जिसने प्राचीन परम्परा बनाये रखने में थोड़ा बहुत योग न दिया हो। बिलकुल ही नवीन परिपाटी के कवि का कोई उदाहरण नहीं मिलता।, हाँ बालमुकुन्द गुप्त अपवाद स्वरूप अवश्य माने जा सकते हैं।**

—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय-'आधुनिक हिन्दी साहित्य' प्रथम संस्करण, कविता (पुरानी धारा) पृ० १८४-१८५

रीतिकालीन परिपाटी की शृंगारी भावना का पूर्ण अनुगमन भारतेन्दु-युग के कवियों ने किया। यदि यह कहा जाय कि इस काल की शृंगारी भावना अनेक अर्थों में रीतिकाल के शृंगार का पिष्टपेषण मात्र थी तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी[1]। कविता के क्षेत्र में प्राचीन परिपाटी का बोल-बाला था। नूतन भावनाओं तथा शैलियों का सम्यक अनुगमन करने वाले भारतेन्दु ने स्वयं प्रत्येक प्रकार की प्राचीन काव्य-शैलियों का अनुगमन किया था[2]। इन प्राचीन काव्य-परम्पराओं में केवल रीतिकालीन परम्परा का ही नहीं, अपितु संस्कृत की परम्पराओं का अनुगमन भी भारतेन्दु ने किया ; फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मूलरूपेण भारतेन्दु ने रीतिकालीन परम्पराओं को ही अपनाया था। अन्य सब कवियों ने भारतेन्दु का ही अनुगमन किया यह कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। वास्तव में भारतेन्दु युग में कवि भारतीयता से अनुप्राणित थे और रीतिकालीन कवियों के समान वे भी अपने पूर्वजों को मान्यता प्रदान करने में विश्वास रखते थे।

सौन्दर्य-वर्णन :

शृंगार के क्षेत्र में भारतेन्दु-युगीन कवियों ने रीति परम्परा का पूर्ण अनुगमन किया था। (हम पहले देख आये हैं कि ब्रजभाषा की रीतिकालीन कविता का क्षेत्र परम विस्तृत था, सिन्ध तथा बंगाल* को छोड़कर[3] लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत में ब्रजभाषा की कविता होती थी) शिक्षित समाज के लिए की गयी साहि-

---

१. रीतिकाल में शृंगार का विशद विवेचन हो चुका था। उस समय के कवियों ने अपनी प्रौढ़ और स्तुत्य रचनाओं से साहित्य के इस अंग की सर्वाङ्ग पूर्ति कर दी थी। इसलिए इस काल में कवियों को अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाने का कम अवसर रह गया था। प्राचीन साहित्य का जो कुछ प्रभाव शेष रह गया था उसी के अन्तर्गत अब के कवि उसका पिष्टपेषण करते रहे।

(आधुनिक हिन्दी साहित्य, कविताः पुरानी धारा, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० १७८, प्रथम संस्करण, अप्रैल १९४१ ई०)

२. उन्होंने अपने समय की काव्य शैलियों का ही निर्वाह नहीं किया वरन प्राचीन काव्य शैलियों का भी अत्यन्त सफलतापूर्वक पालन किसा है। जयदेव (गीतगोविन्द), कबीर, नाभादास, सूर, मीरा, तुलसी, केशव, बिहारी, देव, रसखान, सेनापति, घनानन्द, बोधा, ठाकुर, मतिराम, पद्माकर, कविन्द आदि की काव्य शैलियाँ उनकी रचनाओं में मिलती हैं·········भाव साम्य ही नहीं वरन अनेक स्थलों पर तो शब्दावली तक में साम्य है।

(डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', आलोचना पृ० १७१)

* बंगाल में भी 'ब्रजवुलि' एक प्रकार से ब्रजभाषा का ही किंचित परिवर्तित रूप थी।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास (प्रवर्धित संस्करण) रामचन्द्र शुक्ल, आधुनिक काल, काव्य खण्ड, पुरानी धारा, पृ० ५७७

त्यिक कवियों की कविता के अतिरिक्त लोक गीतों (होली, रसिया आदि) में भी रीतिकालीन शृंगार वर्णन की परिपाटी स्वीकृत थी। ईसुरी की होलियाँ इसका प्रमाण हैं। बुन्देलखण्डी, रस-प्रवाहक, इस कवि के समय के विषय में कितना ही मतभेद क्यों न हो यह बात सब मानते हैं कि ईसुरी भारतेन्दु-युग में हुए थे।[1] इनके द्वारा अंकित वय-सन्धि, तथा यौवन-काल के सौन्दर्य का वर्णन, रीतिकालीन परिपाटी पर तो है ही[2] कवि की मांसल सौन्दर्यानुभूति का परिचायक भी है। नखशिख का परम सुन्दर वर्णन ईसुरी ने किया है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

---

१. ईसुरी की फागें, प्रकाशक-लोकवार्ता परिषद्, टीकमगढ़,

तथा

मिश्रबन्धु विनोद (चतुर्थ भाग), प्रथमावृत्ति, पृ० १७०

२. (अ) पटिया कौन सुघर नें पारी, लगी देखतन प्यारी।
रंचक घटी बड़ी है नैंयाँ, सांसें कैसी ढारी।
तन रइ आन सीस के ऊपर, श्याम घटा सी कारी॥
ईसुरी प्रान खान जे पटियां, जब सें तकीं उधारी।

(ब) छूटैं नैन बान इन खोरन, तिरछी भौंह मरोरन।
ई गलियन जिन जाओ मुसाफिर, गजब परौ इन खोरन॥
नोकदार बरछी से पैने, चलत करेजे फोरन।
ईसुरी हमने तुमसे कै दई, घायल डरे करोरन॥

(स) कड़वौ आंसत गैल गली कौ, सुघर नार पतरी कौ।
पग के धरतन परत छमाके, छूटत ज्ञान जती कौ॥
छकी फिरत मदरस की माती, ज्यों हाथी मस्ती कौ॥
ईसुर भुमत फिरत भौंरा भे, रस लैबे को ई कौ॥

(द) जुबना कड़ आए कर गलियाँ, बेला कैसी कलियाँ।
ना हम देखे जमत जमी में, ना माली की बगियाँ।
सोने कैसे तबक चढ़े हैं, बरछी कैसी भलियाँ।
ईसुर हाथ संभारे धरियो, फूट न जावे गदियाँ॥

(वय-सन्धि)

(न) जुबना दये राम ने तोरें, सब कोउ आवत दोरें।
आहें नहीं खाँड़ के घुल्ला, पिये लेत ना घोरें॥
का भयौ जात हाथ के फेरें लेत नहीं कुउ टोरें।
पंछी पियें घटी ना जाती ईसुर समुद हिलोरें॥

(ईसुरी की फागें)

प्रकाशक-लोक वार्ता परिषद्।

नख-शिख वर्णन के अन्तर्गत इस काल के कवियों ने शरीर के विभिन्न अंगों का सम्मिलित वर्णन ही नहीं किया है[1] अपितु एक-एक अंग को लेकर स्वतन्त्र उक्तियाँ भी की हैं[2]। नख से शिख तक विभिन्न अंगों का उनका वर्णन रीतिकालीन परम्परा पर ही है। केवल नख-शिख वर्णन तक ही इस काल के कवि ने अपनी अनुभूति को सीमित नहीं रखा अपितु यौवनागम में नारी के सौन्दर्य के उस भार का वर्णन भी किया है जो कि नायिका को अवहनीय तथा प्रेमियों को असहनीय हो जाता है[3]। इस अपरिमित सौन्दर्य के भार को वहन करने वाली नायिका जब अपने श्रृंगार में

---

१. बेनी को बिलोक ब्याल पेट को घिसत सदा,
मुख को बिलोकि इन्दु हीन कला करि है।
काया को बिलोकि कलधौत परै पावक में,
स्रोन को निरखि सीप सागर में परि है।
दसन की दुति देखि दारिम दरार खात,
गोविन्द गयंद गति देखि घूरि धरि है।
ताहि तें कहत तोकों पेट तेरो ढाँप प्यारी,
पेट न दिखाव कौऊ पेट मार भरि है।
(गोविन्द गिल्ला भाई)
('कविता कौमुदी'-द्वितीय भाग, पृ० ५३६-५४०)

२. लली कान्ह रोमावली भली बनी छवि छाय।
मनहुं श्रृंगार की दीन्हीं लीक खंचाइ ।।—रघुराज सिंह
('कविता कौमुदी'-द्वितीय भाग पृ० ५१)
मीन मृग खंजन तुरंग सों चपलताई,
कंज दल ही सों पै सरूप मुद पायौ है।
बेधकपनो है जौन अति अनियारो ताहि,
बानन सौ लैके क्रूरताइं उपजायो है।
स्यामता हलाहल सों मद सों ललाई पुनि,
चारु मतवारोपन लैकें छवि छायो है।
अमिय सों लैके सेतताई जग मोहन को,
बिधना जुगल इन नैनन बनायो है।
शिवबिहारीलाल मिश्र ('मिश्र-बन्धु विनोद', पृ० १६०)

३. अधर रुचिर पल्लव नये, भुज कोमल जिमि डार।
अंगन में यौवन सुभग लसत कुसुम उनहार ।।
लक्ष्मण सिंह जी (कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ५०६)

मणि-माणिक्यों को धारण करके आती है[1] तब कुछ तो शरीर में समाये सौन्दर्य के भार से तथा कुछ चरणों के जावक और गुल्मावलम्बित केश-पाश के भार से[2] उसकी गति वैसे ही मन्द हो जाती है, ऊपर से सौन्दर्य-प्रेमी भावुकों की आँखें उसकी गति में और भी व्यवधान डालती हैं। अपने कमनीय कलेवर में विकसित सौन्दर्य के उभार से स्वयं परिचित तथा अपने अनिंद्य सौन्दर्य की दर्शनीयता से अवगत सुकुमारी कुमारिका जब सौन्दर्य पारखी नेत्रों की भीड़ के मध्य से निकलती है तब उसमें जो स्वाभाविक क्रीड़ा की भंगिमा आ जाती है तथा उसकी गति में जो गज-गमन आ जाता है उसका कवि गंगाधर व्यास ने अनुपम चित्र उतारा है। रीतिकालीन प्रभाव अन्तिम पंक्ति में दर्शनीय है :—

मत्त मतंगन की गति सों गजगामिनि नाम मिल्यो सुखदानी।
त्यों द्विज गंग तजै नहिं ताहि, मराल हँसी भरि है मन मानी।
यों लचि है कच भारन लंक, न मानत संक निसंक दिखानी।
मंद चलै किन चन्द्रमुखी पग लाखन की अंखियाँ उरझानी॥
(गंगाधर व्यास-मिश्रबन्धु विनोद भाग—४)

सौन्दर्य बोध की यह वृत्ति केवल नारी शरीर तक ही सीमित नहीं थी, भारतेन्दु युग के कवियों ने कृष्ण-भक्ति परम्परा के अनुसार 'श्यामसुन्दर' के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन भी किया है।[3] इससे उनकी सौन्दर्यानुभूति की बहुरूपता प्रकट

---

१. आनन मयंक वारी गुनहरि अंक वारी,
भौंहें डर बंकवारी, सौतें उर शारिका।
आनंद करन वारी चित को हरन वारी,
शोभा को करन वारी धारी मनि मालिका।
माधौ बखाने वर अमृत बयन वारी,
नीरज नयन वारी गज मद चालिका।
भृकुटी विशाल वारी प्रीति प्रन पालवारी,
आनी है गुपाललाल ऐसी ब्रज बालिका॥
—माधव सिंह
('मिश्रबन्धु विनोद'—चतुर्थ भाग पृ० १०७)

२. जावक के भार पग परत धरा पै मंद गन्ध भार कचन परी है छूटि अलकें।
द्विज देव तैसियै विचित्र बरुनी के भार आधे आधे दृगनपरी है अधपलकें।
ऐसी छवि देखि अंग अंग की अपार बार बार लोल लोचनसु कौन कन ललकें।
पानिप के भारन संभारित न जात लंक लचि लचि जात कचभारन के हलकें।
—द्विज देव

३. सोहत ओढ़ें पीत पट, श्याम सलोने गात।
मनो नीलमणि सैल पर, आतप परयो प्रभात॥
आतप परयो प्रभात ताही सौ खिल्यौ कमल मुख।

होती है। इनके नख-शिख वर्णन या कहिये सौन्दर्य वर्णन को नायिका भेद के अनुसार भी विभाजित किया जा सकता है। शारीरिक सौन्दर्य की कमनीय अनुभूति की मन मृदुलकारी मोहिनी अभिव्यक्ति जिस प्रकार कि रीतिकाल की विशेषता थी, उसी प्रकार इस भारतेन्दु-युग की विशेषता भी थी। नारी सौन्दर्य संसार-साहित्य का सबसे बड़ा प्रेरक तत्व रहा है और साहित्य के इस परम प्रेरक तत्व (Guiding and moving force) का आश्रय रीतिकालीन कवियों के समान भारतेन्दु युगीन कवियों ने भी लिया था। इस वर्णन में उन कवियों ने उपमानों के क्षेत्र में भी रीतिकाल का ही अनुसरण किया है। प्रेमघन जी की यह उक्ति इसका प्रमाण है :—

भरौ जल सुन्दर रूप अनूप,
सरीरहिं सर स्वच्छ नवीन।
मृणाल भुजा त्रिबली है तरंग,
तथा चकवाक पयोधर पीन।
सजे धन प्रेम भरी रमनी सिर,
बार सवार सिवार अहीन।
अहो यह नाचत है मुख में दृग,
ज्यों इक वारिज में जुग मीन।[1]

इस प्रकार मुख, अधर, कुच, केश तथा नेत्रादि विभिन्न अंगों के सौन्दर्य के वर्णन में रीतिकालीन परिपाटी का पूर्ण परिपालन इस काल के कवियों ने किया था। प्रेमवन जी ने तो कवि-कर्म तथा नारी सौन्दर्य में एकत्व स्थापित करके कविता में उसके (नारी-सौन्दर्य) महत्व को और भी स्पष्ट कर दिया है :—

कुच कठिनाई की कहो तो कौन समता है,
करद कटाछन की काट किहि तौर है।
मृदु मुसुकानि की मजा औ माधुरी अधर
पिय को संजोग सुख और किहि ठौर है॥
प्रेमघनहूँ कों त्यों पियूष वर्षा विनोद,
अनुभव रसिक विचारें करि गौर है।
रहन सहन सुमुखीनि की सु जैसें और,
वैसें सुकवीनि की कहनि कछु और है॥[2]

(६८ का शेष)

अलकभोंर लहराय जूथ मिलि करत विविध सुख॥
चकवा से दोउ नैन देखि इहिं पुलकत मोहत।
सुकवि विलोकहु स्याम पीत पट ओढ़े सोहत॥
—अम्बिकादत्त व्यास

१. प्रेमघन सर्वस्व (प्रथम भाग), हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथमावृत्ति पृ० २१२
२. वही, पृ० २०२।

इस प्रकार परम रसिक प्रेमघन जी ने सौन्दर्यानुभूति तथा भावाभिव्यक्ति का सुन्दर सम्बन्ध स्थापित किया है। परम्पराबद्ध उपमानों के प्रयोग के साथ दूर की कौड़ी लाने की प्रवृत्ति के दर्शन भी हमें उस काल के काव्य में होते हैं[1]। नारी-सौन्दर्य के चित्रण में प्रयुक्त विभिन्न रीतिकालीन परम्परा के दृश्यों तथा चित्रों (सद्यस्नाता आदि[2]) को भी हम इस युग की कविता में पाते हैं।

शृंगार-वर्णन के अन्तर्गत मिलन तथा विप्रलम्भ शृंगार की विभिन्न अवस्थाओं का विस्तृत चित्रण इस काल के कवियों ने किया था। संयोग-शृंगार के अन्तर्गत विभिन्न मधुर चित्रों की कल्पना भी की गयी।

प्रिय को देखते ही प्रिया के संभ्रम का चित्र तथा इस संभ्रम की अवस्था में प्रिया को थकित सा देखकर प्रिय की अनुरागपूर्ण अनुकम्पा का चित्र देखिए :—

मुख देखत ही मन मोहन को अति सोहन जोहन लागी जबै।
नहि नैन हियै नहिं बैन चलै नहिं धाय मिलै नहिं शीश नवै॥
व्रजलालन हाल लख्यो अरु लाल उतार लियो उरमाल तबै।
रस रास विलास में हास हुलास सों पूरण के हिय आए सबै।[3]

—रघुराज सिंह

---

१. शम्भू कहैं कवि दाड़िम श्रीफल,
कंज कली पै अली छबिया हैं।
दुन्दुभी दोय धरी उलटी,
चकई चकवा की मिसाल दिया है॥
त्यों घनप्रेम कहैं घट हेम कोऊ,
पर झूठी सबै बतियाँ हैं॥
काम के बान की ढाल बनी,
छतिया पै दौऊ कुच ये फुलिया है॥
(प्रेमघन सर्वस्व, पृ० २१६—कुच-वर्णन)

२. उमंग सो संग अलीन अन्हाय
कढ़ी तजि गंग तरंगनि बाल।
लसै जल भीजि दुकूल अनंग से
अंगन की छबि छाय कमाल॥
पयोधर पीन पे यों लटकी
घनप्रेम घिरी घन सी लट जाल।
लखो लहि प्यार अपार महेसहिं,
चूमि रहे जनु व्याल विसाल॥
(वही, पृ० २१७)

३. कविता कौमुदी, पहला भाग, छठां संस्करण, पृ० ५१६।

प्रिया की क्रीड़ाजन्य थकित अवस्था को दूर करके प्रियतम ने हिंडोरा सजाया। झूला झूलने का चित्र रीति-परम्परा में (कृष्ण-भक्ति के प्रभाव से) परम प्रसिद्ध था। इस युगल मूर्ति में प्रेम के भाव का विकास अवश्यम्भावी है ही :—

मन भावन छैल छबीलो लखै इत राधिका प्रेम प्रभा सौ सनी,
उत कान्ह बजावत बांसुरिया दुहुं ओरन सों सुषमा है घनी।
इत राधिका झूलत झूला भले, चमकें जुत भूषण जामें कनी,
जड़ी हीरन सों गहने पहने छबि देखिये जोरी अनूप बनी।[1]

नायक तथा नायिका (जोकि बहुधा रीतिकालीन परिपाटी के अनुसार राधा और कृष्ण हैं) परस्पर सामीप्य के सुख का लाभ करते है तथा प्रिय सर्वदा, सर्वथा, प्रेयसी के सुख-भाग का ध्यान रखता है और उसके श्रम-स्वेद निवारण में रत रहता है।[2]

यही नहीं नायक अपनी प्रेयसी का अपने हाथों शृंगार भी करता है[3] ('फूलनि सो बाल की बनाइ गुही बेनीलाल, भाल दीन्हीं बेंदी मृगमद की लसति है'; सेनापति-समान) तथा इस परस्पर की 'रहस-कूद' में प्रेम को पुष्टता प्राप्त होती जाती है।

कृष्ण, परम्परा से छलिया हैं और क्रीड़ा के अवसर खोज निकालने के लिए विभिन्न प्रकार के षडयन्त्र किया करते हैं। नौका-विहार का बहाना करके कृष्ण ब्रज-गोरी को 'निरजन-वन-तट' पर ले जाते हैं, और मनभायी क्रीड़ा करते हैं।[4]

---

१. मिश्रबन्धु विनोद, चतुर्थ भाग; प्रथमावृत्ति, पृ० १८०

२. कलित कलिंदी कूल कुंजन कदम्बन की, अंबन की लतिका लुनाई छांह बट की।
दारुन तपन ताप ग्रीषम की भीषम में, बैठे तहाँ आनंद अनूप छबि नटकी॥
राधे मुख इंदु पै विलोकि स्वेद विंदु प्यारो, करत समीर धीर लैके पीत पटकी।
काहू दल कढ़े तरुन मरीचि तहाँ, लटक छबीलो छांह छावत मुकट की॥
गौरीशंकर गुरु (कवीन्द्र)

३. चूनि के चूनरी है पहिरावति भाव कै जावक देति है पैंया।
आपने हाथन पाटी संवारि सिंगार के हैं नित लेति बलैया॥
कैसी भई कछु जानि परै नहीं श्रीकवि पूछे पै भाषित है या—
जीवन नाथ की जीवन मूरि पे मेरिऊ जीवनमूरि है दैया॥
—विजयानन्द त्रिपाठी

४. हमें तुम दैहो का उतराई।
पार उतारि देंहि जो तुमको करिके बहुत खेवाई॥
जोबन धन बहु हैं तुम्हरे ढिग सो हम लेंहि छोड़ाई।
हम तुम्हरे बस हैं मन मोहन जो चाहौ सो करो कन्हाई॥
निरजन वन में नाव लगाई करी केलि मन भाई।
हरीचंद प्रभु गोपी नायक जग जीवन ब्रजराई॥
(भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २, प्रेम मालिका, पृ० ६४)

प्रथम खण्ड में देख चुके हैं—रीतिकालीन शृंगार परम्परा पर कृष्ण की माधुर्य भाव की भक्ति (विशेषकर युगल-स्वरूप वाली भक्ति) का प्रचुर प्रभाव पड़ा था—इस कारण शृंगार के क्षेत्र में कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का समावेश भी स्वभावतः हो गया था।

भारतेन्दु-युग में कृष्ण की चीर-हरण आदि लीलाओं का मधुर शृंगारी-वर्णन किया गया था :—

तोरत हार कंचुकी फारत चढ़त कदम पैं धाई।
पुनि पाछे तें पीठ मलत है ऐसो ढीठ कन्हाई।।
गारी देत कह्यौ नहिं मानत हाथ नचावत आई।
हम जल में नाँगी सुकुचाहीं सुनहु जसोदा माई।।
तुम निज सुत के गुन नहिं जानत कहत लाज अति आवै।
हरीचंद वरजति नहिं काहे नित नित धूम मचावे।।६२।।
(भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० ७१)

संयोग-शृंगार के अन्तर्गत संभोग वर्णन में रति-क्रीड़ा का चलन था भारतेन्दु जी ने रति-क्रीड़ा का प्राचीन परिपाटी पर सम्यक चित्रण किया है[1] और प्रेमघन जी भी उनसे पीछे नहीं है। प्रेमघन जी के वर्णनों पर रीति-परिपाटी समान कोकशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट है :—

सिसकीन सुधा बरसावै मनौ,
मुरि मारति मोहनी मूठ भरी।
कर दोऊ दवाय कें नीबी उरोजन,
जंघन जोरि जनो जकरी।।
धन प्रेम घिरी पिय अंक में आय,
ससंक मयंक मुखी निखरी।
जनु जाल मैं जाय परी सफरी सी,
परी उघरै सजी सैज परी।।

---

१. निविड़ तम पुंज अति श्याम गहवर कुंज
राधिका श्याम तहँ केलि सुन्दर रची।
परम अंधियार मधि उदय मुख चंद को
करत तम दूर सब भाँति सोभा सची।।
हार हिय चमकि उडुगनन की छबि हरत,
करत किंकिन चुरी शब्द मनिगन खची।
लखत हरिचंद सखि ओट ह्वै सुरति सुख,
काम कामिनी काम गरब गति नहिं बची।।
(भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा भाग पृ० ७२)

इस प्रकार के वर्णनों के अतिरिक्त दीर्घ-विरह-दग्धा नायिका के प्रिय-मिलन के चित्र भी पाये जाते हैं जिनमें मानव-प्रकृति तथा शेष-प्रकृति से साम्य की भावना का संकेत है[१]। प्रिय के संसर्ग से दुखदायी वस्तुएँ भी सुखदायी हो जाती हैं, इसीलिए अग्निवर्षा करता हुआ सूर्य पीयूषवर्षी सुधाकर के समान हो जाता है तथा प्रिय के मिलते ही जेठ की जलाने वाली दुपहरिया मधुरिमा सिक्त शरद-निशा में परिवर्तित हो जाती है। मानव अपनी भावना का आरोप प्रकृति पर कर लेता है, इसी कारण प्रकृति उसे सुख में सुन्दर तथा दुख में भयंकर सी लगती है।

रीतिकालीन श्रृंगार पर कुछ सीमा तक कोकशास्त्रीय काम-कला का प्रभाव था इसी कारण भारतेन्दु-युग में भी संभोग-श्रृंगार के वर्णन के अन्तर्गत विपरीत-रति का वर्णन पाया जाता है।[२] संभोग-श्रृंगार के वर्णन में विपरीत-रति-रत नायिका की मुद्रा तथा क्रीड़ा का यथातथ्य (आजकल के अनुसार कहिये यथार्थवादी) चित्रण रीति-परम्परा में अपना एक विशेष स्थान रखता था इस कारण श्रृंगारी कवि उसका सम्यक चित्रण करते आये थे और भारतेन्दु-युग के अनेक कवियों ने ऐसा ही किया।[३]

---

१. केलि के सदन सों गहन भयौ वासवारो, त्रिविध समीर सी बयारि भयी लहरी।
भूमि भई सेज सी, पराग अंगराग सो भो ग्रीवा भयो-गडुआ सो भार सो मसहरी॥
श्री कवि संकाने विरहागि झरसाने दोऊमिलि सरसाने को बखाने प्रीति गहरी।
सूर भयो चन्द्र सो प्रकाश भयो चांदनी सो शरद निशा सी भई जेठ की दुपहरी॥
—विजयानन्द त्रिपाठी

२. साजि सेज रंग के महल में उमंग भरी
पिय गर लागी काम-कसक मिटाएँ लेत।
ठानि विपरीत पूरी मैन के मसूसन सों,
सुरत समर जयपत्रहिं लिखाएँ लेत।
हरीचंद उझकि उझकि रति गाढ़ी करि,
जोम भरि पियहि झकोरन हराए लेत।
याद करि पीकी सब निरदय घातें आजु,
प्रथम समागम को बदलो चुकाएं लेत॥१०२॥
(भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २, पृ० १६९)

३. बहत सुगन्ध सीतल समीर जहां भृंग पुंज गुंजित निकुंज के कुटीर में।
रति विपरीत रची दम्पति सप्रीति तहाँ झुकि झुकि झूमि झूमि कीरति लली रमें।
भनत विजयानन्द विथुरति केश पाश बगरयौ तिया के गौर सुन्दर शरीर में।
जनु कनकारविन्द लुंठित सेवारन से मन्द मन्द डोलत कलिन्दजा के नीर में।
—विजयानन्द त्रिपाठी।
('कविता-कौमुदी,' दूसरा भाग, सम्पादक-रामनरेश त्रिपाठी, चौथा संस्करण १९३६ ई० पृ० ७३)

संभोग-शृंगार के वर्णन में ही 'सुरतिश्रम' तथा 'सुरति-अन्त' के वर्णन की व्यवस्था है। भारतेन्दु-युग के भारतेन्दु आदि कवियों ने इस विषय पर भी अनेक छन्द और पद लिखे थे[१] जिन पर रीतिकालीन परम्परानुसार काम-शास्त्र का सांकेतिक प्रभाव प्रचुर मात्रा में अवगत होता है।

शृंगार-वर्णन में संयोग से प्रेम-रस की पुष्टि तो होती है किन्तु प्रेम को मंजिष्ठा-राग विरह की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही मिलता है* इसी कारण विरहिणी के लिए अपने प्रिय का दग्धकारी विरह भी अमूल्य तथा प्रिय होता है। प्रिय के विरह में प्रेमी की अवस्था कैसी दयनीय हो जाती है :—

जौ तन हो गयो सूक छुआरौ
वैसइ हतऔ इकारौ,
रै गई खाल हाड़ के ऊपर
मकरी कैसो जारौ।
तन भऔ बांस, बांस भऔ पिंजरा
रकत रऔ ना सारौ॥
(ईसुरी की फागें)

विरहिणी का मन मानों प्रिय के निकट उड़ उड़ जाता है और उसका यह शरीर निरन्तर अनमना सा रहता है। इस प्रकार मन के भाग जाने से अनमनी हुई किसी नायिका का, कवि यों वर्णन करता है :—

---

१. राग विहाग

आजु कुंज विहरत दोऊ रस भरे, प्रिया ब्रजचंद संग चतुर चन्द्रावली।
सुरति श्रमस्वेद मुख परस्पर वढयौ सुख टूटि रही उरसि मुकुतानि हारावली॥
गिरत तन बसन नहिं थिरत बेसरि तनिक खसित सुभ सीस ते कलित कुसुमावली।
(भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक—ब्रजरत्नदास, पृ० ५३)

तथा

(राग ईमन)

आजु मैं देखे री आली री दोऊ मिलि पौढ़े ऊंची अटारी।
मुख सों मुख मिलाइ बीरी खात रंग भरि नवल पिया प्रान प्यारी॥
चांदनी प्रकास चारु ओर छिरकाव भयो सीतल चहुं दिसि चलत बयारी।
हरीचन्द सखीगन करत बिंजना जानि सुरति श्रम मारी॥५४॥
(वही, पृ० ६१)

*न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्ठिमश्नुते।

भूली सी भ्रमी सी चौंकी जकी सी थकी सी गोपी,
दुखी सी रहत कछू जाहीं सुधि देह की ।
मोही सी लुभाई कछु मादक सी खाए सदा,
बिसरी-सी रहै नैक खबर न गेह की ।।
रिस भरी रहे कबौं फूलि न समाति अंग,
हँसि हसि कहै बात अधिक उमेह की ।
पूछे तो रिसानी होय उत्तर न आवे तोहि,
जानी हम जानी है निसानी या सनेह की ।।
('भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,' ब्रजरत्नदास, विरह-वर्णन, पृ० ३१२)

विरह का पूर्वराग-पक्ष कितने कौशल से कवि ने वर्णित किया है। नायिका के मन तथा शरीर की अनमनी शून्यता मानों मुखर हो उठी है। मुद्रांकन देखने योग्य है।

प्रवासी प्रिय के मिलन के लिए आतुर प्रेयसी, अपने प्रिय के मिलन के लिए किस कष्ट और संकट पर आरूढ़ होने को प्रस्तुत नहीं होती? अपनी कृशकाया के भार को उठाये असम्भव परिस्थितियों में भी विरहिणी नायिका प्रिय के मिलन के लिए आतुर रहती[1] है, यही उत्कट अभिलाषा से युक्त, व्यग्रता-मिश्रित, मिलन की लगन प्रेम की डोर को पुष्ट करने वाली होती है।

इस प्रकार की अवस्था में सम्पूर्ण प्रकृति ही मानो विरहिणी के विरोध के लिए सन्नद्ध खड़ी रहती है। प्रिय के विरह के समय 'घहरि घहरि' कर आने वाले तथा 'छहरि छहरि' कर बरसने वाले मेघ मानों अपना करतब दिखाने को व्याकुल रहते हैं। 'मुश्किलें इतनी पड़ीं मुझ पर कि आसाँ हो गईं' के अनुसार इस दुखाधिक्य से अभिभूत नायिका स्वयं अपने शत्रुओं को अपना कौशल दिखाने के लिए आमंत्रित करती है।[2]

---

१. काले परे कोस चलि चलि थक गये पाय सुख के कसाले परे ताले परे नस के।
रोय रोय नैनन में हाले परे जाले परे मदन के पाले परे प्रान परबस के।।
हरीचंद अंगहू हवाले परे रोगन के सोगन के भाले परे तन बल खस के।
पगन में छाले परे नांघिवे को नाले परे तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के।।
(भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ३२२)

२. घहरि घहरि घन सघन चहूंधा घेरि छहरि छहरि विष बूंद बरसावै ना।
द्विजदेव की सो अब चूक मत दांव अरे पातकी पपीहा तू पिया की धुनि गावैना।
फेरि ऐसो अवसर न ऐहै तेरे हाथ एरे मटकि मटकि मोर सोर तू मचावै ना।
हौं तो बिन प्रान, प्रान चहत तज्यो अब कत नभचन्द्र तू अकाश चढ़ि धावै ना।।
—द्विज देव

परम्परा से चली आती विप्रलम्भ-शृंगार-वर्णन पद्धति में 'दौत्य' का अपना विशेष महत्व है। इस दूती की भावना को लेकर संस्कृत तथा हिन्दी में अपरिमित कविता हुई है। हंस, मेघ, पवन आदि प्रकृति के उपकरणों तक का प्रयोग दूत-कर्म के लिए साहित्य में किया जाता रहा है। मेघदूत में विरही यक्ष की भावना का परम सुन्दर चित्रण इसी प्रकार किया गया था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का इसका वर्णन देखिए :—

अरे पौन, सुख भौन सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यों न कहौ राधिका रौन सौं मौन निवारो॥
अहों! भंवर तुम श्याम रंग मोहन व्रत धारी।
क्यों न कहौ वा निठुर श्याम सों दसा हमारी॥
अहो हंस, तुम राजबंस सरवर की सोभा।
क्यों न कहौ मेरे मानस सों दुख के गोभा॥[1]

प्रेमघन जी ने उसी भावना को इस प्रकार चित्रित किया :—

वा दिन अकेली जो नवेली मिली कुंज जिहि,
मोह्यो तुम बांसुरी बजाय मीठे सुर सो।
प्रेमघन प्रेम दरसाय रस बरसाय,
मन्द मुसुकाय के लगाई जाहि उर सों॥
नित मिलबे की आस देकें सुधहू ना लई,
भरन चहत अब सो विरह ज्वर सों।
मीत मन मोहन के, मिलें मन मोहन तौ,
टेरि कहि दीजो एती बात वा निठुर सों[2]॥

(निठुराई का उपालम्भ भी इस सन्देश में आ गया)

कहने को तो सन्देश कहलवा दिया किन्तु क्या उस सन्देश के द्वारा विरहिणी की अवस्था का आभास दिया जा सकता है? प्रिय के विरह में दग्ध नायिका का दुख कुछ इस प्रकार का है कि उसका अनुभव ही किया जा सकता है। नायिका यदि स्वयं चाहे तो भी मन की उस मसोस देने वाली घुटन का वर्णन नहीं कर सकती जो कि उसके अस्तित्व के दम को घोंटे डालती है। यह विरह का दुख कुछ ऐसा ही अनिर्वचनीय सा बताया है—भारतेन्दु[3] ने। बेपीर मनमथ, मन को मथ कर सर्वदा

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, ब्रजरत्नदास, विरह-वर्णन, पृ० ३१५

२. 'प्रेमघन सर्वस्व', प्रथम भाग, विरह, पृ० २१४, २१५

३. मन मोहन तें बिछुरी जब सों, तन आंसुन सों सदा धोवती हैं।
हरिचन्द जू प्रेम के फंद परी, कुल की कुल लाजहि खोवती हैं।
दुख के दिन कों कोउ भांति बितै, विरहागम रैन संजोवती हैं।
हमहीं अपुनी दशा जानें सखी, निसि सोवती हैं किधों रोवती हैं।
('भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,' ब्रजरत्नदास, नवीन रस, पृ० २७४)

अधीर बनाये रखता है विरहिणी अपनी इस अवस्था को तो भली भाँति जानती है, यदि उसका मीत भी उसके विरह में कुछ थोड़ा-सा व्याकुल होता तो विरहिणी को कितना सन्तोष मिलता :—

तो मन की जानत नहीं, अहो मीत बेपीर।
पै मो मन को करत नित, मनमथ अधिक अधीर ।।

—लक्ष्मण सिंह

('कविता-कौमुदी' प्रथम भाग, पृ० ५२६)

पूर्व-राग तथा प्रवास के अतिरिक्त शृंगार की रीति में 'मान' भी विरह के अन्तर्गत आता है। नायिका-भेद के अनुसार प्रिय की निठुराई या शठता (सवति-प्रेम) के कारण नायिका प्रिय से मान कर बैठती है, फिर नायिका को मान न तोड़ने की हठ पड़ जाती है और प्रिय उसकी अनुनय विनय करता है। नायिका को अपनी हेठी होने का संकोच रहता है और इसीलिए जब तक नायक को वह भलीभाँति छका नहीं लेती तब तक अपना मान भंग नहीं करती। परम्परानुसार नायक नायिका के पैर तक पड़ता है तब सखी नायिका को मान छोड़कर प्रिय को गले लगा[1] लेने का उपदेश देती है। विरह तो अन्ततः विरह ही है वह चाहे प्रवास-जन्य हो अथवा मान-जन्य चित्त को क्षुब्ध करने वाली प्यास तो वह सर्वदा जगाता ही है, इस कारण प्रवासजन्य विरह में जो प्रकृति परम-क्लेश-दायिनी हो जाती है वही मान में नायिका के चित्त को मिलनोत्कण्ठा से व्याकुल करके उसे मान-त्याग को बाध्य करती है; किन्तु फिर भी 'शरम की सौदा' अनायास मान-त्याग में नायिका को संकोच होता है तब सखी उसकी संयोगाभिलाषा को उद्दीप्त करके उसे मान-त्याग के लिए प्रेरित करती है :—

मान कही, तजि मान लसौ, शुभ सूहे दुकूल सिंगार सजीजै।
सावन में मन भावन के हिय सों लगि के अधरामृत पीजै ।।
यों बरसै घन प्रेम रसै हरसै हिय ह्वै बस पीय पसीजै।
सीख सयानी सुनो सजनी यहि मास में सीरी उसास न लीजै ।।[2]

इस प्रकार हमने देखा कि कैसे रीति-परिपाटी का अनुगमन करके भारतेन्दुयुगीन कवियों ने प्रेम के मिलन तथा विरह पक्षों का वर्णन किया है। विरह, मिलन आदि मानव की मानसिक स्थितियाँ हैं उनका चित्रण मानव प्रकृति के

---

१. **पाय परे पिय को झिझकारत तानति भोहनि मान मनावन।**
सावन मैन जगावत है सुन सोर लगे वन मोर मचावन ।।
छाय रह्यौ घन प्रेम प्रभाय, चहूं विरही हियरा हहरावन।
छाड़ि संकोच औ सोच सबै बलि बेगहि वीर मिलौ मन भावन ।।
—'प्रेमघन सर्वस्व' प्रथम भाग, पृ० २१८

२. **प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, पृ० २१८**

आभ्यन्तर चित्रण के अन्तर्गत आता है। नख-शिख तथा शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन मानव के बाह्य स्वरूप का चित्रण है। मुद्रांकन में शरीर तथा मुख की विशेष अवस्था मानव के मन के भावों को प्रतिबिम्बित करती दिखायी जाती है और इस लिए मुद्रांकन में बाह्य तथा अन्तर्प्रकृति का साम्य उपस्थित किया जाता है। मानव-प्रकृति के वर्णन की इन तीनों पद्धतियों का स्वरूप हमने देख लिया अब रही मानवेतर प्रकृति अथवा 'शेष सृष्टि'। उसका विवेचन कर लेने पर भावक्षेत्र के 'रूप-वर्णन' पक्ष का विवेचन पूर्ण हो जायगा।

आज प्रकृति-चित्रण की अनेक परिपाटियों का हम विवेचन करते हैं, जैसे आलम्बन रूप में, उद्दीपन रूप में, अलंकार रूप में प्रकृति का वर्णन तथा प्रकृति का मानवीकरण, प्रकृति में अनन्त-सत्ता के संकेत आदि। प्रथम खण्ड में हम देख आये हैं कि रीतिकाल में प्रकृति का आलम्बन-रूप में प्रयोग सेनापति आदि कवियों में पाया जाता है, वैसे रीति-परिपाटी में प्रकृति-चित्रण उद्दीप के लिए ही अधिक हुआ करता था, और उसकी षट्ऋतु-वर्णन की परिपाटी सी बंध गयी थी। भारतेन्दु-युग में श्रीधर पाठक ने प्रकृति का आलम्बन रूप में ('कश्मीर सुषमा') सुन्दर चित्रण किया। उनके इस चित्रण को हम सेनापति के आलम्बन-रूप चित्रण से किंचित भिन्न मानते हैं। सेनापति ने ऋतुओं का सूक्ष्म निरीक्षण करके फिर कल्पना के आधार पर उनका आलम्बन रूप में स्वतन्त्र चित्रण किया था किन्तु पाठक जी ने (विशेषकर आगे चलकर द्विवेदी युग में) जो प्रकृति-चित्रण किये वे बहुधा किसी वास्तविक दृश्य को देखकर यथार्थ के आधार पर किए गए प्रकृति वर्णन हैं।

पाठक जी को छोड़कर भारतेन्दु-युग के कवियों ने रीतिकालीन परिपाटी के अनुसार प्रकृति के उद्दीपन-स्वरूप पर ही अधिक ध्यान दिया। वैसे स्वयं भारतेन्दु जी ने यमुना-वर्णन आदि प्रसंगों में प्रकृति की शोभा का वर्णन करने का जो प्रयत्न किया है वह आलम्बन के रूप में ही है किन्तु उसकी शैली, 'वस्तु-परिगणन मात्र की' ही है तथा उसमें अलंकारों का आश्रय अधिक लिया गया है। कवि ने कोई संलिष्ट चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न नहीं किया है।[1] इस प्रकार के प्रकृति चित्रों का प्रयोग रीतिकाल में बहुधा हुआ करता था; विशेषकर वहाँ, जहाँ लक्षण-ग्रन्थों में प्रकृति-चित्रण के उपकरणों का वर्णन होता था।

---

१. **तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए।**
झुके कूल सौं जल परसन हित मनहुँ सुहाए॥
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज-निज शोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप बारन तीर कों सिमिट सबै छाए रहत।
कै हरि सेवा हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत॥

प्रकृति के स्वतन्त्र वर्णन के स्थान पर शृंगारी परिपाटी में प्रकृति को उद्दीपन के रूप में अधिक देखा गया था, इस कारण ऋतुओं का वर्णन विरही तथा विरहिणियों के मन की मिलन की अभिलाषा को उद्दीप्त करने के लिए अधिक किया जाता था। ऋतुएँ इस प्रकार भावनाओं के उद्दीपन का साधन हो जाती हैं, स्वयं वर्ण्य-विषय नहीं बनतीं। कहीं तो वे (संयोग की अवस्था में) प्रेमियों के मन के अनुराग तथा आकर्षण को बढ़ाती पायी जाती हैं तो कहीं पर अपने विभिन्न स्वरूपों से विरहिणी के मन को अधिकाधिक तप्त करती देखी जाती हैं। प्रिय की अनुपस्थिति में विरहिणी किसी भी ऋतु में तो चैन नहीं पाती :—

बरखा बिताई सारी सरद सकेलि आयी, दुखदायी रजनी वियोगिन विचारै की।
विलखि हिमन्तहू को अन्त कियो कोऊ विधि, सिसिर सिरान्यों आस आवन अवारे की।
उमड्यो उदधि रस जाग्यो अनुराग राग, पायी ना खबर अजों प्रेमघन प्यारे की।
कैसे धरो धीर बलबीर बिन बीर लखि, वनी बांकी बनक बसन्त बजमारे की॥[1]

और ये 'बजमारी' ऋतुएँ कैसी 'बनक' में सजकर जाती हैं। मानो विरहिणी को दुख देने के अतिरिक्त इन्हें अन्य कोई कार्य ही न हो। ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत अन्य सब ऋतुओं का वर्णन तो होता ही है किन्तु पावस तथा बसन्त का उद्दीपन की दृष्टि से अपना विशेष महत्व होता है। इन ऋतुओं में पिय-मिलन की ललक प्रेयसी के मन को विशेष रूप से लालायित करती है। बसन्त में प्रिय के विरह की चर्चा मात्र प्रेयसी के चित्त को उद्वेग से आपूरित कर देती है[2] :—

बगियान बसन्त बसेरो कियो, बसिये तिहि त्यागि तपाइये ना।
दिन काम कुतूहल के जे बने, तिन बीच वियोग बुलाइये ना॥
धन प्रेम बढ़ाय के प्रेम अहो, विथा-वारि वृथा बरसाइये ना।
चितै चैत की चाँदनी चाह भरी, चरचा चलिबे की चलाइये ना॥

(७८ का शेष)

कै पिय पद उपमान जानि एहि निज कर धारत।
कै मुख करि बहु भृंगन प्रिय अस्तुति उच्चारत॥
कै ब्रज तियगन बदन कमल की झलकत झांई।
कै ब्रज हरिपद परस हेत कमला बहु आई॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रजमण्डल बगरे फिरत।
कै जानि लच्छमी-भौन एहि करि सतधा निज जल धरत॥

(भारतेन्दु नाटकावली, 'श्री चन्द्रावली'। सम्पादक—ब्रजरत्नदास, पृ० २२४-२२५)

१. 'प्रेमघन सर्वस्व', प्रथम भाग, पृ० २२१

२. वही, पृ० २१८

ऐसे मादक मधु-मास में जिस अभागी का मीत उससे विलग होता है उसका 'करेजा' तो कोयल की प्रत्येक कूक ने टूक टूक होता रहता है।[1] वसन्त के सहज सुन्दर उपकरण प्रिय-विरह में नायिका को अंगार तथा केहरि-नख के समान दुखदायी प्रतीत होते हैं; वर्णन पूर्णरूपेण परम्परा भुक्त हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है।

वर्षाकालमें विरहिणी जैसे ही भूमि की हरियाली को देखती है अथवा शीतल पवन का अनुभव करती है वैसे ही वह जान जाती है कि अब वर्षा आने वाली है और 'निगोड़ी' वर्षा प्रिय के अभाव में सुख वर्षा थोड़े ही करेगी[2] ? वह तो अपने विभिन्न उपकरणों के माध्यम से अनुपस्थित प्रिय की विभिन्न प्रकार की स्मृतियाँ उपस्थित करके[3] मन को और भी आवेगमय बना देगी। प्रिय के अंगोपांगों तथा प्रिय की वेष-भूषा के सजीव चित्रों को सामने लाने वाली वर्षा इसीलिए तो दुखदायी है, और इसीलिए वर्षा का आगमन परम्परा से उसके (वर्षा के) 'आक्रमण' के रूप

---

१. आग जनु लागी गुले लाल अवलीन,
कचनार औ अनारन पै बरसि रहे अंगार।
बौरी अमराई करि बौरी सी दई धों दई,
सुमन पलास नख केहरि सो करें वार॥
प्रेमघन यों बन बधिक बसन्त प्रान,
विरही बचैंगे विधि कौन कहिये विचार।
टूकैं के करेजे हिय हूकैं दे अचूकैं हाय,
लागी काली कोयलें कुहूकैं बैठि डार डार॥

२. हरी भई भूमि सीरी पवन चलन लागी,
लखि हरिचंन्द्र फेर प्रान तरसै लगे।
फैरि झूमि झूमि वरषा की रितु आई फेरि,
बादर निगोरे झुकि झुकि बरसै लगे॥
('भारतेन्दु ग्रन्थावली' भाग २, प्रेम माधुरी, पृ० १४६)

३. देखि घनस्याम घनस्याम की सुरति करि,
जिय में बिरह घटा घहरि घहरि उठे।
त्यों ही इन्द्र धनु वगमाल देखि बनमाल,
मोतीलर पिय की जिय लहरि लहरि उठे॥
हरीचंद मोर पिक धुनि सुनि बंशी नाद,
बांकी छबि बार बार छहरि छहरि उठे।
देखि देखि दामिनि की दुगुन दमक पीत,
पट छोर मेरे हिय फहरि फहरि उठै॥
('भारतेन्दु हरिचन्द्र'-ब्रजरत्नदास, पृ० २६२)

में चित्रित किया जाता रहा[1] है। सूर, जायसी, तुलसी, केशवादि भक्तिकाल के कवियों ने वर्षा का 'मदन रूपी शत्रु' की सेना से रूपक बाँधा है। वर्षा को लेकर भारतेन्दु जी ने नायिका की विभिन्न मन:स्थितियों की सुन्दर कल्पना की है। कोई कोई ऐसा निष्ठुर प्रिय भी होता है जो कि मधुमास तथा पावस में भी यात्रा की ठान बैठता है, ऐसे प्रिय के 'मनावने' करने पर भी न मानने पर प्रेयसी की कातर पुकार उसके हृत्तल से उमड़ कर बह निकलती है और किसी ऐसे हितू की खोज करती है जो कि 'पटुका पकड़ के' प्रिय को प्रवास से विमुख कर[2] सके।

जिस नायिका का प्रिय पहले से ही प्रवासी हो गया है सुहावनी वर्षा के आरम्भ पर उसके मन में प्रिय के सन्देश (ही सही) की प्राप्ति की अभिलाषा जाग उठती है[3]।

वैसे तो शृंगारी परम्परा के कवियों के द्वारा उद्दीपन के हेतु प्रकृति के विभिन्न रूपों तथा समाज में मनाये जाने वाले विभिन्न उत्सवों का प्रयोग किया जाता है[4] किन्तु मधुमास तथा पावस शृंगारी कविता में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो दोनों में कुछ ऐसी विशेषताएँ तथा कुछ ऐसे साम्य तथा भेद हैं कि उनका प्रयोग काव्य में अवश्यम्भावी हो गया है। आज की आधुनिक कविता भी इसका अपवाद नहीं है।

वसन्त अपनी नैसर्गिक सौन्दर्यपूर्ण कमनीयता के कारण विरहिणी के मन में स्मृति के माध्यम से अभिलाषा को जगाता है, उस अभिलाषा की अपूर्ति के कारण

---

१. हम पै बैरिन वर्षा आयी, हमें बचा लेव माई।
चढ़ के अटा घटा ना देखें, पटा देव अंगनाई॥ (ईसुरी)
('मिश्रबन्धु विनोद,' च० भा० पृ० १७१)

२. अगगग अगगग अगगग घन गरजै सुनि मोरा जिय लरजै।
जुगनूँ चमकै बादल रमकै बिजुरी दमकै झमकै तरजै॥
ऐसे समय चले परदेसवाँ पिय नहिं मानत मोरी अरजै।
ऐसन नहिं कोइ पटुका गहि कै पिय हरिचंदहिं जौ बरजै॥
('भारतेन्दु ग्रन्थावली'-भाग २, वर्षा-विनोद पृ० ४८७)

३. पिय गए विदेश संदेस नहिं पाय सखी मन भावनी।
लाग्यो असाढ़ वियोग बरसा भई अरम्भ सुहावनी॥
(वही, बारहमासा) पृ० ५०७।

४. होरी नाहक खेलूँ मैं वन में, पिया बिनु होरी लगी मेरे मन में।
सूनो जगत दिखात श्याम बिनु विरह-विथा बढ़ी तन में।
पिया बिनु होरी लगी मेरे में॥६३॥
(वही, होली, पृ० ३८४)

नारी के मन की स्वाभाविक लालसा घुटन तथा चिड़चिड़ाहट में परिवर्तित हो जाती हैं। फलतः बसन्त के प्रति रोष तथा क्रोध की भावना का चित्रण भी नायिका के मन में किया जाता है। बस यहीं तक मनोविश्लेषण के आधार पर बसन्त का उद्दीपक स्वरूप समाप्त हो जाना चाहिए ; नायिका के मन में बसन्त के प्रति भय की भावना का चित्रण (केहरि नख आदि के प्रयोग के द्वारा) करना उचित नहीं होता। प्रिय की अनुपस्थिति में भय की भावना को प्रेरित करना तो वर्षा का कार्य है। मेघों का, गम्भीर भयदायिनी घुमुड़-घुमुड़ के साथ अचानक 'विकट पटह' समान निर्घोषित हो उठने वाला स्वरूप, विद्यु ल्लता की लपक तथा वज्रसमान कड़कड़ाहट, सूची-भेद्य अन्धकार में लिपटी यामिनी में झींगुरों की झनकार तथा दादुरों की 'टर्रटें' वर्षाकाल को विरहिणी के लिए काल-समान भयोत्पादक बना देते हैं, और नायिका का चित्त भय के व्याकुल होकर कातर स्वर में प्रिय की पुकार करने लगता है। संयोग के समय बसन्त तथा वर्षा दोनों ही आनन्ददायी होते हैं वियोग में ये दोनों ही दुखदायी हो जाते हैं किन्तु दोनों के प्रति विरहिणी के दृष्टिकोणों में यही थोड़ा-सा भेद है। दोनों में एक साम्य भी है ; अपनी अन्य सखियों के प्रिय-संसर्ग को देखकर विरहिणी ईर्षाभिभूत हो जाती है और उसकी यह ईर्ष्या (स्मृति के माध्यम से) उसके अस्तित्व को और भी अधिक कंटकाकीर्ण बना देती है। ईर्ष्या का भाव जगाने की शक्ति वर्षा तथा पावस में समान है।

प्रकृति-चित्रण (तथा ऋतु-वर्णन) के क्षेत्र में भारतेन्दु-युगीन कवियों ने पूर्णरूपेण रीतिकालीन परिपाटी का अनुसरण किया था इसमें किंचित भी सन्देह नहीं है।

रीतिकालीन श्रृंगार-पद्धति में नायिका-भेद का अपना एक विशिष्ठ स्थान था। विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न मनःस्थितियों को प्राप्त नायिकाओं के लक्षण रीतिकारों ने अपने ग्रन्थों में वर्णित किये थे। कविगण उनके आधार पर नायिकाओं का वर्णन रीतिकाल में किया करते थे, श्रृंगार वर्णन की परिपाटी में प्रेम के विभिन्न पक्षों तथा स्वरूपों का चित्रण बहुधा नायिका-भेद के आधार पर किया जाता था। प्रेम के विरह तथा मिलन पक्ष को यदि हम देखें तो विदित होगा कि वे वास्तव में परिस्थितिजन्य मनस्थितियाँ ही हैं और उनकी खोज जब हम नारी-मन में करते हैं तब नायिका-भेद की उत्पत्ति होती है। भारतेन्दु-युग में जो श्रृंगार वर्णन किया गया उसपर नायिका-भेद का भी प्रभाव था। वैसे तो कुछ कवियों ने सामान्य रूप से स्त्री-भेद का भी वर्णन किया है[1]।

---

१. रूपवती, लज्जावती, सीलवती मृदु बैन।
तिय कुलीन उत्तमसोई, गरिमाधर गुनऐन॥
अति चंचल नित कलह रूचि, पति सों नाहि मिलाप।
सो अधमा तिय जानिए पाइय पूरब पाप॥—(गिरिधर दास)

यौवनागमन पर अपने सौन्दर्य तथा यौवनोभार से अभिगत, ज्ञात-यौवना मुग्धा-नायिका कवियों की बड़ी प्रिय रही है।[१] उसके वर्णन में नखशिख सौन्दर्य के चित्रण के साथ-साथ रूप के मान तथा नायिका की 'मदन-तरंग' का चित्रण भी हो जाता है। कृष्ण-भक्ति से प्रभावित शृंगार-वर्णन में (या कहिए शृंगार पद्धति से प्रभावित कृष्ण-भक्ति में) अभिलाषा से युक्त ज्ञात-यौवना नायिका का विशेष रूप से चित्रण किया जाता रहा है। लज्जा अथवा भय के कारण जिसकी रति पराधीन हो ऐसी नवोढ़ा (मुग्धा) का चित्रण किंचित कठिन होता है क्योंकि उसमें भावचित्रण की कठिनाई रहती है फिर भी भारतेन्दु-युगीन कवियों ने उसका सुन्दर चित्रण किया है।[२] पितादि गुरूजनों के रहने के कारण परकीया सी अनूढ़ा नायिका का 'दूती' से मिश्रित चित्रण भी दर्शनीय है[3]।

---

१. जोबन कैसे छिपाऊं री रसिया परो पाछे।
झलकत तन द्युति सारी सों कढ़ि लगत तमासों गाऊँरी ॥
मुख ससि चमक नील घूंघट में ज्यों ज्यों सकुचि चुराऊँ री।
ये उकसौहें अंचल बाहर इन कहँ कहाँ दुराऊं री ॥
बजमारे विधि क्यों सिरजे ये कहा करूँ कित जाऊँरी ॥४४॥
('भारतेन्दु ग्रन्थावली'-भाग २, पृ० ३८०)

तथा

जुबना बैरी भयो कैसे दधि बेचन ब्रज जांव।
या जुबना लखि को नहिं मोहत याही डरनि डेरांव ॥
अति उतंग छतियन पर छलकत, कैसे तिनहिं छिपांव।
जुबना बैरी भयौ ॥
('प्रेमघन-सर्वस्व' प्रथम भाग, पृ० ६१०)

२. कैसे सखी बसिए ससुरारि में लाज को लेइबो क्यों सहि जावै।
ऐसी सहेलिनें ऊधमी हैं नख-दंत के दाग लै कोऊ गनावै।
त्यों हरिचंद खरी ढिग सास के ढीठ जिठानी पिया को हँसावै।
ओढ़ि कै चादर रात के सैज की सामने ही ननदी चलि आवै ॥७३॥
(भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २, पृ० १६१)

तथा

बातनि क्यों समुझावति हौ मोहिं मैं तुमरो गुन जानति राधे।
प्रीति नयी गिरधारन सों भई कुंज में रीति के कारन साधे ॥
घघट नैन हरावन चाहति दौरति सो दुरि ओट ह्वै आधे।
नेह न गोयो रहै सखि लाज सों कैसे रहे जल जाल के बांधे ॥
—गिरधर दास

३. बैठी ही वह गुरुजन के ढिग पाती एक तहाँ ले आई।
पाती लाय हाथ में दीनीं कही श्याय यह तोहिं पठाई ॥

प्रिय-मिलन तथा रतिक्रीड़ा के कारण सम्मोहित चित्त वाली 'आनन्द-सम्मोहिता' नायिका में प्रिय के मिलन से उत्पन्न आनन्द की खुमारी का जो चित्रण किया जाता है उसमें मन की उमंग की पूर्ति से उत्पन्न आनन्द को दवाने के प्रयास के साथ प्रिय-मिलन के आनन्द की स्मृति में लीनत्व का चित्रण भी किया जाता[1] है जो कि परम कठिन होता है, किन्तु भारतेन्दु जैसे रससिद्ध कवि ने उसे भली भांति निभाया है।

जब "बगियान में बसन्त बगरो है", उस समय चलने की चर्चा चलाने वाला 'निठुर नाह[2]' वास्तव में प्रेयसी के मन को नहीं समझा, किन्तु जब नाथ प्रवासोद्यत हो ही जाते हैं उस समय की 'प्रवत्स्यत्प्रेयसि' नायिका[3] स्वयं अपने मन को नहीं जानती और प्रिय से प्रार्थना करती है कि वे स्वयं उसका मार्ग प्रदर्शन करें और बता दें कि उसे इस समय क्या और कैसे कहना चाहिए। (इस छन्द पर केशव के प्रसिद्ध छन्द का प्रभाव स्पष्ट है।)

(पृष्ठ ८३ का शेष)

वे-बातहि बदनाम करन की इनकी टेव परी मैं पाई।
इन बैरिन पाछे या ब्रज में कैसे के बसिये री माई॥
दूती समुझि बहुत पछितानी कहि भूली मैं औन दुहाई।
हरीचंद अति चतुर राधिका यों मोहन की प्रीति छिपाई॥
('भारतेन्दु ग्रन्थावली'—भाग २, पृ० ७३, ७४)

१. छुप्यो केस खुल्यौ है अंचल पीक-छाप पहिचानी सी।
टूटी माल हार अरू पहुँची कुसुम-माल कुम्हिलानी सी॥
नैन लाल अधरा रस चूसे सूर तिहू अलसानी सी।
जानी जानी नेकु आजु क्यों प्यारी फिरत दिवानी सी॥
('भारतेन्दु ग्रन्थावली'—भाग २, स्फुट कविताएँ, पृ० ८६३)

२. बगियान बसंत बसेरो कियो, बसिये तिहि त्यागि तपाइयै ना।
दिन काम कुतूहल के जे बने, तिन बीच वियोग बुलाइयै ना॥
घन प्रेम बढ़ाय कै प्रेम अहो, विथा बारि-बृथा बरसाइयै ना।
चितै चैत की चाँदनी चाह भरी चरचा चलिबे की चलाइयै ना॥
—प्रेमघन
(प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, पृ० २१८, २१६)

३. रोकहिं जो तो अमंगलि होय औ प्रेम नसै जो कहैं पिय जाइए।
जो कहैं जाहु न तौ प्रभुता जौ कछु न कहैं तो सनेह नसाइए।
जो हरिचन्द कहैं तुमरे बिन जीहैं न तो यह क्यौं पतिआइए॥
तासों पयान समै तुमरे हम का कहैं आपै हमें समुझाइए॥१५॥
('भारतेन्दु ग्रन्थावली'-भाग २, पृ० १४६)

प्रिय-मिलन के आवेग से प्रेरित कोई अभिसारिका दुपहरिया में ही प्रिय-मिलन को उद्यत हो जाती है[1] तो कोई श्यामाभिसारिका वर्षा की अन्धेरी रात्रि में अभिसार-स्थल की ओर खिंची चली जा रही है। प्रिय के मिलनावेग में इस समय उसकी सहायता वे ही वस्तुएँ करती हैं जो कि सामान्य अवस्था में भयप्रद थीं।[2] प्रेम के आवेग की यह शक्ति-सम्पन्नता अबला को सब वस्तुओं से सहायता लेने में समर्थ बना देती है। एक बार प्रिय के निकट पहुँच जाने पर फिर किसका डर।[3] अभिसारिका नायिका के वर्णनों से प्राचीन शृंगार-साहित्य भरा पड़ा है। प्रेम के मार्ग की कठिनाइयों (Perils of love) का चित्रण करने का जितना अवकाश इसके वर्णन में होता है अन्य नायिका के वर्णन में उतना नहीं होता। इसके साथ साथ कठिनाइयों को पार करने से प्रेम को जो उत्कर्ष मिलता है उसका वर्णन इस नायिका को और भी आकर्षक बना देता है।

भारतीय परम्परा के अनुसार प्रेमतत्व में नारी के अधिकार इतने नहीं हैं जितने कि पुरुष के हैं। बहु-विवाह आदि प्रथाएं इसके सामाजिक प्रमाण है। इसी कारण उत्तमा नायिका की कुछ ऐसी विशेषता है कि वह नायक के अन्य नायिकाओं से स्नेह करने पर भी उसके प्रेम के लिए लालायित रहती है।[4] यह भारतीय नार

---

१. आज दुपहरी में श्याम के काम तू, बाम छवि धाम भई नवल अभिसारिका।
अतिहि कोमल चरन तपित धरनी धरन, गयो कुम्हिलाय मुख कमल सुकुमारिका ।।
(वही ,पृ० ६४)

२. आजु प्रान प्यारी प्राननाथ सों मिलन चली लखि के पावस दास साजी है सबारी।
तृन के पांवरे विछाय घन धुनि मंगल सुनाय दामिनि दमकि आगे करे उजियारी।
ठौर ठौर राह बतावत झिल्ली बूँद बरसि हरै श्रम सुखकारी।
हरीचंद समै को उचित उपचार करि पावत न्यौछावर पिय उनहारी ।।५।।
वही, पृ० ११२

३. कारो नभ कारी निसि कारियै डरारी घटा झुकत बहत पौन आनंद को कंदरी।
द्विजदेव सांवरी सलौनी सजी स्याम जू पै कीन्हों अभिसार लखि पावस आनंदरी।
नागरी गुनागरी सु कैसे डरै रैनि डर जाके संग सोहैं ये सहायक अमन्द री।
बाहन मनोरथ उमाहैं संगवारी सखी मैन मद सुभट मसाल मुखचन्द री ।।
—द्विजदेव
(कविता कौमुदी—भाग १, पृ० ५२२—५२३)

४. जैसी प्रीति स्वाती सौं पपीहा के ठनी है जीव,
वैसी ही हमारी प्रीति पीउ सौं ठनी रहै।
जैसी चाह चंद की चकोर के चुभी है चित्त,
ताहू सों दुचंद मेरी आरजू घनी रहै।
बार बार गौरी सों बिनै के यह मांगति हौं,
बेनी द्विज दीठि में घरोई सो धनी रहै।
चाहै जौन बाल के परै वो प्रेमजाल तऊ लाल उर लागिबे की लालसा बनी रहै
—बेणीराम (द्विजवेणी)। 'मिश्रबन्धु-विनोद', चतुर्थ भाग, पृ० ११०।

का परम्परागत रूप है जो कि बहुधा नूतन विचार वालों को (या 'वालियों' को) नहीं रूचता। वास्तव में इसमें भारतीय नारी-आदर्श तथा प्रेम-परम्परा का सबसे महत्वपूर्ण तत्व निहित है—'अनन्यता' का। प्रिय के आचरण पर ध्यान न देते हुए अपनी ओर से पूर्ण प्रेम का निर्वाह उत्तमा नायिका का आदर्श है। भारतेन्दु-युगीन कवियों ने नायिका-भेद की ओर भी ध्यान दिया था, इस कथन के प्रमाणस्वरूप 'मानिनी' तथा 'कलहान्तरिता' नायिका के दो उदाहरण और प्रस्तुत किये जाते है :—

मानिनी

तू तो मेरी प्रान प्यारी नैन में निवास करैं
तू ही जो करेगी मान कैसे कै मनाइहैं।
तू ही तो जीवन-प्रान तोहि देखि जीव राखैं,
तू ही जो रहेगी रूसि हम कहाँ जाइहैं॥
कियो मान राधे महरानी आजु पीतम सों,
ऐसी जो खबरि कहूँ सौति सुनि पाइहैं।
हरीचंद देखि लीजो सुनतहिं दौरि दौरि,
निज निज द्वार पै बधाई बजवाइहैं॥[1]

—भारतेन्दु

कलहान्तरिता

पिया हौ! मन की मनहीं माँहि रही।
तुव सन निज कर केस सँवारन काहे नाहिं कही॥
सो घर जरउ जहाँ निज मन भरि पिय मन रखि न रही।
चाहि चाहि मन पछितायौ बहु नाहक नाहिं कही॥[2]

इस प्रकार भारतेन्दु-युग के कवियों पर नायिका-भेद के क्षेत्र में रीतिकालीन परिपाटी का पूर्ण प्रभाव है इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता।

हास्य के क्षेत्र में भारतेन्दु-युगीन कवियों ने किंचित भिन्न परम्परा का अनुसरण किया था। इस काल में या तो प्रतापनारायण मिश्र का व्यंग मिश्रित, सप्रयोजन हास्य (व्यंग) मिलता है या भारतेन्दु का करुणा से मिश्रित सोद्देश्य हास्य। मिश्र जी चन्दा चाहते थे[3] और भारतेन्दु जी देश के बन्दों में निन्दा-भर्त्सना के

---

१. 'भारतेन्दु ग्रन्थावली'—भाग २, पृ० ६०, ६१
२. 'कविता कौमुदी'—भाग २, सम्पादक-रामनरेश त्रिपाठी, पृ० १४१।
३. आठ मास बीते जजमान अब तो करो दच्छिना दान।
आजु कालिह जौ रुपया देव, मानो कोटि यज्ञ करि लेव॥
माँगत हमका लागे लाज, पर रुपया बिन चले न काज।

माध्यम से परिवर्तन चाहते थे। 'अन्धेर नगरी' आदि में जो हास्यात्मक प्रसंग हैं वे सुधारवादी संकेतों से युक्त हैं। वैसे प्रेमघन जी ने भी कुछ हास्य रसात्मक कविता रचने का प्रयत्न किया था किन्तु उनकी वे रचनाएँ इतनी व्यक्तिगत हैं कि उनका साधारणीकरण असम्भव नहीं तो परम कठिन अवश्य है।[1] अतएव निष्कर्ष यही निकलता है कि हास्य के क्षेत्र में भारतेन्दु-युग पर कोई विशेष प्रभाव रीतिकाल का नहीं पड़ा, वैसे हास्यरस की कविता भी भारतेन्दु-युग में कम ही हुई।

रीतिकाल में नीति-विषयक कविता की एक विशिष्ट परम्परा थी। भारतेन्दु युग में भी इस प्रकार की कविता के प्रयत्न कुछ कवियों ने किये। हम देख चुके है कि गद्य के विकास के साथ नीति-कविता का प्रचलन कम ही हो गया था। भारतेन्दु ने समस्या—पूर्ति के उद्देश्य से कुछ नीति विषयक स्फुट कविताएँ लिखीं थीं।[2] वैसे इस युग में हाजी अलीखाँ ने नीति विषयक कुछ मार्मिक छन्दों की रचना की थी। कविवर हाजी अली खाँ 'अलि' के छन्दों में हम रीतिकालीन नीति विषयक कविता की परम्परा के स्पष्ट दर्शन करते हैं :—

दाता नहिं रंक होत दान के दिए तें कबौ,
कूकर न वृष होत गंग के नहाए तें।
अस्त्र के गहे तें कूर शूर नहिं होय जात,
बगुला ना हंस होत मोती के चुगाए तें।
पोथी पाय मूर्ख जन पण्डित ह्वै जात नहिं,
तपी नहिं होत भस्म अंग के रमाए तें।
खून पिए स्यार नहिं सिंह होत हाजी अली,
तीतुर के जाए बाज होत ना सिखाए तें।[3]
—हाजी अली खाँ 'अलि'

(पृष्ठ ८६ का शेष)

जो कहुँ देहौ बहुत खिझाय यह कौनिउ भलमंसी नाय।।
हंसी खुशी से रुपया देव, दूध पूत सब हमसे लेव।।
काशी पुन्नि गया माँ पुन्नि बाबा बैजनाथ माँ पुन्नि।।

१. 'प्रेमघन सर्वस्व'—प्रथम भाग, हास्य बिन्दु, पृ० २५०—२६२।

२. भोज मरे अरू विक्रमहू किनको अब रोइ के काव्य सुनाइये।
भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रन्थन नीर डुबाइये।।
राजा भये सब स्वारथ पीन अमीरहू हीन किन्हें दरसाइये।
नाहक देनी समस्या अबै यह ग्रीषम में प्यारे हिमन्त बनाइये।।
('भारतेन्दु ग्रन्थावली'—भाग २, पृ० ८६६)

३. ('मिश्र-बन्धु विनोद'—भाग ४, पृ० ११४)

गिरधर दास ने भी कुछ मार्मिक उक्तियाँ नीति विषयक की कीं थीं और उनके विस्तृत काव्य में उसके अनेक उदाहरण मिल सकते है ।[1] कविवर गोविन्द गिल्ला भाई की प्रेम की परिभाषा से युक्त कुछ कविताओं पर भी नीति-काव्य का प्रभाव परिलक्षित होता है[2] किन्तु जिसे हम वास्तव में नीति की कविता कहते हैं और जिसका रीतिकाल में (गद्य के अभाव में) प्रचलन था उसका भारतेन्दु-युग में प्रचलन तो था, किन्तु गद्य का प्रादुर्भाव हो जाने से उसका अन्त दिखाई देने लगा था ।

भक्ति :—भक्ति का जो स्वरूप रीतिकाल में था लगभग वही स्वरूप हमें भारतेन्दु-युग में दिखायी देता है । दोनों युगों की कविता के भक्ति-पक्ष में जो साम्य है उसकी कुछ मुख्य विशेषताएँ हैं । १—भक्ति की कविता करने वाले कवि वे ही थे जो शृंगार की कविता करते थे, अर्थात् भक्ति तथा शृंगार के आधार पर कवियों का विभाजन नहीं किया जा सकता । २—रीतिकाल तथा भारतेन्दु-युग दोनों के कवियों में वैष्णव-भावना का प्राधान्य था । लगभग सब सगुणोपासक थे और कृष्ण की माधुर्य-भाव की (विशेषकर युगल रूप की) भक्ति करते थे; यद्यपि राम तथा कृष्ण के प्रति एक सी सम्मान भावना उनमें पायी जाती थी । ३—भक्ति के शृंगारपरक होने के कारण राधा तथा कृष्ण, लौकिक तथा अलौकिक दोनों प्रकार के प्रेम के नायक तथा नायिका थे, और कभी-कभी तो दोनों में (लौकिक तथा अलौकिक) भेद करना भी किंचित कठिन हो जाता है ।

यह तो सर्वविदित है ही कि भारतेन्दु स्वयं बल्लभ सम्प्रदायी थे तथा उन्होंने 'श्री चन्द्रावली नाटिका' लिखकर अपनी इसी भावना को अभिव्यक्ति प्रदान की थी । पुष्टिमार्गी होने के कारण स्वभावतः उनमें विचारों की स्वच्छन्दता थी । "हम सोवत हैं पिय अंक निसंक चवाइनै आऔ चवाव करो" में उनकी परम्परा-निरपेक्ष प्रगतिशीलता प्रतिबिम्बित होती है ।

भारतेन्दु जी ने बिहारी के अनुकरण पर छन्दों की रचना करके अपने भक्तिपक्ष पर रीतिकालीन प्रभाव को स्वयं ही सिद्ध कर दिया

---

१. जनक वचन निदरत निडर, बसत कुसंगति माँहि ।
मूरख तो सुत अधम है, तेहि जनमे सुख नाँहि ।।
—गिरधरदास

२. दहिनौ शरीर अरू लहिबो परम पद चहिबो छनिक माँहि सिन्धु पार पाइबो ।
गहिनों गगन अरू बहिनो बयारि संग रहिबो रिपुन संग त्रास नाहि लाइबो ।।
सहिबो चपेट सिंह लहिबो भुजंग मनि कहिबो कथन अरू चातुर रिझाइबो ।
गोविन्द कहत सोई सुगम सकल पर कठिन कराल एक नेह को निभाइबो ।।
—गोविन्द गिल्ला भाई

है।[1] रीतिकाल की भक्ति-भावना भक्ति-काल की भक्ति-भावना से कोई भिन्न नहीं थी, हाँ रीतिकाल में कृष्ण-विषयक रति का बोल बाला अधिक था। भारतेन्दु-युग में यद्यपि राम-भक्ति विषयक कविता भी मिलती है[2] किन्तु उसकी सीता, राधा अधिक हैं, और राम में कृष्ण की मधुर मूर्ति का आभास सा मिलता है। यद्यपि शुद्ध निर्वेद का चित्रण करने वाले छन्द भी हमें इस युग में मिलते हैं[3] किन्तु भक्ति का वास्तविक आधार माधुर्य का ही था, और भक्त के मन में 'श्यामसुन्दर' के 'अनंग-मान-भंग करन' अंगों का सौन्दर्य ही लहराया करता था[4], कृष्ण के सौन्दर्य पर आधारित इसी मधुरा-भक्ति में भारतेन्दु-युग के कवियों का मन अधिक रमा था। तुलसी की 'चातक-चौंतीसी' में जिस अनन्य लगन के दर्शन हमें होते हैं वैसी ही अनन्यता कृष्ण के प्रति

---

१. मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तन की भाई परै स्याम हरित दुति होय॥
स्याम हरित दुति होय परै जा तन की भाँई।
पाय पलोटत लाल लखत साँवरे कन्हाई॥
श्री हरिचन्द वियोग पीत पट मिलि दुति देरी।
नित हरि जा रंग रंगे हरौ बाधा सोइ मेरी॥

२. जनक दुलारी सुकुमारी सुधि पाई पिय,
चहत चलन वन इच्छा नर नाह की।
उठि अकुलाय घबराय संग जान हेतु,
सकुचित विनय सुनाई चित चाह की॥
सासु समभाई राम विविध बुझाई कहि,
वन दुखदाई कठिनाई बहु राह की।
पति पद प्रेम लखि 'नायक' कहत सत्य,
तिया हुती पतिव्रता मानी नाहीं नाह की॥
—विनायक राव

३. काम तजै अरु क्रोध तजै मद लोभ तजै उर धीरज आनै।
वस्तु विषै सब त्याग करै अरु लाज करै निज को पहिचानै॥
ध्यान धरै परमेश्वर को कवि श्री शिव सम्पत्ति मिश्र बखानै।
नाहित रे मन हाथ कछ नहिं आइहै अन्त समै पछतानै॥
—शिव सम्पति

४. सुन्दर सुरंग अंग अंग पै अनंग वारौ जाके पद पंकज पै पंकज दुखारो है।
पीत पट वारो मुख मुरली संवारो प्यारो कुंडल झलक सिर मोर पंख धारो है।
कोटिन सुधाकर की सुखमा सुहात जाके, मुख माँ लुभाती रमा रंभा सी हजारो है।
नंद को दुलारो श्री यशोदा को पियारो, जौन भक्त सुख सारो सो हमारो रखवारो है॥
—बाघे जी श्री विष्णप्रसाद कुंवरजी

भारतेन्दु में पायी जाती थी ।[1] यह तो हम कह ही चुके हैं कि कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम होने से राम के विरोध की भावना वैष्णव भक्तों में नहीं आने पाती । इसी कारण भारतेन्दु युग के कवियों की भक्ति-भावना में औदार्य तथा लचीलापन है। काव्य की रीतिकालीन शैली का अलंकारिक प्रभाव इस काल की भक्ति कविता पर भी है। कहीं कहीं तो सीमा का अतिक्रमण भी कर दिया गया है । अपने यमकों के लिए प्रसिद्ध गिरधरदास जी का यह छन्द देखिए :—

सब केसव केसव केसवके हित के गज सोहते शोभा अपार है ।
जब सैलन सैलन सैलन ही फिरै सैलन सैलहि सीस प्रहार है ।।
गिरिधारन धारन सों पद के जल धारन लै वसुधारन धार हैं ।
अरि बारन बारन बारन पै सुर बारन बारन बारन बार हैं ।।[2]

—गिरधरदास

कलापक्ष

समस्यापूर्ति की परिपाटी तथा गोष्ठियों का प्रचलन होने के कारण भारतेन्दु युग की काव्य-साधना आवश्यक रूप से मुक्तक प्रधान थी, और यद्यपि उस काल में अनेक प्रकार की लीलाओं के विषय में कविता की गयी, परन्तु उन सब का स्वरूप मुक्तकों का ही था, तथा कृष्ण की लीला (मधुर भाव की भक्ति के कारण) का प्रभाव होने के कारण उन सब लीलाओं में श्रृंगार का आधिक्य था; तथा शैली पर रीतिकालीन प्रभाव था[3] । भाषा तथा शैली के क्षेत्र में अभी भी रीतिकालीन भाषा-

---

१. भजों तो गुपाल ही कों सेवों तो गुपाल एक,
मेरो मन लाग्यो सब भाँति नन्दलाल सों ।
मेरे देव देवी गुरु माता पिता बन्धु इष्ट
मित्र सखा हरि नातौ एक गोप बाल सों ।।
हरीचन्द और सों न मेरो सनबंध कछु
आसरो सदैव एक लोचन विसाल सों ।
माँगो तो गुपाल सों न माँगौ तो गुपाल ही सों,
रीझौं तो गोपाल पै औ खीझौं तो गुपाल सों ।।
('भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'-व्रजरत्नदास, (ईश्वरोन्मुख प्रेम या भक्ति) पृ० २९२)

२. 'कविता-कौमुदी'—प्रथम भाग, पृ० ५३१ ।

३. लीलाओं में भी धोबिन, पनिहारिन, चुड़हारिन, मनिहारिन, दर्जिन, जलविहार, वन विहार, दानलीला, मान लीला, झूला लीला, होली, कलेवा, आदि लीलाओं का अधिक वर्णन है । भक्त और श्रृंगारी कवियों में ये वर्णन समान रूप से पाये जाते हैं । परन्तु श्रृंगारी कवियों ने श्रृंगार-भावना को प्रधानता दी है । ('आधुनिक हिन्दी-साहित्य,' कविता पुरानी धारा, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृ० १८४, प्रथम संस्करण, अप्रैल १९४१ ई०)

शैली का ही प्रयोग किया जाता था; भारतेन्दु-युग के कवियों तथा रीतिकालीन कवियों की रचना-शैली में कोई विशेष भेद नहीं है। फिर भी महत्व तथा मूल्य की दृष्टि से भारतेन्दु-युग के कवि रीतिकालीन रचना-शैली के कौशल तथा उसकी उत्कृष्टता को नहीं पा सके थे। इसका मूल कारण था कि भारतेन्दु-युगीन कवियों में परिपाटी को तोड़ने वाली स्वच्छन्दता की भावना अंकुरित हो रही थी।[1]

इस काल का छन्द-चयन भी अधिकांश में परम्परानुगत है। कवियों ने कवित्त, सवैया, बरवै, घनाक्षरी, दोहे, सोरठा, चौपाई, छप्पय, मत्तगयन्द, तोटक, ताटंक, भुजंगप्रयात, रोला आदि का अधिक प्रयोग किया है। ये छन्द ही शृंगार रचनाओं के उपयुक्त ठहरते हैं। शृंगारी कवियों ने मुक्तक-काव्य की रचना की है। मुक्तक-काव्य के लिए भी उपर्युक्त छन्द ही उपयुक्त ठहरते हैं। परन्तु इस काल में कुछ नये प्रयोग भी किये गये, जैसे, बिरहा, मल्हार (बारहमासा), रेखता, गजल, और कजली। उर्दू साहित्य के अधिकाधिक सम्पर्क में आने से रेखता और गजल का चलन भी हो गया था।[2] किन्तु मूल रूप में भारतेन्दु-युग के कवियों ने रीतिकाल में मँजे मँजाए छन्दों का ही प्रयोग किया। रीतिकालीन कवियों ने अपने छन्दों को परिष्कृत करके विकास की उस चोटी पर पहुँचा दिया था कि जहाँ से उन छन्दों को और ऊपर उठाना सम्भव नहीं था, इस कारण भारतेन्दु-युग के कवियों की छन्द कुशलता केवल कुछ थोड़े से नूतन (लोक साहित्य में प्रचलित) प्रयोगों के प्रचलन तक ही सीमित थी।

अलंकारों के क्षेत्र में भी इस काल के कवियों ने प्राचीन परिपाटी का ही अनुसरण किया, प्राचीन (वीर, भक्ति तथा रीति) कालों में प्रचलित उपमा, उत्प्रेक्षा सन्देह, अनुप्रास, रूपक, यमक आदि अलंकारों का ही प्रयोग इस काल में भी किया गया। अप्रस्तुत-योजना के क्षेत्र में नूतन उपमानों की खोज इस काल में नहीं की गयी। इस परिपाटी-पालन की प्रवृत्ति का प्रभाव किन्हीं किन्हीं कवियों की कविता पर बहुत बुरा पड़ा। उन्होंने कवि-समय-सिद्ध उपमानों की बाजीगरी-सी करके ही काव्य-कर्म

---

१. वास्तव में पूर्ववर्ती और इस काल के शृंगारी कवियों की रचना शैली में अधिक भेद नहीं है, भेद केवल मूल्य का है। इस काल में मार्मिक और मनोहर पद्यों की संख्या अत्यन्त न्यून है। इन कवियों के लिए कोई बन्धन नहीं था। जिसने जैसा चाहा वैसा ही लिख दिया।

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

('आधुनिक हिन्दी-साहित्य,' कविता; पुरानी धारा, पृ० १८०)

२. देखिए :—

'आधुनिक हिन्दी साहित्य'—डा० ल० सा० वार्ष्णेय

(कविता: पुरानी धारा)

को समाप्त-सा मान लिया इस कारण उनकी कविता में उपमा, श्लेष और अनुप्रास आदि का अत्यन्त भद्दा रूप मिलता है।* अप्रस्तुत-विधान के विषय में शंकरसहाय अग्निहोत्री (१८२५—१९१० ई०) की निम्नलिखित उक्ति थोड़े हेर-फेर के साथ सामान्यरूप से लागू हो सकती है :—

प्रबाल से पांय त्रुनी से लला नख दंत दिपै मुक्तान समान।
प्रभा पुखराज की अंगनि में विलसैं कच नीलम से दुतिमान।
कहै कवि संकर मानिक से अधरासन हीरक सी मुसकान।
विभूषन पन्नन के पहिरें बनिता बनी जौहरी की सी दुकान।।[१]

—विनोद, १९८५ वि० सं०, पृ० ११२४

रीतिकाल में भी इस प्रकार के प्रयोग पाये जाते हैं किन्तु रीतिकाल के लगभग २०० वर्षों में जो मुक्तकों का सागर एकत्रित हो गया था उसके अनुपात में उस काल में ऐसे प्रयोग अधिक नहीं हैं। भारतेन्दु-युग की कविता का भण्डार इतना वृहद् नहीं है कि वह इस प्रकार के मूल्यहीन काव्यों को पचा सके।

रीतिकाल में 'लक्ष्य' तथा 'लक्षण' दोनों प्रकार के ग्रन्थों का निर्माण हुआ था और यह रीतिकाल की अपनी एक विशिष्टता थी। जैसा कि हम देख चुके हैं लक्षण-ग्रन्थों का कवियों द्वारा लिखा जाना उनके समीक्षक स्वरूप को ही प्रकट करता है। रीतिकाल में गद्य के अभाव में कवियों को ही काव्य-शास्त्र की रचना (कविता में) करनी पड़ती थी। भारतेन्दु-युग में गद्य का प्रचलन हुआ और लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण भी कम होने लगा क्योंकि अब विवेचन गद्य में होने लगे थे, तो भी काव्य-शास्त्र विषयक शास्त्रीय ढंग पर रचे गये ग्रन्थों का नितान्त अभाव नहीं रहा, किन्तु उनमें काव्यत्व को प्रमुख स्थान नहीं दिया गया। ये ग्रन्थ विवेचनात्मक और प्रौढ़ हैं। रस-ग्रन्थकारों में से अयोध्या के महाराज प्रतापनारायणसिंह,—'रस कुसुमाकर' (१८९२ ई०), अलंकार शास्त्रियों में कवि राजा मुरारिदीन, 'जसवन्त भूषण' (१८९३ ई०), गंगाधर द्विजगंग—'महेश्वर भूषण' (१८४५ ई०) और कन्हैयालाल पोद्दार, 'अलंकार प्रकाश' और पिंगल ग्रन्थकारों में गदाधर भट्ट, 'छन्दोमंजरी' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं[२]।

अपने अपने विषय निरूपण में उन्होंने मम्मट, रुद्रट, पंडितराज जगन्नाथ, रुय्यक आदि संस्कृत के आचार्यों में से किसी एक का आधार लिया है। अलंकार

---

*. चाहें तो इसे भी हम रीतिकाल का प्रभाव कह सकते हैं—दोषों का ही सही।

१. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य'—कविता, पुरानी धारा, लेखक—
डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रथम संस्करण, पृ० १७६, अप्रैल १९४१ ई०

२. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य,' कविता, पुरानी धारा, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रथम संस्करण पृ० १८७।

विषयक ग्रन्थ अधिकतर मम्मट और पंडितराज जगन्नाथ के आधार पर लिखे गये हैं[१]।

गिरधरदास कविराज, ('भारती भूषण' १८८० ई०) जाजमऊ के दत्त कवि ('लालित्य लता' अलं०), रामचन्द्रदास शर्वरी कायस्थ ('नवरस तरंग' १८८६ ई० रस) कवि रघुवरदयाल दुर्गा: ('छन्द रत्न माला' १८८५ ई०), राम जू उपाध्याय, 'काव्य संग्रह पंचांग' १८७७ ई० छन्द), जगन्नाथप्रसाद दुबे, ('गण प्रदीप' १८८५ ई०) और महाराज कुमार रामकिंकरसिंह, ('छन्द भास्कर' १८४१ ई०) के नाम भी उल्लेखनीय हैं[२]। परन्तु इन ग्रथन्कारों की रचनाएँ सर्वागींण नहीं हैं। वे प्राथमिक ढंग की छोटी और काम चलाऊ हैं । रीति-ग्रन्थकारों में प्रताप नारायणसिंह, कविराज मुरारिदीन और कन्हैयालाल पोद्दार ने अवश्य खड़ी बोली गद्य का प्रयोग किया है जिसमें व्रजभाषा का पुट भी है, नहीं तो अन्य रीतिकारों ने भाषा और छन्द के चुनाव में शृंगारी कवियों का अनुसरण किया है। अच्छे और वैज्ञानिक ढंग पर रीति-ग्रन्थों की रचना के लिए अध्ययन और परिश्रम की आवश्यकता थी, इसीलिए इस काल में रीति ग्रन्थों की रचना का अधिक प्रचार न हो सका[३], फिर भी इस काल में रीतिकाल की लक्षण-ग्रन्थ-निर्माण की परम्परा का पालन न्यूनाधिक रूप में किया ही गया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु युग की कविता केवल भाव तथा कला-पक्ष के क्षेत्र में ही रीतिकाल की अनुयायी नहीं थी वरन् शास्त्रीय विवेचन के क्षेत्र में भी उसने रीतिकाल का अनुगमन किया था। प्राचीन रीति-परम्परा का सम्यक अध्ययन इस काल में किया गया था[४] और उस अध्ययन के फलस्वरूप लोगों ने इस काल की कविता (जो कि लगभग सब की सब मुक्तकों के रूप में ही थी) के विभिन्न संग्रह-ग्रन्थों को प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया, जिनमें शृंगारपूर्ण कविता के अतिरिक्त कुछ भक्ति-पद्य भी सम्मिलित हैं । संग्रहकर्ताओं में सरदार 'शृंगार-संग्रह' (१८४८ ई०) और 'षट् ऋतु प्रकाश' (१८६४ ई०); भारतेन्दु 'सुन्दरी तिलक' (१८६९ ई० में प्रकाशित), 'पावस कवित्त-संग्रह' (१८८९ ई०) और 'प्रेम तरंगिनी' (१८९० ई०); द्विज कवि मन्नालाल: 'पंच शतक,' 'शृंगार सुधाकर', 'प्रेम तरंग' (१८७७ ई०) 'शृंगार सरोज' (१८८० ई०) और 'सुन्दरी सर्वस्व' (१८८५ ई०); नकछेदी तिवारी अजान कवि, 'मनोज मंजरी', ४ भाग (१८८६ ई०); साहब प्रसाद सिंह, 'काव्यकला' (१८८५ ई०) और बंगालीलाल, 'सुत परमानन्द सुहाने', 'पावस

---

१. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', कविता, पुरानी धारा, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृ० १८८, प्रथम संस्करण, अप्रैल १९४१ ई०।
२. वही, पृ०, १८८।
३. वही, पृ० १८८।
४. वही, पृ० १८२।

कवित्त रत्नाकर' (१८९३ ई०) के नाम प्रमुख हैं। इन ग्रन्थों में नायक नायिका-भेद और उसी के अन्तर्गत रस निरूपण और षट्-ऋतु वर्णन सम्बन्धी हिन्दी-साहित्य के चुने चुने सर्वोत्तम छन्द दिए गए हैं[1]।

सरदार कवि काशीनरेश ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के आश्रित रहते थे. वे ललितपुर के हरिजन कवि के पुत्र थे। खोज रिपोर्ट (१९०९-१९११ई०) में उनका रचना काल सन् १८४५ ही माना गया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उसे सन् १८४५ से सन् १८८३ ई० तक माना है।[2] खोज रिपोर्ट के अनुसार सरदार कवि सन् १८८३ ई० में जीवित थे। उन्होंने नायक-नायिका-भेद, रस आदि पर ग्रन्थ रचना कर अपनी साहित्य-मर्मज्ञता का परिचय दिया है। उनके संग्रह ग्रन्थों में 'श्रृंगार संग्रह' और 'षट्ऋतु-प्रकाश' अत्यन्त विख्यात हैं। 'षट्ऋतु-प्रकाश' का सरदार और उनके शिष्य नारायणदास कवि ने संग्रह किया था। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने 'साहित्य सरसी,' 'हनुमत भूषण,' 'तुलसी भूषण', 'मानस भूषण,' 'व्यंग्य विलास', 'राम रत्नाकर,' 'राम रसतंत्र,' 'साहित्य सुधाकर,' 'रामलीला प्रकाश' और 'वाग् विलास' ग्रन्थों की रचना भी की। 'श्रृंगार-संग्रह' (सरदार) 'सुन्दरी तिलक' (भारतेन्दु) 'साहित्य रत्नाकर' और 'साहित्य-प्रभाकर' संग्रह-ग्रन्थों में उनके कवित्त मिलते हैं।[3]

भारतेन्दु-युग की कविता के अध्ययन के आधार स्वरूप होने के कारण इन ग्रन्थों का बड़ा महत्व है। रीतिकाल के कविता के इतने तथा ऐसे प्रामाणिक संग्रह नहीं मिलते, यही कारण है कि उस काल की कविता का सम्यक तथा सूक्ष्म अध्ययन किंचित कठिन-सा है।

भारतेन्दु-युग की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस काल के साहित्य पर एक व्यक्ति भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का बड़ा विस्तृत तथा अमिट प्रभाव पड़ा था, उनकी मान्यताओं तथा उनकी रचना-शैली का लगभग सब कवियों ने अनुकरण किया। भारतेन्दु जी यद्यपि अत्यन्त प्रगतिशील तथा उदार विचारों के थे किन्तु काव्य-परिपाटी के मामले में उन्होंने प्राचीन परिपाटी का पूर्ण अनुगमन किया था, हाँ समयानुकूल कुछ और विशेषताएँ भी उन्होंने उस प्राचीन परिपाटी में मिला दी थीं, किन्तु उस परिपाटी के स्वरूप को उन्होंने पूर्णरूपेण अक्षुण्ण रखा था। भारतेन्दु जी ने कविता में श्रृंगार को मूर्धन्य स्थान प्रदान किया था और उनके समय के अन्य कवियों ने उनका अनुसरण किया।

---

१. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', कविता; पुरानी धारा, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृ० १८२, प्रथम संस्करण, अप्रैल १९४१ ई०।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, प्रवर्धित संस्करण, आधुनिक काल, पुरानी धारा, पृ० ५७८,।

३. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' कविता, पुरानी धारा, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० १८३, प्रथम संस्करण, अप्रैल १९४१ ई०।

भारतेन्द्र के अतिरिक्त इस काल के कवियों में रामकृष्ण वर्मा 'बलबीर' या 'वीर कवि', उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास और ठाकुर जगमोहन सिंह के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं।[१]

पुरानी परिपाटी के अनुसार रचना करने वाले अन्य प्रमुख कवियों में लाला त्रिलोकी नाथ सिंह 'भुवनेश', गौरीप्रसाद सिंह ,गोविन्द कवि गिल्लाभाई (१८४८ में जन्म) दासापुर के द्विज बलदेवप्रसाद (१८४०-१९०४ ई० के लगभग), महन्त जानकी प्रसाद उपनाम, 'रसिक बिहारी' 'रसिकेश' (१८४४ में जन्म), सन्तोषसिंह शर्मा, ठाकुर जगमोहन सिंह, नकछेदी तिवारी, 'अजान कवि', द्विज बेनी, गदाधर कवि (कवि पद्माकर के पौत्र) अरुनी के लाल कवि, राय शिवदास, कवि शाह कुन्दनलाल, ललित किशोरी (१८७३ में मृत्यु) उदयनाथ कवीन्द्र, शिवनाथ द्विवेदी, लछिराम (१८५० से १८९८ ई० नू० का०), चन्द्रशेखर वाजपेयी, गोकुलनाथ (रघुनाथ कवि के पुत्र) ठाकुर गणेश बख्श सिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।[२]

इन कवियों के अतिरिक्त कुछ और कवियों की गणना हिन्दी-साहित्य के इतिहास में की जाती है[३] इनमें से कुछ कवियों की तो स्वतंत्र रचनाएँ प्राप्त हैं, परन्तु अधिकांश के केवल स्फुट कवित्त और सवैये संग्रह-ग्रन्थों में मिलते हैं, उन्हीं से उनका काव्य कौशल ज्ञात होता है।

इन कवियों ने पुरानी परिपाटी को बनाए रक्खा तथा उनके द्वारा सृजित साहित्य-सागर में खोजने पर रत्न भी हाथ पड़ जाते हैं।[४]

इस प्रकार हमने देखा कि कविता के विभिन्न अंगों और क्षेत्रों में भारतेन्दु-युग की कविता रीतिकालीन कविता की परिशिष्ट-सी प्रतीत होती है। कुछेक नूतन भावनाओं तथा शैलियों के समावेश के अतिरिक्त रीतिकाल की कविता तथा भारतेन्दु-युग की कविता में बहुत कुछ साम्य है—अतएव हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु-युग की कविता रीतिकालीन कविता से पूर्णरूपेण प्रभावित थी।

द्विवेदी युग

भारतेन्दु-युग में ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली का जो विवाद आरम्भ हुआ था उसका विकास द्विवेदी-युग में हुआ, फलस्वरूप खड़ी बोली की कविता का उत्थान पूरे जोर-शोर से आरम्भ हो गया। भारतेन्दु-युग में बाबू राधाकृष्णदास ने जिस समन्वय

---

१. **आधुनिक हिन्दी साहित्य, कविता; पुरानी धारा, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रथम संस्करण, पृ० १८७, अप्रैल १९४१ ई०।**

२. **वही।**

३. **वही, पृ० १८४।**

४. **वही,**

के मार्ग का निर्देश किया था उसका[1] ग्रनुसरण उस युग में होने लगा था तथा कविजन ग्रपनी रुचि के ग्रनुरूप दोनों में से चाहे जिस भाषा में कविता करने लगे थे। इतना होने पर भी भारतेन्दु-युगीन ग्रधिकांश कवि प्राचीन परम्परा के ग्रनुयायी थे। द्विवेदी-युग में कई तथ्यों ने मिलकर इस पुरातन परम्परा का विरोध किया तथा काव्य के क्षेत्र में जिसे हम नई धारा कहते हैं उसका प्रवाह यहाँ से ग्रारम्भ हो गया। केवल ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली का झगड़ा ही द्विवेदी-युग में नहीं था, ग्रपितु उनके बीच में उर्दू भी ग्रा गयी थी ग्रौर खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा को उससे भी भुगतना पड़ा था। वैसे कुछ लोग उर्दू को कोई विलग भाषा न मानकर उसे केवल हिन्दी की एक विशेष शैली मात्र ही मानते थे।[2] भाषा के झगड़े से प्रेरित होकर तथा ग्रंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित होकर हिन्दी कविता की नूतन धारा ने ग्रपना मार्ग प्राचीन धारा से केवल भिन्न ही नहीं बनाया ग्रपितु प्राचीन धारा का विरोध ही नूतन मार्ग प्रतिष्ठित कर सकेगा—यह भावना धीरे-धीरे उनमें जागने लगी[3] ग्रौर प्राचीन परिपाटी का विरोध प्रबल से प्रबलतर होता चला गया। नूतन साहित्य का निर्माण प्राचीन को नष्ट किए बिना हो ही नहीं सकता, यह भ्रान्ति जड़ पकड़ने लगी थी ग्रौर इस जोश में साहित्यकारों ने ग्रनायास ही समग्र परिवर्तन करने का प्रयास किया जिससे हिन्दी-कविता की प्रचुर हानि हुई, ग्रव्यवस्था ग्रा घुसी[4] ग्रौर कविता के क्षेत्र में इसने इतना जोर पकड़ा कि कहीं कहीं तो उस काल की कविता में तथा गद्य में भेद कर सकना भी कठिन हो जाता है। जिसके जो मन में ग्राता था वह वही करता था ग्रौर यह भी ग्रावश्यक नहीं था कि कोई व्यक्ति जो कहता था वही करता भी हो। यदि यह कहा जाय कि द्विवेदी युग के ग्रारम्भिक ग्राठ-दस वर्ष साहित्यिक ग्रराजकता के वर्ष थे तो इस कथन में कोई विशेष ग्रत्युक्ति नहीं होगी[5]। कुछ साहित्यिकों ने

---

१. "ब्रजभाषा के पक्षपातियों का कहना है कि खड़ी बोली में कविता उत्तम हो ही नहीं सकती और खड़ी बोली वालों का कहना कि ब्रजभाषा की कविता हिन्दी कविता ही नहीं है, सर्वथा अनुचित है।"

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ६, सन् १९०२, पृ० १७८

२. बा० अयोध्याप्रसाद खत्री, खड़ी बोली का पद्य, भाग १, पृ० ४ (भूमिका)।

३. "अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से रीतिकालीन भावना और परम्परा के प्रति विरोध का भाव उदय होने लगा और प्राचीन साहित्य-नियमों, विधानों और आदर्शों की अवहेलना होने लगी।"

(डा० श्री कृष्णलाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० १४)

४. 'अचानक परिवर्तन से साहित्य की व्यवस्था को भारी ग्राघात पहुँचा, वह ग्रव्यवस्थित हो गया ग्रौर ऐसा होना स्वाभाविक भी था।'

('आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास', पृ० १७, लेखक डा० श्रीकृष्णलाल)

५. 'साहित्य में ग्रराजकता सी फैल गयी।' १९०० से १९०८ तक आठ वर्षों का समय आधुनिक साहित्य में अराजता का काल है।' (वही)

रीतकाल की कविता का (अति शृंगारपरक होने के कारण) विरोध किया किन्तु फिर भी उनकी कविता में ठेठ रीतिकालीन भावनाएं पायी जाती थीं, हाँ भाषा उनकी खड़ी बोली थी[१]। इस प्रकार निष्प्रयोजन आलोचना तथा निरंकुश रचनाओं के माध्यम से कविता में नई धारा का प्रचलन हुआ। अन्य बातों के अतिरिक्त इस नई धारा में दो विशेषताएँ अवश्य पायी जाती थीं (क) ब्रजभाषा तथा उसकी परिपाटी का विरोध, (ख) खड़ी बोली के माध्यम से तथा विदेशी-साहित्य के प्रभाव से अपने को विकसित करने का प्रयत्न।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्राचीन परिपाटी की, तथा शृंगार की, कविता का अन्त हो चुका था, वह भी अपने स्वरूप को बनाए हुए अपने मार्ग पर आरूढ़ थी। वास्तव में शृंगार की कविता को तो कभी भी साहित्य से निष्कासित नहीं किया जा सकता। शृंगार के स्थायी भाव रति का जीवन के साथ चोली-दामन का सम्बन्ध है और उसके बिना जीवन का विकास क्या, जीवन-यापन ही सम्भव नहीं है। रति अथवा काम जीवन का अविभाजनीय अंग है। चूंकि साहित्य (या कविता) जीवन की व्याख्या करता है इस कारण साहित्य को यदि जीवन की सच्ची व्याख्या बनाना है तो उसमें काम, रति या शृंगार को स्थान देना ही पड़ेगा-उसकी शैली अथवा परिपाटी कोई भी क्यों न हो। कहने का तात्पर्य यह है कि द्विवेदी युग में भी शृंगार की कविता होती थी। शृंगार की ही नहीं अपितु पुराने ढंग (रीतिकालीन) के शृंगार की रचनाएँ भी द्विवेदी-युग में होती थीं और पर्याप्त परिमाण में होती थीं।[२] वास्तव में द्विवेदी-युग में रीतिकालीन परिपाटी तथा नयी धारा दोनों का समान प्रचलन था। हाँ, इस युग में तीन प्रकार के कवि पाये जाते थे। (क) प्राचीन परिपाटी के अनुयायी,

---

१. फल रूप एक ही पात्र में भरा हुआ था मधु मकरन्द
भ्रमरी के पीने के पीछे पिया भ्रमरवर ने सानन्द।
छूने से जिस मृगी प्रिया के सुखवश हुए विलोचन बंद
एक सींग से उसे खुजाया कृष्ण सार मृग ने सानन्द।
—(महावीरप्रसाद द्विवेदी)

'रीति कवि तो वासनामय शृंगार का व्यापार ही करते थे परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि वीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रजभाषा की वासनामय कविता का विरोध करने वालों ने ही प्रकृति में इस प्रकार के नायक नायिका ढूँढ़ निकाले और एक बार फिर उसी वासनामय कविता की लहर चल पड़ी'। (वही, पृ० ७७-७८)

२. 'पुराने ढंग की शृंगारी रचनाएँ तो द्विवेदी-युग तक होती आयी है और अधिक परिमाण में।'—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
शृंगारकाल की सीमा, हिमालय, अंक ३, पृ० २३, अप्रैल १९४६ ई०)

(ख) नई धारा वाले, (ग) वे कवि जिन्होंने दोनों परिपाटियों का समन्वय करके दोनों का अनुगमन किया तथा दोनों में से किसी का विरोध नहीं किया। वैसे द्विवेदी युग के अधिकांश कवियों ने अपनी प्रारम्भिक रचनाएँ ब्रजभाषा में ही कीं थीं।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत—रत्नाकर, कि०ला० गोस्वामी, सत्यनारायण कविरत्न, राय देवीप्रसाद पूर्ण, नवनीत जी, कन्हैयालाल पोद्दार, मिश्रबन्धु, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पिंगलसिंह, माताप्रसाद दत्तकवि, केदारनाथ त्रिवेदी 'नवीन', सरस्वती देवी, जनार्दन मिश्र 'परमेश,' देवीप्रसाद चतुर्वेदी, शिवरत्न शुक्ल, वचऊ चौबे 'रसीले, अम्बाशंकर व्यास, शंकर कवि, गोपीनाथ, माधोदास, बेनी द्विज, अक्षयवट मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद भानु तथा गिरिजादयाल 'गिरीश' आदि कवि आते हैं।

द्वितीय वर्ग में मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचरित उपाध्याय, कामताप्रसाद गुरु, गिरिधर शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल, लक्ष्मीधर वाजपेयी, मुकुटधर पाण्डे, तथा बालमुकुन्द गुप्त आदि हैं।

तृतीय के अन्तर्गत महाकवि शंकर, मुन्शी अजमेरी जी, हरिऔधजी तथा लाला भगवानदीन जी आदि रखे जा सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी-युग में यद्यपि नई धारा का प्रवाह वेग से प्रवाहित हो रहा था परन्तु फिर भी पुरानी धारा अपनी गति को बनाए हुए थी। यही नहीं, यदि तुलना की जाय तो पुरानी धारा का वेग नई धारा से अधिक तीव्र दिखाई पड़ेगा, हाँ पुरानी धारा अपने पूर्ण उठान से उतर रही थी और नई धारा अपने उठान की ओर अभी अग्रसर हो ही रही थी। यदि हम ध्यान से देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि द्विवेदी-युग में नई तथा पुरानी दोनों धाराएँ साथ साथ बह रही थीं, नई धारा ने अपने को पूर्णरूपेण विलग छायावादी युग में किया। भारतेन्दु-युग में नई धारा का ऊँट तम्बू में अपनी गर्दन घुसेड़ चुका था, द्विवेदी युग में साहित्य के तम्बू में, तम्बू का स्वामी (प्राचीन परिपाटी) तथा ऊंट दोनों साथ साथ विराजमान थे। छायावादी युग तक आते आते ऊंट ने 'अरब' को तम्बू में से बाहर धकेल दिया था।[1]

---

१. नई धारा १९०० सं० के आस पास प्रकट हो गई थी जिसके साथ पुरानी धारा भी चलती रही। इसलिए शृंगार काल की कड़ी के गर्भ से आधुनिक काल की कड़ी १९०० सं० के लगभग घूमी और १९५० तक आते आते वह घूम कर आगे चली आई, १९७५ तक उसने अपने को एकदम पृथक कर लिया।

—विश्वनाथप्रसाद मिश्र

(शृंगारकाल की सीमा, हिमालय, अंक ३ पृ० २३, अप्रैल १९४६)।

इन नूतन तथा पुरातन धाराओं की अवस्था का आधुनिक काल के विभिन्न युगों में निम्नलिखित प्रकार से चित्रण किया जा सकता है:—
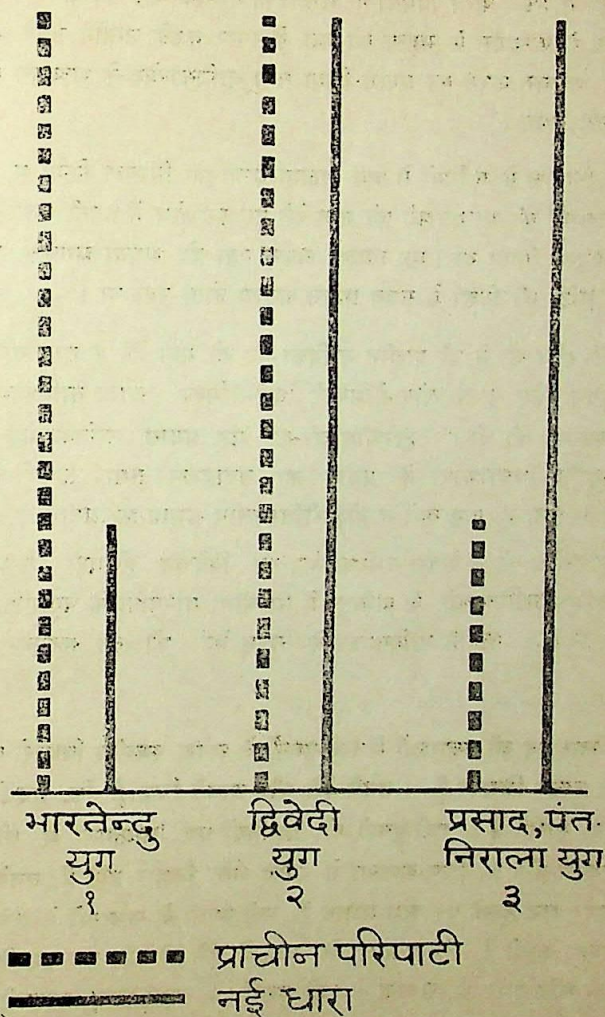
रीतिकालीन परिपाटी थी कि कविजन लक्षण-ग्रन्थों में काव्य-शास्त्र का विवेचन किया करते थे और उन लक्षण-ग्रन्थों में अपने बताये लक्षणों के अनुसार उदाहरण प्रस्तुत किया करते थे। काव्यशास्त्र-विवेचन को कवि-कर्म का ही अंग रीतिकालीन कवियों ने माना था। भारतेन्दु-युग में यह परिपाटी क्षीण हो गयी थी, क्योंकि उस काल में विवेचन कार्य के लिए सुकर गद्य ने जन्म ले लिया था। द्विवेदी-युग में इस गद्य का विकास और भी अधिक हो गया था तथा समालोचना एवं काव्य-

शास्त्र के विश्लेषण का कार्य गद्य में ही होने लगा था। इतना होने पर भी द्विवेदी-युग के महाकवि हरिऔध ने लक्षण-ग्रन्थों के आधार पर 'रस कलश' की रचना की। हरिऔध जी ने उसमें अन्य विषयों के अतिरिक्त नायिका-भेद का भी विवेचन किया। नायिका-भेद के अध्ययन के महत्व को गद्य में स्पष्ट करके उन्होंने उसके मनोवैज्ञानिक आधार का विवेचन करने का प्रयत्न किया तथा नायिका-भेद के अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया।[1]

रीतिकाल के कवियों ने जब लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण किया था, तब उन्होंने प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं को मान देते हुए इस क्षेत्र में अपनी नूतन उद्भावनाएँ करने का प्रयत्न किया था। वह प्रयत्न सफल रहा हो अथवा असफल, उससे काव्य-शास्त्र की वृद्धि की दिशा में सतत प्रयत्न अवश्य होता रहा था।

हरिऔध जी ने भी प्राचीन नायिका-भेद को मान देने के साथ साथ अपने कुछ नूतन विवेचन किए तथा 'लोक-प्रेमिका', 'धर्म-प्रेमिका' आदि नायिकाओं के नवीन भेदों की कल्पना की थी।[2] हरिऔध जी का यह प्रयास नायिका-भेद के क्षेत्र में आधुनिक-युगीन विचारधारा के प्रयोग का उदाहरण तथा द्विवेदी-युग पर पड़े (चाहे वह कितना ही कम क्यों न हो) रीतिकालीन प्रभाव का प्रतीक है।

हरिऔध जी ने केवल नायिका-भेद का विवेचन ही नहीं किया था अपितु उन्होंने विभिन्न नायिकाओं के कवित्त में (प्राचीन परिपाटी के अनुसार) उदाहरण भी प्रस्तुत किये। उन्होंने नायिकाओं के नूतन भेदों की जो कल्पना की थी, वह

---

१. **नायिका-भेद की रचनाओं में स्त्री-पुरुषों के अनेक स्वकीय विचारों एवं भावों का बड़ा सुन्दर चित्रण हैं। उनमें ऐसे जीते-जागते चित्र है कि हृदयों पर अद्भुत प्रभाव डालते हैं। स्त्री-पुरुषों की प्रकृतियों एवं व्यवहारों में धीरे-धीरे कैसे परिवर्तन होते हैं, किस अवस्था में उनके कैसे विचार होते हैं, उनके विचारों का परस्पर एक दूसरे पर क्या प्रभाव है, स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों में कैसे कटुता, कैसे मधुरता आती है, जीवन-यात्रा के मार्ग में कैसे रोड़े हैं, प्रेम-पथ कितना कंटकाकीर्ण और दुर्गम है, समाज के स्त्री पुरुषों की रहन-सहन प्रणाली साधारणतः क्या है? वह कैसी विचित्रतामयी है, उसके चक्कर में पड़कर जीवन-यात्रा में क्या परिवर्तन हो जाते हैं, स्त्री-पुरुषों में क्या क्या चालबाजियां होती हैं, आपस में वे एक दूसरे के साथ कैसी कैसी कुटिलताएँ करते हैं, वियोग अवस्था में उनकी क्या दशा होती है? और सुख के दिन उनके कैसे सुन्दर और आनन्दमय होते हैं इन सबका व्यापक वर्णन आपको नायिका-भेद के ग्रन्थों में मिलेगा।**

[अ० सि० उ० 'हरिऔध'; 'रस कलश', पृ० १३श०]

२. देखिए-परिशिष्ट—२

नायिका-भेद को समयानुकूलता प्रदान करने के लिए ही थी। इन नूतन नायिकाओं के लक्षण दर्शनीय हैं।[1]

लक्षण ग्रन्थों के क्षेत्र में हरिऔध जी का प्रयत्न रीतिकाल के द्वारा प्रभावित था, यही नहीं उनकी तथा अन्य अनेक कवियों की मुक्तक रचनाओं पर नायिका-भेद का प्रचुर प्रभाव था। यद्यपि आज कुछ विद्वानों के मतानुसार नायिका-भेद नारीत्व

---

१. पति-प्रेमिका

बैन सहे करूए पिय के, हरूए तिय बोलि सदा सनमानै।
दोष अनेकन देत तऊ, कबहूँ अपने मन दोष न आनै॥
ना करनी ही करै हरिऔध, पै बाल न नाकर-नूकर ठानै।
नाह के कीन्हे गुनाहन हूँ, तिय अपनो नेह निबाहन जानै॥७७४॥

निजतानुरागिनी

सुन्दर सिन्दूर बिन्दु ही ते सुन्दरी है होति,
पौडर को समुझि असुन्दर डरति है।
सौंधे के सुवास में सुवासित रहति है भूरि,
साबुन के परसे उसासन भरति है॥
'हरिऔध' पर के असन को असनि कहै,
आपने बसन बेस कों न बिसरति है।
सारी अंसबारी हू पहरि पुलकति प्यारी,
साया परे साया के सबाया सिहरति है॥

लोकसेविका

रूखी सूखी बातन तें रुख बदलति नाहिं,
रूखी न परति रूखाई देखि रूखे की।
खोवति न साख, सीख देति है सखीन हू को,
सुखी ना रहति सूखी नसें देखि सूखे की॥
'हरिऔध' सूखापन काहि अखरत नाहिं,
खूखी है बनति मूठी बात सुन खूखे की।
दुखित कों करिकें अदुखित है सुखित होति,
भूखित न बाल भूख देखि भूखे की॥७८०॥

देश-प्रेमिका

गौरवित सतत अतीत गौरवों ते होति,
गुरुजन गुरुता में कहानी कबूलती।

का अपमान है तथा रीतिकाल की नारी-भावना पाश्चात्य-साहित्य की नारी-भावना की अपेक्षा हेय है,[1] फिर भी उस काल में कविता में नायिकाओं के अवस्था, दशा, अथवा धर्म के आधार पर जो भेद किए गए, वे उस काल की मान्यताओं के अनुरूप ही नहीं थे अपितु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी समुचित थे । वास्तव में हमारी अंग्रेजियत की अति ने तथा सांस्कृतिक दासता ने हमें पाश्चात्य-साहित्य की ओर मोड़ा और हमने प्राचीन विद्वानों की अवहेलना करना आरम्भ कर दिया[2] । द्विवेदी-युग साहित्य के क्षेत्र में इसी सांस्कृतिक दासता के आरम्भ के लिए उल्लेखनीय है । द्विवेदी-युग में समालोचकों ने पश्चिम की ओर देखना आरम्भ कर दिया था किन्तु कविता पर अभी पश्चिमी साहित्य का प्रभाव विशेष रूप से नहीं पड़ पाया था । यह कार्य आगे चलकर छायावादी युग में हुआ । अस्तु !

द्विवेदी-युग के प्राचीन परिपाटी के अनुयायी कवियों ने अपनी कविता में अनेक स्थानों पर नायिका-भेद का आश्रय लिया था, और उनकी इस प्रकार की कविता रीतिकालीन परिपाटी से प्रभावित ही नहीं है अपितु रीतिकाल की अच्छी से अच्छी कविता की टक्कर की भी है ।

हरिऔध जी ने 'सामान्या' (गणिका) नायिका के लक्षण निम्नलिखित रूप से वर्णित किये है:—

(पृष्ठ १०१ का शेष)

मुदित बनति अवनीतल में फेलि फेलि,
कीरति की कलित लता कों देखि फूलती ।।
'हरिऔध' प्रकृति अलौकिकता अवलोकि,
प्रेम के हिंडौले में पुलकित झूलती ।
भारत की भारती विभूति ते प्रभावित ह्वै,
भामिनी भली भारतीयता न भूलती ।।७७७।।

—हरिऔध
(उत्तमा नायिका, रसकलश)

१. **"अंग्रेजी कविता, नाटक और उपन्यासों में नारीत्व की भावना रीतिकाल के नायिका-भेद से कहीं अधिक उच्च और पवित्र है ।"**
(आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (भूमिका), डा० श्रीकृष्ण लाल, १९४२ ई०, पृ० १४)

२. **"अंग्रेजी-साहित्य के अध्ययन से रीतिकालीन परम्परा और भावना के प्रति विरोध का भाव उदय होने लगा और प्राचीन साहित्यिक नियमों, विधानों और आदर्शों की अवहेलना होने लगी ।"**
(वही)

"क्यों हूं न याम जनात है जात,
रिझावत ऐसी रहैं रतिग्रान में।
देखत ही मन टूटि परै कछु,
राखहि ऐसी छटा छतियान में।
ऐ 'हरिग्रौध' करौ विनती हूँ,
विलम्ब पै होत नहीं पतिग्रान में।
बीस गुनी मिसिरी ते मिठास है,
वार विलासिनी की बतिग्रान मैं।"
(रस कलश)

उपर्युक्त उदाहरण में कवि ने लक्षणों का इस प्रकार से वर्णन किया है कि वे 'बार-विलासिनी-नायिका' के गुण ही प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार के वर्णनों को देखकर कहा जाता है कि रीतिकाल की नारी-भावना हेय थी। वास्तव में इस प्रकार के तर्क यथार्थ से (यद्यपि आधुनिक समालोचक यथार्थवादी होने का दावा करते हैं) आँखें मूँद लेते हैं और यह भूल जाते हैं कि चिरकाल से आज दिन तक गणिका का समाज में एक विशेष स्थान है; वह चाहे अपेक्षित हो या अनपेक्षित, उपेक्षित कभी नहीं रहा।

द्विवेदी युग के अन्य कवियों ने जो नायिका-भेद के अनुसार रचनाएँ की हैं उनमें से कुछ का संकेत हम यहाँ करेंगे।

रत्नाकर ने 'सवति' में अनुरक्त नायक के प्रति 'उत्तमा' नायिका[1] से जो कहलवाया है वह समाज में चिरकाल से प्रतिष्ठित पुरुषों के महत्व को स्थापित करने वाला तथा नारी-स्वभाव को व्यंजित करने वाला है।

इसी प्रकार प्रिय की बार बार की निठुराई तथा शठता से ऊब जाने वाली 'मध्या अधीरा' नायिका वक्रोक्ति से प्रिय के "रूरे चरित्रों" पर व्यंग करती हुई कहती है :—

दाह रही दिल में दिन द्वैक बुझी धिर आवै कराह नहीं अब।
मान के रावरे रूरे चरित्र गुन्यौ हिय में कि निबाह नहीं अब॥
चाहक चारु मिले तुमकों चित माँहि हमारे भी चाह नहीं अब।
जो तुममें न सनेह रहौ हमको भी नहीं परवाह रही अब॥[2]
—गयाप्रसाद शुक्ल

---

१. गरब गुमान सब मेट करि तेरी एरी,
सौति हूँ की चेरी औ कमेरी ह्वै रहेंगी हम॥
('शृंगारलहरी'-रत्नाकर)

२. 'कविता कौमुदी', भाग २, पृ० ४०६।

और इसी प्रकार रत्नाकर जी भी 'खण्डिता नायिका' में मान के आरम्भ के लक्षणों का भी समावेश है :—

आए उठि प्रात गीले गात अलसात मुख,
आवति न बात भाल भावत कसीस है।
कहै रतनाकर सुधाकर मुखी सो लखि,
बिलखि न बोली रही नीचैं करि सीस है॥
कर कुच-कोर और बढ़त पिया कौ पेखि,
भावती चढ़ाई भौंह भाव यह दीस है।
जानि पंचबान की चढ़ाई ईस-सीस मानौ,
रीस करि तानत कमान रजनीस है॥[1]

आते हुए प्रिय की प्रतीक्षा में पूर्ण-यौवना 'आगतपतिका' नायिका का पोद्दार जी ने सुन्दर चित्रण किया है[2] इसी प्रकार 'परकीया ऊढ़ा' का परम्रागत तथा सुन्दर उदाहरण 'रसीले' जी ने प्रस्तुत किया है :—

ननद निगोड़ी बदनाम व्रजमण्डल की,
गयी ससुरार देखु बालम न घर पैं।
कहत 'रसीले' बूढी आँधरी बधिर सास
बूझति न बात सो रहत पड़ी दर पैं।
औसर न पैहौ फैर कसक मिटायबै की,
क्यों न गर लाऔ जाके चढ़ी हौ नजर पैं।
घेर ही रहत रोज अथए दिवाकर के,
धीरज धर्यौ ना जात लाल गिरधर पैं॥[3]

द्विवेदी युग में समस्यापूर्ति का प्रचलन था और एक ही समस्या पर अनेक कवि (कभी कभी एक ही नायिका की[4]) रचनाएँ करते थे।

---

१. 'शृंगार लहरी'-छन्द १४३।

२. उन्नत पीत उरोज लसैं, युग दीरघ चंचल दीठि विलोकित,
गेह की बेहरी पै स्थित ह्वै पिय आगम के उतसाह प्रलोभित।
—से० कन्हैयालाल पोद्दार

३, बचऊ चौबे रसीले, (समस्या पूर्ति, भाग १ पृ० ११।१२)

४. सास को सुलाय औ रिसाय निज बालम सों,
न्यारी ह्वै घरीक लौं रहौंगी सोय घर पैं।
तुम तो अजान सी बकौ हो सबै जान बूझ,
ऐसे बैन सुनत हमारो जीव डरपै॥

कामशास्त्र से प्रभावित नायिका-भेद में रति-क्रीड़ा के आधार पर अनेक अवस्थाएँ मान ली गयी हैं। प्रिय के साथ की गयी रति-क्रीड़ा के आनन्द में सम्मोहिता 'प्रौढ़ा-आनन्द-सम्मोहिता' का बचऊ चौबे 'रसीले' जी का उदाहरण भी सुन्दर है[1]।

राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' रत्नाकर जी के समान ठेठ प्राचीन परिपाटी के अनुगामी थे उन्होंने 'दिवाभिसारिका' का एक उदाहरण रचा था :—

कंचन के भूखन संवारे, पुखराज वारे,
धारी जरतारी पीत सारी सुखकारी है,
सूनी दुपहर में निदाघ की बिहारी पास,
पूरन सिवारी वृषभानु की कुमारी है।
ब्रजचन्द्र ध्यान में भान रसखान प्यारी,
ताती पौन लेखत बसंत की बयारी है,
आतप अखंड चंडकर प्रचण्ड सोऊ,
मानत सुचंद की अमंद उंजियारी है ॥[2]

रीतिकालीन कविता में राधा तथा कृष्ण का आधार लेकर जो नायिका-भेद का चित्रण किया जाता था, उससे प्रभावित 'मानवती' नायिका का एक सुन्दर चित्र

(पृष्ठ १०४ का शेष)

बेनी द्विज बनि है न एक हू बबा की सौंह
भलिहू जौ जैहै यह बात काहू घर पैं।
पहर द्वै एक के लिए जू भला नाहक ही,
धीरज धर्‍यौ न जात लाल गिरधर पैं।
(बेनी द्विज, समस्यापूर्ति, भाग १, पृ० १०)

१. भई सब भाँति बदनाम ब्रज मण्डल तू,
खोय धोय लाज चुकी या में ना असित है।
कहत रसीले पीक लपटी कपोलन पैं,
टूटि हिय हार मोती भूमि में खसति है।
जानी रैन जागी अनुरागी प्रेम पागी कहूँ,
भौंरे भकुवानी अंगराई ले हंसति है।
अधमुदी अँखियाँ उनीदी ये खुमारी भरी
अरुन उदै की कंज कली सी लसति है ॥
(समस्या पूर्ति, प्रथम भाग, पृ० २२)

२. मिश्रबन्धु विनोद, चतुर्थ भाग, पृ० २३२।

कवि नवीन ने उपस्थित किया था[1] तथा 'मानिनी' नायिका को दूती द्वारा दिए जाने वाले उद्दीपक सन्देश का अक्षयबट मिश्र का वर्णन भी परम सुन्दर है।[2] ठीक इसी प्रकार का एक छन्द 'शृंगार-लहरी' में रत्नाकर का है उसमें कवि की कथन की चतुराई विशेष रूप से प्रदर्शित होती है।[3]

रत्नाकर जी का 'कलहान्तरिता' नायिका का चित्रण भी सुन्दर है :—

प्यारे मनमोहन मनाई समुझाई तुहूँ,
हों न चित लाई ताकौ सोच निसरा दै तू।
अब पछितात अकुलात मान जात बीर,
कछु करि जाइ ल्याइ पाइनि परा दै तू॥
('शृंगार-लहरी' रत्नाकर)

उपर्युक्त छन्द में 'कलहान्तरिता' नायिका सखी (अथवा दूती से) प्रिय को फिर एक बार अपनी खुशामद करने के लिए प्रेरित करने के लिए कहती है, षडयंत्र रचने की विरहिणी नायिका की यह चेष्टा परम स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक है।

शृंगार-वर्णन

नारी के सौन्दर्य के वर्णन के क्षेत्र में अंकुरित-यौवन तथा वय-सन्धि की अवस्था के चित्रण का बढ़ा महत्व है। शरीर तथा मन में होने वाले क्रमिक-परिवर्तनों का चित्रण कवियों का प्रिय विषय रहा है। देखिए :—

---

१. ऐन अंधियारी रैन कहत बनै न बैन,
शिशिर समीर शीत बावरै करति है
प्यारी परयंक पै परी हू पछितात प्रात
आयो प्राण प्यारो पग जांवरै धरति है।
मान करि आली मुख फेरति जितै को उतै,
बिनती अनेक भाँति साँवरौ करति है,
राधिकै मनावै घूमि घूमि कै नवीन श्याम,
मानो भौंर पंकज की भांवरै भरति है।
—केदारनाथ त्रिवेदी 'नवीन'

२. बार बार चमकै चहूंधा चंचला री देखु,
विप्रचंन्द्र बारिद हू बारि बरसावै है
पौन पुरवाई बहै पपिहा पुकारै पीय,
मोरदल कूक कूक मदन जगावै है।
ऐसे समै नाहीं निबहैगो तेरो एरी बीर,
नाहक अकेली बैठि बेदन बढ़ावै है,
मानि ले हमारी बात बेगि चलु मेरे साथ,
जोरि कर आजु तोहि कान्हर बुलावै है॥
(अक्षयबट मिश्र, उपनाम-विप्रचन्द्र)

३. शृंगार लहरी, पृ० ३५६ छन्द संख्या १२४।

छतियाँ छबीली दिन रतियाँ बढ़न लागी
बतियाँ सलोनी सखियान तें रसति है ।
छुवै रहीं नितम्बन कों पीनता कछूक तातें
पूरन मधुरताई बैननि बसति है ।।
गोपीनाथ मदन सदन कियै याके अंग
अंग अंग सोभा अनूप दरसति है ।
निसि सिसुता को चन्द अथै गयौ मेरी जान,
अरुण उदै की कंज कली-सी लसति है ।।[1]

प्रथम पंक्ति में शारीरिक परिवर्तन का वर्णन तथा तत्काल दूसरी में मानसिक परिवर्तन की प्रतीक 'सलोनी बतियाँ' का संकेत परम मनोवैज्ञानिक है, इसी प्रकार तृतीय तथा चतुर्थ पंक्ति में बाह्य तथा आन्तरिक परिवर्तनों का और सौन्दर्य तथा रस-वृद्धि का चित्रण है ।

पण्डित अमृतलाल चतुर्वेदी (शीतला गली, आगरा) से प्राप्त एक हस्तलिखित प्रति में नवनीत जी की 'सद्यस्नाता' विषयक एक परम सुन्दर कविता हमें मिली है । उसमें नारी के सद्यस्नात सौन्दर्य का चित्रण तो है ही, उसके साथ-साथ उसकी अन्तिम पंक्ति में कवि बड़ी दूर की कौड़ी लाया है :—

आई प्रात न्हाय वृषभानुजा कलिन्दजा में,
सखिन समेत गृह मारग सुचीन्हो है ।
नवनीत, प्यारौ उत आवत लख्यौ ही नहीं,
भइ भटभेर हेरि हरष नवीनों है ।।
पैरें सेत सारी सो किनारीदार मुक्तमाल,
लाल कों निहार चट घूँघट सुदीनो है ।
दाबे ही रहतु चन्द्रमा तों चाँदनी कौं सदा,
आजु चांदनी ने चन्द्रमा को दाबि लीन्हो है ।।

इस उदाहरण में सद्यस्नाता के चित्रण में अर्द्ध नग्न शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण न होकर उसकी व्यंजना मात्र है तथा स्नानोपरान्त नायिका (राधिका) की अचानक कृष्ण से भेंट हो जाने में एक परिस्थिति-विशेष की कोमल कल्पना भी की है ।

शारीरिक सौन्दर्य के चित्रण में द्विवेदी-युग के अधिकांश कवियों ने प्राचीन शृंगारी परिपाटी का ही अनुसरण किया था । उभरते हुए उद्दाम यौवन का शंकर जी का यह चित्र अपने काल में परम प्रसिद्ध था :—

---

१. **गोपीनाथ, समस्या पूर्ति, प्रथम भाग, पृ० २३ ।**

समस्या :—चोली फट जावेगी ।

शंकर सो पूछ के जू बसन सुरंग आज,
साजत हो शोभा सबही के मन भावेगी ।
नाभि के निकट नीबी घूरत में लोगन को,
घेरदार घांघरी घुमेर में घुमावेगी ।
कामदार धानी कुरती की छबि छीन चित,
ओढ़नी के नीचे चोटी लटक दिखावेगी :
मानिए मंगावो और ओछी है उतारो याहि,
खेंच के न बांधौ बन्द चोली फट जावेगी[१] ।।

इसी प्रकार रत्नाकर जी ने यौवन तथा सौन्दर्य का सम्मिलित चित्रण किया है, जिसकी विशेषता है उस सौन्दर्य के मन पर पड़ने वाले प्रभाव का संकेत[२] ।

प्राचीन परिपाटी के कवियों में झांसी निवासी स्वर्गीय मुंशी अजमेरी यद्यपि बहुत प्रतिभाशाली कवि थे फिर भी हिन्दी जगत उनके वास्तविक रूप को नहीं जान पाया । बाबू मैथिलीशरण गुप्त जैसे बड़े कवि को प्रेरणा देने वाले* मुंशी जी जीवन भर काव्य-साधना करते रहे और प्रकाशन से सदा बचते रहे । फिर भी जो कुछ मुंशी जी के नाम से प्रकाशित हुआ है वह उन्हें साहित्य-जगत में ऊंचा स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है । भाषा पर पूर्ण अधिकार, प्रवाह और प्रसाद गुण उनकी रचनाओं के विशेष गुण हैं[३] । उनके द्वारा चित्रित 'श्रमिता' नायिका के सौन्दर्य का रूप देखिए

---

१. शंकर सर्वस्व, पं० नाथूराम शंकर शर्मा—पृ० ३०१ ।

२. उन्नत ललाट नैन लोलनि कपोलनि पै,
अधर अमोलनि पै ललकि लुभान्यौ जात ।
ग्रीवा कल कंध भुजा उरज उतंगनि पै,
रोमराजी रंगनि पै लखि ललचान्यौ जात ।।
त्रिबली तरंगनि के परत झकोर माँहि,
भौंर माहि नाभी के निरन्तर भुलान्यौ जात ।
कटि तट जाइ पै न पाइ कछु दाइ तहां,
हेरत ही हेरत सु मो मन हिरान्यौ जात ।।
(शृंगार लहरी, पृ० ३२८, छन्द संख्या ३७)

*'साकेत' के प्रणयन में उनका योगदान पिछले खेवे के साहित्यिकों में सर्वविदित हैं ।

३. 'तरंगिणी,' सम्पादक-शुचिव्रत लक्ष्मणपाल, मुंशी अजमेरी, पृ० ६९ ।

मुख सरसिज अलकावलि अलिगन पांति,
श्रमकन पिय मन रंजन हिमकन भांति।
आभा अमल कपोलन सीप-समान
श्रमकन झलकन मानहुं दुति मुतिमान।
निज कर सों निरवारत बारन ओंछ,
पिय तन मन धन बारत श्रमकन पोंछ।
कल कालिन्दी कूलन झूलन तीन,
चली संवार दुकूलन फूलन बीज।
झोंकन भूषन झमकन दमकन रंग,
भये रंक लच लमकन श्रमकन अंग।
परसत पियतन सरसत मुख श्रम बिन्दु,
दरसत मनहुं सुधा-कन बरसत इन्दु।
पलकन अमल कपोलन ललकन चूम,
झलकन लागे श्रमकन अलकन झूम।[1]

द्विवेदी-युग की एक नारी ने 'नारी सौन्दर्य', तथा नखशिख का परिपाटीबद्ध चित्रण किया है।[2]

कविवर मैथिलीशरण जी गुप्त यद्यपि रीतिकालीन परिपाटी के अनुगामी नहीं हैं; नारी-सौन्दर्य के उनके चित्र सुन्दर हैं तथा उन पर रीतिकालीन प्रभाव खोजना कठिन ही है, फिर भी कहीं कहीं उनके चित्रों पर बिहारी आदि रीतिकालीन कवियों का प्रभाव-सा लगता है।[3]

---

१. 'तरंगिणी' सम्पादक, शुचिव्रत लक्ष्मणपाल, मुंशी अजमेरी, पृ० ६९।

२. नैन कजरारे कोरवारे घन भौंह तानि,
मारत निसंक बान नेकु ना डरत हैं,
बेसर विसेष वेश-कीमति जड़ाऊ वेखि,
तारन समेत तारापति हहरत हैं।
अधर कपोल दंत नासिका बखानौ कहा,
केस को सुबेस लखि सेस कहरत हैं,
श्री फल कठोर चक्रवाक से निहारे तेरे,
उरज अमोल गोल घायल करत हैं॥ सरस्वतीदेवी

३ पाकर विशाल कच-भार एड़ियाँ घँसती,
तब नख ज्योति मिस मृदुल अंगुलियाँ हँसतीं।
पर पग उठने पर भार उन्हीं पर पड़ता,
तब अरुण एड़ियों से सुहास्य-सा झड़ता।
(गुप्त जी की कला, डा० सत्येन्द्र, पृ० १००)

रत्नाकर जी द्विवेदी-युगीन प्राचीन परिपाटी के कवियों में प्रत्येक क्षेत्र में आगे थे, उन्होंने रति-क्रीड़ा (संभोग-शृंगार के अन्तर्गत) का सुन्दर चित्रण किया है :–

जरद चमेली चारु चंपक पै ओप देति,
डोलति नवेली हुती सदन-बगीची में।
कहै रतनाकर सुदुति सुखमा की जाकी,
दमकि रही है दिव्य पूरब प्रतीची में॥
भुज भरि लीनी रसदानि आनि औचक हीं,
लरजि लरजि परी वाम खींचा खींची में।
हिरकि रही है स्याम अंक में ससंक मनो,
थिरकि रही है विज्जु बादर-दरीची में।[1]

कविवर अम्बाशंकर 'शंकर' कवि ने रूपक मिश्रित रति-क्रीड़ा का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है जिसमें रीति परिपाटी के अनुसार नखच्छत आदि का वर्णन है। रीतिकालीन प्रभाव यहाँ पूर्णरूपेण मुखर हो उठा है।[2] रति-क्रीड़ा का रूपक होली से बाँधा गया है, और इस प्रकार वर्णन रीति-प्रधान हो गया है।

श्री देवीप्रसाद जी 'पूर्ण ने' साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त लोकगीतों की ओर भी ध्यान दिया था, उनकी इसी प्रकार की एक रचना में प्रेमी तथा प्रिय के मिलन सुख का लयपूर्ण वर्णन है—

अच्छे अच्छे फुलवा बीन री मलिनियाँ गूँथि लाओ नीको नीको हार।
फुलन कौ हरवा गोरी गले डरिहौं सेजिया मों होय रे बहार॥
हरिभजना, करु गौने के साज।
चैत मास की सीतल की चाँदनी रसे-रसे डोलत बयारि।
गोरिया डोलवों बीजना रे पिया के गरै बाहीं डार॥
हरिभजना पिया के गरे बाहीं डार॥
—देवीप्रसाद राय 'पूर्ण'

---

१. शृंगार-लहरी छन्द १४

२. रति सुख रीति राग राची दोउ दम्पति जू,
अंग राग स्वेद सनि रंगन घुरन की।
चूमि चूमि अधर कपोल अंग इमि इमि,
सी, सी की सनाकें रागु होरी के सुरन की।
संकर जू सारी लाल लपटी गुलाल होइ,
रदन नखच्छत मुकेस हू कुरन की।
डफ ढोल ताल झांझ झालरि मृदंग साज,
बाजत बजन ये अनूप नूपुरन की।
(समस्यापूर्ति, प्रथम भाग, पृ० २७)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गुप्त जी पर रीतिकालीन परिपाटी का प्रभाव नहीं है, तथा सौन्दर्य अथवा मिलन-वर्णन में जहाँ भी शारीरिकता हो वहाँ रीतिकालीन प्रभाव होगा ही, यह भी आवश्यक नहीं है, फिर भी गुप्त जी में जो संभोग-श्रृंगार का चित्रण है वह दृष्टव्य है तथा उस पर डा० नगेन्द्र का मत भी विचारणीय है :—

"संयोग में शारीरिकता अनिवार्य है और उसका तिरस्कार करना प्रकृति के नियमों का तिरस्कार करना है। 'साकेत' में ऐसे चित्र भी हैं।

उर्मिला एक दिन की बात सखी से कह रही है :—

आए एक बार प्रिय बोले—एक बात कहूँ,
विषय परन्तु गोपनीय सुनो कान में।
मैंने कहा कौन यहाँ ? बोले प्रिये, चित्र तो है,
सुनते हैं वे भी राजनीति के विधान में।
लाल किये कर्ण मूल होठों से उन्होंने—कहा,
क्या कहूँ सगद्गद् हूँ मैं भी छद पान में।
कहते नहीं हैं करते हैं कृती; सजनी मैं,
खीझ के भी रीझ उठी उस मुसकान में।"[1]

संयोग श्रृंगार' के इस चित्रण में शारीरिकता तो है, परन्तु अधिकांश रूप में संभोग केवल व्यंग्य है इस कारण यह चित्र रीतिकालीन चित्रों से भिन्न है तथा सुन्दर भी है। वास्तव में 'संयोग श्रृंगार' के क्षेत्र में गुप्त जी पर रीतिकाल का कोई सीधा प्रभाव नहीं है।

इस काल में किये गये विपरीति-रति आदि के परिपाटीबद्ध चित्रणों द्वारा भी यह प्रमाणित होता है कि द्विवेदी-युग के प्राचीन परम्पराधारी कवियों पर रीतिकालीन प्रभाव पूर्णरूपेण था।

विरह

द्विवेदी-युग के प्राचीन परिपाटी के कवियों के विरह-वर्णन की एक मुख्य विशेषता यह है कि उनमें पूर्वराग का वर्णन लगभग नहीं के बराबर है। वैसे भी पूर्वराग के वर्णन को और उसमें तीव्र विरह की व्यंजना को विद्वानों द्वारा अस्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक नियमों के विरुद्ध माना गया है। शुक्ल जी ने उसे केवल कामदशा माना है और उसे प्रेम के अन्तर्गत नहीं रखा है।[2] सम्भवतः द्विवेदी-युग के कवियों ने भी इसे इसी कारण विशेष रूप से चित्रित न किया हो।

विरह-वर्णन की परम्पराबद्ध, अत्युक्ति से पूर्ण, विरह की उक्तियाँ इस काल में पायी जाती हैं। शंकर जी की यह उक्ति ऊहात्मक है, और प्राचीन प्रभाव से युक्त है :—

---

१. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, 'साकेत' में गार्हस्थ्य चित्र, पृ० ३५।
२. रामचन्द्र शुक्ल; जायसी ग्रन्थावली, तृतीय संस्करण, भूमिका, पृ० ३०।

शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की,
भाप बन अम्बर तें ऊँची चढ़ जायगी।
दोनों ध्रुव छोरन लौं हल में पिघल कर,
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायगी॥
झारेंगे अंगारे ये तरनि तारे तारापति,
जारेंगे खमण्डल में आग मढ़ जायगी।
काहू विधि विधि की बनावट बचेगी नाहिं,
जो पै वा वियोगिन की आह कढ़ जायगी॥[1]

हृदय के विदीर्ण होने को लेकर की गयी कविवर सत्यनारायण की उक्ति में भी अतिशयोक्ति का आधार है तथा अन्तिम पंक्ति में चमत्कार उपस्थित करने का भी प्रयत्न है।[2] शैली पूर्णरूपेण रीतिकालीन है।

रत्नाकर के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'उद्धव शतक' में जो गोपियों के विरह का वर्णन है उसमें भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति एवं रूपक का पूरा-पूरा निर्वाह है। इसी प्रकार का एक छन्द देखिए :—

हरि-तन-पानिप के भाजन दृगंचल तैं
उमगि तपन तैं तपाक करि धावै ना।
कहै रतनाकर त्रिलोक-ओक मण्डल में
बेगि ब्रह्मद्रव उपद्रव मचावै ना॥
हर कों समेत हर-गिरि के गुमान गारि
पल में पतालपुर पैठन पठावै ना।
फैलै बरसाने मैं न रावरी कहानी यह
बानी कहूँ राधे आधे कान सुनि पावे ना[3]॥

---

१. कविता कौमुदी, भाग २, चौथा संस्करण, पृ० ११०।

२. रीति की बात न प्रीति की बात,
प्रतीत की बात न बातन पाई।
ज्ञान सुहाय न चाप न चित्त में,
ना दुख पाय सहैं कठिनाई॥
पीय ही पीय पुकारत है हिय,
पापी संतापी रह्यौ नहिं जाई।
सत्य जू, हा, हरि के बिछुरे,
छतियाँ फटिगीं पै दरार न आई॥
('हृदय तरंग'-सम्पादक-ब० दा० चतुर्वेदी, समस्यापूर्ति, पृ० २०५)

३ रत्नाकर 'उद्धव शतक', उद्धव के प्रति गोपियों का वचन, छन्द ८५।

इस छन्द में रत्नाकर ने परिपाटी का पालन तो किया ही है, साथ ही साथ राधिका के विरह की तीव्रता का अत्युक्ति तथा रूपक के माध्यम से बड़ा मार्मिक चित्रण किया है।

साकेत में गुप्त जी ने जो विरह-वर्णन किया है, उसमें कामदेव तथा 'चपल यौवन बाल' के माध्यम से उरोजों का जो प्रयोग किया है, उसमें रीतिकालीन प्रभाव-सा लगता है। विरह में यौवन का 'सालना' कामशास्त्रीय संकेत है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।[१]

प्राचीन काव्य-परिपाटी में बहुधा कविगण रसायनशास्त्र का प्रयोग किया करते थे। जिस प्रकार रत्नाकर ने अपने उद्धव शतक में 'कायन की रुचिर रसायन रसीली ले' में रसायन-शास्त्र का प्रयोग किया है—उसी प्रकार गुप्त जी ने भी एक स्थान पर स्वर्ण-रसायन सिद्ध किया है।

उर्मिला के विरह में कवि ने लिखा है :—

'उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से।
वर्ण वर्ण सदैव जिनके हो विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के ?[२]

सामान्य रूप से गुप्त जी परम्परामुक्त कवियों में हैं तथा उनकी (द्विवेदी-युग की) कविता की मुख्य विशेषता थी राष्ट्रीयता एवं उसको पुष्ट करने वाली वीर-भावना, फिर भी भारतीयता के समर्थक होने के कारण गुप्त जी में कहीं कहीं प्राचीनता की झलक मिल जाती है।

'हरिऔध' जी की विरह की भावनाएँ (उनकी खड़ी बोली की कविताओं में भी) बहुधा प्राचीन उपमाओं एवं वर्णनों से युक्त होती थीं तथा उनमें अत्युक्तिपूर्ण

---

१. "मेरे चपल यौवन-बाल
अचल अंचल में पड़ा रह, मचल कर मत साल"
कभी कामदेव पुष्प बाण लिए उस पर आक्रमण करता है। बेचारी दीन होकर प्रार्थना करती है—
मुझे फूल मत मारो
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया बिचारो।"
(साकेत—एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, साकेत में विरह, पृ० ८२)

२. गुप्त जी की कला-डा० सत्येन्द्र, पृ० ५३।

वर्णनों के दर्शन भी होते हैं, साथ ही साथ विरह की परम्परागत अवस्थाओं की ओर भी संकेत पाया जाता है।[1]

रीतिकाल में अपत्य स्नेह का वर्णन हमें कम मिलता है, यों भक्त कवियों के छुट-पट छन्दों में कृष्ण-यशोदा विषयक वात्सल्य के संकेत मिलें तो उससे कोई विशेष भेद नहीं पड़ता। द्विवेदी-युग में वात्सल्य का पर्याप्त मात्रा में विकसित वर्णन पाया जाता है। सत्यनारायण कविरत्न का 'भ्रमरगीत' तो वात्सल्य के आधार पर ही निर्मित था, उसके अतिरिक्त 'प्रिय प्रवास' में तथा 'साकेत' में वात्सल्य का भावपूर्ण चित्रण पाया जाता है। हरिऔध जी के 'अपत्य' के विरह-पक्ष के चित्रण में आलंकारिकता एवं कुछ बनावटीपन[2] सा पाया जाता है, किन्तु गुप्त जी ने जो चित्रकूट की सभा आदि में वात्सल्य के मिलन तथा विरह का वर्णन किया है, वह उत्कृष्ट तथा भावपूर्ण है।

द्विवेदी-युग के भाव-क्षेत्र में 'वात्सल्य' पर रीतिकालीन प्रभाव नहीं मिलता।

विरह-वर्णन के अन्तर्गत मान का अपना विलग महत्व है। नायिका-भेद के विवेचन के अन्तर्गत हम मानवती नायिका के अनेक उदाहरण दे आये हैं, यहाँ रत्नाकर का केवल एक उदाहरण और दिया जाता है जिसमें 'मान' की जलन तथा दूती का उद्दीपक कथन नायिका को मान छोड़ने के लिए प्रेरित करता हुआ दृष्टिगत होता है :—

लाग अनुराग की रही है इमि लागि सही,
जाति बिरहागि ना दवागि पान कर पैं।

---

१. उर बिदलित होता मत्तता वृद्धि पाती।
विलख न जो मैं यामिनी-मध्य रोती।
विरहदव जलाता गात-सारा हमारा।
यदि मम नयनों में बारिधारा न होती।।
(प्रिय प्रवास, सर्ग १५, पृ० २२३)

२. स्वकुल जलज का है जो समुत्फुल्लकारी।
मम परम-निराशा-यामिनी का बिनाशी।।
व्रज-जन बिहगों के वृन्द का मोद-दाता।
वह दिनकर शोभी रामभ्राता कहाँ है।।
मुख पर जिसके है सौम्यता खेलती-सी।
अनुपम जिसका हूं शील सौजन्य पाती।
पर दुख लख के है जो समुद्विग्न होता।
वह सरलपने का स्वच्छ सोता कहाँ है।।

प्रबल वियोग-रोग निबल कियौ है इमि,
धीरज धरयौ न जात लाल गिरधर पै ॥[1]

शृंगार-वर्णन की प्राचीन परिपाटी के अन्तर्गत जिन विभिन्न अवस्थाओं की कल्पना की जाती है, उनमें होली के उत्सव का तथा झूला झूलने आदि की क्रीड़ाओं का अपना विशेष स्थान होता है। रत्नाकर जी ने तो 'हिंडोला' नाम से एक प्रबन्ध काव्य भी लिखा था—उसमें परिपाटीवद्ध (कृष्ण की मधुरा-भक्ति का प्रभाव भी उस पर है) शृंगार के दर्शन हमें होते है :—

एक बेर निज ओर पैंग की होत उचाई,
सम्हरि न सकी सयानि सरकि प्रीतम-उर आई।
लियौ लाल भरि अंक रंक संपत्ति जनु पाई,
भौचक सी ह्वै रही कही मुख बात न आई॥

× ×

औचक अमल कपोल चूमि चट पुनि विलगाने
ललितादिक दिसि देखि दबाइ दृगनि इठलाने।
लाड़िन लोचन किये लाड़िली कछु अनखों हैं,
पै लखि लाल अधीर, धीर धरि किये हँसोंहे ॥[2]

प्रथम उद्धरण में 'सयानि' शब्द का प्रयोग दर्शनीय है। लाड़ली का सयानपन इसी में है कि वह उपयुक्त अवसर पर लाल की अभिलाषानुसार उसके निकट 'सरकि' आती है।

इसी प्रकार रत्नाकर के होली के वर्णन भी परम्परागत रीतिकालीन शृंगारी प्रभाव से युक्त हैं।[3] होली के इस चित्रण में प्रेम के आरम्भ का तथा, मन एवं शरीर के लालित्य का समन्वित वर्णन है।

---

१. 'शृंगार लहरी,' पृ० ३५६ छन्द १२४।

२. 'हिंडोला' (रत्नाकर) छन्द ६७ तथा ७१।

३. होरी खेलिबे कौं कढ़ी केसरि कमोरी घोरि,
उमगति आनन्द की तरल तरंग में।
कहें रत्नाकर महर कौ लड़ैतौ छैल,
रोकी गैल आनि हुरिहारिन के संग में॥
मो तन निहारि धारि पिचकी अधार अर्क,
मारी मुसुकाय धाइ उरज उतंग में।
सोई पिचकारी रंगी सारी लाल रंग माँहि,
सोई रगी अंखियाँ हमारी श्याम रंग में॥
(रत्नाकर—शृंगार लहरी, छन्द ४१)

प्रकृति-चित्रण

श्रीधर पाठक द्वारा प्रचलित प्रकृति के स्वतंत्र-चित्रण की परम्परा का द्विवेदी-युग में अनुगमन आरम्भ हो गया था। हरिऔध जी ने प्रकृति के कुछ आलम्बन रूप में चित्र बाँधे किन्तु उनमें चित्रोपमता का अभाव था, वस्तुओं के नामों का उल्लेख मात्र था। गुप्तजी ने आगे चलकर प्रकृति के दृश्यों का सुन्दर स्वतंत्र चित्रण किया।[1] वैसे प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण रीतिकाल में सेनापति ने भी किया था, किन्तु द्विवेदी-युग की आलम्बन रूप में प्रयुक्त प्रकृति पर रीतिकालीन प्रभाव नहीं है। हां, उद्दीपन के लिए किये जाने वाले प्रकृति-चित्रण पर रीतिकालीन प्रभाव स्पष्ट रूप से पाया जाता है। द्विवेदी-युग के रीति-परम्परानुगामी कवियों ने केवल उद्दीपन रूप में ही प्रकृति का प्रयोग नहीं किया था, अपितु उन्होंने उसका आलम्बन रूप में भी चित्रण किया था।[2]

आल इण्डिया रेडियो के लखनऊ केन्द्र के कलाकार श्री जंगबहादुर जी से हमें उनके पूज्य पिता जी मुंशी अजमेरी जी की कविताओं का जो संग्रह मिला है, उसमें उनकी एक प्रकृति विषयक परम मनोहर कविता है जिसमें प्रकृति का आलम्बन रूप में सुन्दर चित्रण है। छुद्र नदी तथा बसन्त का वर्णन पठनीय है।[3]

---

१. चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल थल में
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई हैं अवनि और अम्बरतल में
पुलक प्रकट करती है पृथ्वी हरित तृणों की नोकों से
मानों झूम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोकों से। —(पंचवटी)

तथा

इसी समय पौ फटी पूर्व में पलटा प्रकृति का रंग (वही) में प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों का सजीव तथा सुन्दर चित्रण है।

२. रटन दादुर त्रिविध लागे रुचन चातक बचन।
कूक धावत मुदित कानन लगे केकी नचन॥
मेघ गर्जन मनहुं पावस भूप को दल सफल।
विजय दुन्दुभि हनत जग में छीनि ग्रीसम अमल॥
——राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

३. छुद्र नदी को लक्षित करके उन्होंने कहा है:—
हरित वितान सो तन्यों है तुंग तेरे तीर,
छाया है गंभीर, सर्वकाल सौख्यकारी री।
आँधरी भई है का ? न दीसत नदीस-नारि,
विरमत नित्त यहाँ केते नर-नारी री।
डारि है न वेग, कहूँ काटि कै करारों याहि,
अटक उपाटि है तो सुन लै हमारी री।
जल वह जै है, तेरो सूनो रह जैहै अंक,
पै है तू कलंक, लोग दे हैं तोहि गारी री।

कविवर सत्यनारायण जी ने बिहारी की पद्धति पर छोटे छोटे मुक्तकों में प्र ति का वर्णन किया है जो काव्य-कला की दृष्टि से परम सुन्दर है :—

सौख्य सुधा सरसाइय, सुभग सुलभ रसवन्त ।
वर बिनोद बरसाइय, बसुधा विपिन बसन्त ।।
दस दिसि दुति दरसाइय, सजि सुरभित सुठि साज ।
जग प्रिय हिय हरसाइय, रहि रसाल ऋतुराज ।।[1]

—कविरत्न सत्यनारायण

रत्नाकर जी ने गंगवतरण में प्रकृति का आलम्बन रूप में प्रयोग किया है किन्तु उसमें चमत्कार तथा कलात्मकता का आधिक्य है और उस पर रीतिकाल का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है ।

बिहारी की ही शैली में जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी द्वारा किए गए प्रकृति के उद्दीपक स्वरूप का चित्रण जिस प्रकार रीतिकालीन प्रभाव का प्रमाण है,[2] उसी

(पृष्ठ ११६ का शेष)

बसन्त के वर्णन के इन छन्दों में उनके प्रकृति पर्यवेक्षण के आनन्द की झांकी मिलेगी :—

अवनि आज अपूरब ओप सों,
सजत स्वागत को ऋतुराज के,
पथ मनोरथ को अथ सों खुल्यो,
मधुर मन्मथ की मुरली बजी ।
सर जगे निज जीवन ज्योति सों,
कमल की पखियाँ अखियाँ खुलीं,
अनिल सीतल मन्द सुगन्ध लै,
वह चलो मचली मचली भई ।
खिल उठी कलिका वर वृन्त पै,
निखिल कोष लुटावन लालसा,
उर भरी उभरी मिस गन्ध के,
मधुप दौर परे मद-अन्ध ह्वै ।

१. कविता कौमुदी भाग २, पृ० ४४८ ।

२. पंक रहित पृथ्वी भई, सरितन सलिल समान ।
निज निज प्यारी सों मिलन, पथिकन कीन्ह पयान ।।
खंजन मनरंजन करन गंजन मृग चख मान ।
आवत गुंजन को चुगन, चचलता की खान ।।
——जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

प्रकार गोपालशरण सिंह जी का प्रकृति-चित्रण भी रीतिकालीन प्रभाव को प्रकट करता है।[1]

रत्नाकर जी ने उद्धव-शतक में षट-ऋतु वर्णन[2] का जो प्रयोग किया वह भी शुद्ध उद्दीपन के लिए ही है तथा उसमें रूपकादि का प्रचुर प्रयोग है। रत्नाकरजी का षट्-ऋतु वर्णन यद्यपि परिपाटीबद्ध है किन्तु उसमें भावों की अभिव्यक्ति परम प्रभविष्णु है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

नूतनतावादी तथा आर्य समाजी भावना से भावित पं० नाथूराम शंकर शर्मा ने भी प्रकृति को सर्वदा उसके उद्दीपक स्वरूप में ही स्वीकार किया है। शृंगारी भावना से प्रभावित उनका बसन्त का चित्रण रीतिकालीन परिपाटी का पूर्णरूपेण अनुगमन करता है :—

यौवन-पादप के उपलक्षण पुष्प शरासन शावक धारे,
वीर बसन्त बली रसनायक संग उमंग भरे भट भारे।
घेर लिए नर-नारी शुभाशुभ योग, वियोग, प्रयोग पसारे।
देख अनंग पराजित ने फिर शंकर सैनिक अंग संवारे ।।[3]

रीति-परिपाटी के अन्तर्गत विभिन्न ऋतुओं का जो उद्दीपन के लिये प्रयोग किया जाता है उसमें प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों[4] को, सुखदायी अथवा दुखदायी रूप में, नायिका अथवा नायक को प्रभावित करते हुए चित्रित किया जाता है।

---

१. सोह रहे ठौर ठौर जलज जलाशयों में,
मोह रहे मन को निकुंज पुंज न्यारे हैं।
फूल रहे कमनीय केतकी कदम्ब कुन्द,
झूम रहे जिनपर भृंग मोदधारे हैं।
बोल रहे कोकिल हैं ललित लताओं पर,
डोल रहे मोर मंजु पक्ष को उभारे हैं।
किन्तु प्राण प्यारे दृश्य ये तुम्हारे बिना,
प्यारे हमें होकर भी लगते न प्यारे हैं ।।
—गोपालशरणसिंह

२. उद्धव शतक—छन्द ८७ से ९३ तक।

३. 'शकर-सर्वस्व'—पृ० ३१०।

४. भायो न निदाघ अरु पावस शरद सखि,
शिशिर हेमन्त हू विषान घोर छायो है।
लायो ऋतुराज सब सुख के समाज आज,
मधुप निकर पिक चातक सुआयो है।
मल्लिका गुलाब कंज मंजु बन भूलि रहे,
मलय मँहक मनसिज हू जगायो है।
कबलौं वियोग पीर अबलौं सहन करे,
अबलौं न आयो कहां अबलौं लगायो है। —शिवरत्न शुक्ल

शृंगार की परिपाटी में राधा तथा कृष्ण सामान्य नायिका तथा नायक के रूप में ही आते हैं, ऋतु वर्णन में भी उनका प्रयोग बहुधा किया जाता रहा है। राधिकादिक सखियों के साथ कृष्ण का बिहार उद्दीपन-रूप-प्रकृति-चित्रण का एक विशेष अंग रहा है। उसका ठीक इसी रूप में चित्रण द्विवेदी-युग में भी पाया जाता है।[1]

उद्दीपन के क्षेत्र में कविवर सत्यनरायण का 'पावस-वर्णन' विशेष रूप से दर्शनीय है। उसमें प्रकृति का स्वाभाविक तथा चित्रोपम वर्णन भी है तथा उसके साथ-साथ उसके उद्दीपक स्वरूप का संकेत भी है :—

नव चारु तमाल से ये घनश्याम घने बदरा
घहरान लगे।
अरु सीर समीर सने नवनीरन के कन ये
बरसान लगे।
सुर चाप छयो मदमत्त सबै मुरवा-गन बागनु।
गान लगे।
परिकैसे लखों इन ओर चहूँ जब प्यारी तबै।
दिसि प्रान लगै ॥[2]

सत्यनारायण 'कविरत्न' ने इस सप्रयोजन प्रकृति-वर्णन (उद्दीपन के लिये) का एक नूतन ही प्रयोग किया है। जिस प्रकार अपने 'भ्रमरगीत' में उन्होंने गोपियों के 'प्रणय' को यशोदा के वात्सल्य में परिणत कर दिया है, उसी प्रकार उन्होंने प्रकृति का प्रयोग केवल प्रणय-जन्य विरह के उद्दीपन के लिए ही न करके देश-प्रेम की भावना के लिये भी किया है। ऋतुराज 'आरत भारत' के 'करेजे' में उसी प्रकार कसकता है जिस प्रकार वह विरहणी नायिका को दग्ध करता है।[3] कवि ने प्रकृति

---

१. बर बसंत बानक बिसद, बृन्दा-बिपिन विराज।
विलसत ब्रज-बनितानि संग, विमल बेस ब्रजराज॥
बृन्दाबन बानक बिसद, बगर्‌यो बहुरि बसंत।
बिबिध-बधूटी सी बिमल, ब्रज बनिता बिलसंत॥
—किशोरीलाल गोस्वामी

२. हृदय तरंग-प्राकृतिक सौन्दर्य (पावस—५) पृ० ८३।

३. कबहुँ सीत भयभीत कबहुँ पावसहिं नचावत।
ग्रीसम के गहि केस स्वेद उर में छलकावत।
सीतल मन्द सुगन्ध सनी नित वायु बहावत।
भारत आरत ताकी करक करेजा करकत।
पहुँच्यो दशा बसन्त कहाँ सो ररकत ररकत।
ऋतु सुमौलिमनि अहो! यहाँ के हरहु त्रितापन।
प्रेम वन्त! गुनवन्त! करहु सुख-शान्ति सुथापन। (बसन्त स्वागत)
—सत्यनारायण कविरत्न, हृदय तरंग, बनारसीदास चतुर्वेदी, पृष्ठ ६९।

के माध्यम से देश की तत्कालीन आर्त अवस्था का संकेत किया है तथा देश के नवयुवकों को देश के प्रति उनके कर्त्तव्य को जताया है।[1] कवि की यह उद्भावना नूतन है, मार्मिक है, समयानुरूप है तथा इसमें रीतिकालीन परिपाटी का नूतन उपयोग किया गया है। प्रकृति का चित्रोपम वर्णन तो हमें इसमें मिलता ही है।

भक्ति

भक्ति के क्षेत्र में द्विवेदी-युग में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, इस काल की अधिकांश भक्ति-भावना वैष्णव ही थी। भारतेन्दु-युग में कृष्ण की (मधुरा) भक्ति का बोलबाला था किन्तु द्विवेदी-युग में हमें गुप्त जी जैसे राम-भक्त भी मिलते हैं। वैसे गुप्त जी ने भी कृष्ण को नायक बनाकर 'द्वापर' की रचना आगे चलकर की, किन्तु 'द्वापर' के कृष्ण में तुलसी के राम जैसा रामत्व ही है। गोपियों तथा राधिका के प्रेम-विरह का वर्णन होने पर भी 'द्वापर' के कृष्ण का स्वरूप वल्लभी सम्प्रदाय के रसिया कृष्ण जैसा नहीं है हरिऔध के 'प्रिय-प्रवास' के विषय में भी यही कहा जा सकता है। इस प्रकार द्विवेदी-युग की इस राम-भक्ति धारा पर कोई प्रभाव रीतिकालीन परिपाटी का नहीं है।

इसके अतिरिक्त आर्य समाजियों की जो सुधारवादी भक्ति-भावना है उस पर तो रीतिकालीन मधुरा भक्ति के प्रभाव का कोई प्रश्न ही नहीं है। कविवर शंकर की अक्खड़पन से युक्त 'डुकरिया पुराण-वालों को' जो लताड़ है, उनमें भी रीति-कालीन प्रभाव खोजना व्यर्थ है। भारतीयता के हामी होने के कारण यद्यपि शंकर जी ने कृष्ण की भक्ति में पद बनाये थे।[2] किन्तु उनके कृष्ण 'वैदिक दल' के 'नामी-नर' ही थे: रसिया, नटनागर लीलाधर, लाल, कुंवर, कन्हैया नहीं थे, यद्यपि वे रुक्मणी के प्राणाधार तथा यशोदा के प्रिय लाल थे।

यह तो हुई भक्ति-भावना की वह धारा जिस पर रीतिकालीन प्रभाव हमें नहीं मिलता, अब देखिये द्विवेदी-युग की वह भक्ति-भावना जो कि मध्ययुगीन मधुरा भक्ति से प्रभावित थी तथा जो कि रीतिकालीन परिपाटी का अनुगमन करके शृंगार

---

१. वही, पृ० ६४।

२. हे वैदिक दल के नर नामी, हिन्दू मण्डल के करतार।
स्वामि सनातन सत्य धर्म के भक्ति भावना के भरतार॥
सुत वसुदेव-देवकी जी के नन्द यशोदा के प्रिय लाल।
प्राणाधार रुक्मिणी जी के प्यारे गोपिन के गोपाल॥
(नाथूराम शंकर शर्मा, आर्य पंच की आल्हा, शंकर सर्वस्व, कविता कुंज पृष्ठ २१७।)

के माध्यम से कृष्ण को रसिया बनाकर उनकी लीलाओं पर मुग्ध हुआ करती थी। ये लीलाएँ[1] इन वल्लभी भक्तों की प्रिय हैं तथा कृष्ण की इन लीलाओं को लेकर इस काल में भी प्रचुर मात्रा में कविता हुई। कृष्ण के प्रेम में पूर्ण समर्पण बिना मर्यादाओं को तोड़े नहीं हो सकता, इस कारण कृष्ण की भक्ति में (पुष्टि मार्गीय) 'लाज, कुल-कानि विहाइवो' आवश्यक हो जाता है।[2] कहीं तो भक्त कृष्ण के हिंडोरे[3] तथा (माजूम खाकर) होली[4] के दृश्यों का भाव-प्रवण होकर वर्णन करता है और

---

१. व्रजललना यशुदा सों कहती, अर्ज सुनो इक नंदरानी।
लाल तुम्हारे पनघट रोकैं, नहीं भरन पावत पानी॥
दान अनोखौ हमसों मांगे, करैं फजीहत मन मानी।
भयो कठिन अब व्रज को बसिबो, जतन करौ कछु महरानी॥
हंडलि सीसगिरि ठननन मोरी तुचक पुचक कहुँ ढरकानी।
चुरियाँ खनकी खननन मोरी, करक करक भुई बिखरानी॥
पायजेब बज छननन मोरी, टूट टूट सब छहरानी।
बिछियां भनकें भननन मोरी, हेरतहू नहीं दिखरानी॥
—जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'

२. कोऊ करो बदनाम जू मोहि,
भयो मन में घनश्याम को चेरौ।
सत्य निहारि हस्यो जब सों,
तब सों ही कछू मोपै मंतरु फेरौ॥
टोह में लाग्यौ रहै निसि बासर,
पाग्यो सदा तिह नेह घनेरौ।
प्रेम को साज सजाय लियौ,
तब लाज सों काज कहा अब मेरौ॥
(सत्यनारायण कविरत्न-हृदय तरंग, पृ० २०६)

३. औचक अमल कपोल चूमि चट पुनि बिलगाने,
ललितादिक-दिसि देखि दबाइ दृगन इठलाने।
लाड़नि लोचन किये लाड़िली कछ अनखौंहैं,
पै लखि लाल अधीर, धीर धरि, किये हंसौहैं॥
(रत्नाकर: 'हिंडोला'—छन्द ७१).

४. सह ग्वालन के मिलि के जुलि के,
अति खाय मजूम जो धूम छई।
लखि आवति कीरतिजा मग में,
शुभ मूंठि गुलाल की हाथ लई।

कहीं वह अपने कुपंथ-गामी मन की शिकायत कृष्ण से करके उन्हें अपनी बाँह पकड़ने के लिए बुलाता है और (सामीप्य से प्राप्त ढिठाई के कारण) न आने पर उनको नाम बदल लेने का आदेश देता है।[1] इस प्रकार कृष्ण के रूप पर 'रीझ' से लेकर, कृष्ण की लीला के सौन्दर्य वर्णन तक तथा अपने मन को फटकारने से लेकर, कृष्ण की अनुनय तक, भक्ति के सब अंगों का समावेश हमें इस काल की कृष्ण भक्ति-भावना में मिलता है। शैली, रूप-चित्रण तथा दृष्टकोण वही है जो रीतिकाल के कवियों की भक्ति परक कविताओं में हमें मिलता है।

वीर-रस

परताप सुम मान की अभिमान भरी बात।
वीरों की तरह मान को दो वात की इक लात।।
जिस बात से बस माधि भी जच खाके हुए मात।
बिखलाते बनी और अधिक कुछ न करामात।। ('वीर प्रताप')

लाला भगवानदीन जी की उपर्युक्त उक्ति में ओजपूर्ण उत्साह का मुहाविरेदार वर्णन है। देश-प्रेम की भावना को जगाने के हेतु द्विवेदी-युग के कवियों ने प्राचीन वीरों की गाथाओं का उत्साहवर्द्धक चित्रण किया था। इस वीरत्व वर्णन की दो पद्धतियाँ थीं। कहीं तो कवि देशवासियों को धिक्कार तथा उपालम्भ के माध्यम से कर्म की ओर प्रेरित करने का प्रयत्न करता था[2] और कहीं सीधा उपदेश

(पृष्ठ १२१ का शेष)
पुनि घाल दई तिनके मुख पैं,
सतदेव कसैं कटि प्रेम मई।
कहि होरी है, होरी है, होरी है जू,
पिचकारी तो प्यारी पैं छांड़ि दई।।
(सत्यनारायण—हृदय तरंग, पृ० २०५)

१. झूमत ज्यों मतवारो मतंग, सो प्रेम की बेलि को होय न चेरो।
ज्ञान को आँकुस मानत ना, मन मोह-कुपंथ सो जात न फेरो।
सत्य जितै ही तितै चलि जात है, ठोक न ठाक कछू यहि केरो।
कै करुणा करि बांह गहो, कि कहो करुणानिधि नाम न मेरो।
(सत्यनारायण कविरत्न-हृदय तरंग—कविता कुंज, पृ० १२६)

२. प्याली पै प्याली पी पी खाली किया करो पीपे
नशा करौ आफ भंग चरस अकूती को।
घर को बिगारो रार धारो घरवारिन सों,
करौ बार-बनिता कौ मान पठा बूती को।
लोहा करिबे की जगह हो-हा करो, सीखो मत,
अस्त्र शस्त्र विद्या रण चातुरी निपूती को।
देश के कपूतो राजपूतो डूब मर जाओ,
नाम न लजाओ वीर प्यारो रजपूती को।।
—(गिरधर शर्मा)

देकर[1] या प्राचीन वीरों के वीर-कर्मों की स्मृति दिलाकर उन्हें देश के प्रति अपने कर्त्तव्य को पहिचानने के लिए प्रेरित करता था। यह भावना भारतेन्दु-युग में पहले पहले उभरी थी। द्विवेदी-युग में गुप्त जी आदि कवियों ने इस भावना को ('स्वदेश-संगीत,' भारत-भारती आदि ग्रन्थों की सहायता से) उत्कट 'देश प्रेम' में परिणत कर दिया। आगे चलकर 'जयद्रथ-वध' में गुप्त जी ने कर्तव्य परायण अभिमन्यु के माध्यम से देश के युवकों को जगाने का जो प्रयत्न किया था वह भी इसी भावना का विकास था। कर्मवीरत्व के उपदेशों के लिए शंकर जी की कविता परम प्रसिद्ध थी। वीर-रस के क्षेत्र में गिरधर शर्मा तथा रत्नाकर जी ने प्राचीन शैली का अनुसरण किया था। रत्नाकर जी ने 'वीराष्टक' में भीष्म के चरित्र का परम ओजमय चित्रण किया।[2]

देश की दयनीय अवस्था के चित्रण के माध्यम से वीरत्व को उभाड़ने का प्रयत्न होने के कारण कभी तो इस क्षेत्र में देश की तथा देशवासियों की पतित

---

१. शब्द से शब्द से, शास्त्र शास्त्र से, घाव घाव से,
स्पर्द्धा करने लगे परस्पर एक भाव से।
× ×
कौतुक साधा मचा एक मरने-जीने का
संगर मानो रंगा हुआ था रस पीने का।
+ +
क्रम से बढ़ने लगी युगल वीरों की लाली,
ताली देकर नाच रहे थे रुद्र कपाली।
वर्णमाला थी बनी जपा फूलों की डाली।
रण चण्डी पर चढ़ी बढ़ी काली मतवाली॥
(गुप्तजी की कला-प्रो० सत्येन्द्र पृ० ८२)

२. पारथ विचारौ पुरुषारथ करैगौ कहां
स्वारथ समैत परमारथ नसैहों मैं।
कहै रत्नाकर प्रचार्यौ रन भीषम यों,
आज दुरजोधन-दुख दरि देहों मैं॥
पंचनि के देखत प्रपंच करि दूरि सबै,
पंचनि को स्वत्व पंचतत्व में मिलैहों मैं।
हरि प्रन-हारी जस धारि के धरा ह्वै सान्त,
सांतनु कौ सुभट सपूत कहवैहों मैं॥
बीराष्टक, पृ० ४८६, छन्द सं० २

अवस्था का चित्रण किया जाता था[1] और कभी उद्धार करने के लिए भगवान से प्रार्थना की जाती थी[2]। वीर रस के क्षेत्र में द्विवेदी-युग की कविता पर रीतिकाल का आंशिक प्रभाव ही था।

नीति-उपदेश

रीतिकाल में नीति-विषयक कविता कहने वालों का अलग वर्ग था। नीति की कविता का महत्व गद्य के विकास के साथ साथ बहुत कम हो गया था किन्तु फिर भी अन्य भावों की कविता के साथ साथ अन्योक्तियाँ, सूक्तियां और नीति के छन्द भी आधुनिक काव्य में मिलते हैं। 'अन्योक्ति तरंगिणी' में ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने वीणा, रेल, कोकिल, भ्रमर इत्यादि कितनी ही वस्तुओं पर अन्योक्तियाँ लिखीं[3]।

इस प्रकार की कविता मुक्तकों में ही लिखी जाती है, रीतिकाल मुक्तकों का युग था और उसकी कविता में परम सुन्दर नीति-विषयक सूक्तियाँ पायी जाती हैं।

संस्कृत में सुभाषितों का बहुत प्रचार था। मध्य युग में सुभाषित और सूक्तियां पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं, किन्तु आधुनिक-काल में केवल रामचरित उपाध्याय ने कुछ सूक्तियां लिखी हैं। 'सूक्ति-मुक्तावली' में कुछ अच्छी सूक्तियां मिलती हैं। उदाहरण के लिए एक छन्द लीजिए:—

न्याय परायण जो नर होगा उसकी कभी न होगी हार।
कपटी, कुटिल कोटि रिपु उसके क्षण में हो जावेंगे छार॥
पाण्डव पाँच रहे कौरव सौ, राम एक थे निशिचर लक्ष।
विजयी वे ही हुए देखलो, न्याययुक्त था उनका पक्ष॥
('अन्योक्ति पुष्पावली')

'अन्योक्ति तरंगिणी' इत्यादि पुस्तकों में केवल अन्योक्तियां ही मिलती हैं। श्यामनाथ शर्मा 'द्विज श्याम' और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने कुछ बहुत ही सुन्दर अन्योक्तियां लिखीं। 'पूर्ण' की बादल के प्रति अन्योक्ति बहुत ही सुन्दर है:—

---

१. दो दो मूठी अन्न हित, ताकत पर मुख ओर।
घर ही में हम पारधी, घर ही में हम चोर॥
तौ हू आपस में लड़ें, निस दिन स्वान समान।
अहो! कौन गति होयगी, आगे राम सुजान॥ —बालमुकुन्द गुप्त

२. निर्दय सतत् सतावत, तापत सो महि लोक।
विलपावत कलपावत, सब जग परि रह्यो शोक॥
तुम बिन कौन उबारि है, करिहै तिनकर मान।
हरि है धीर उघरि है, ह्वै जगजीवन प्रान॥
तुम अम्बुध जगजीवन, जीवन नाम तुम्हार।
चाहत तुव पय पीवन, जीव नवीन उदार॥ —श्रीधर पाठक

३. डा० श्री कृष्णलाल—'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'—पृ० ९१।

ठहरन न दैहें सदा नभ में तुम्हें दैहैं उड़ाय हवा खन में।
जल डारिके सूखते धानन में जस लीजिए तासे उदारन में ।।
वदली जो बयार तो दैहें भराय सबै कन रेत पहारन में।
गुन ग्राहक यार बलाहक जू, लगे नाहक पौन की बातन में ।।[1]

श्री रामचरित उपाध्याय, कन्हैयालाल पोद्दार तथा कविराज शंकर की नीति-विषयक कविता के कुछ उदाहरण देकर हम इस विवेचन को समाप्त करते हैं। उनको देखने पर स्पष्ट हो जायगा कि द्विवेदी-युग की नीति-विषयक कविता पर रीतिकालीन प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा था:—

धीरज, उद्यम, बुद्धि, बल, साहस, शक्ति, सुनीत ।
ये दस सुखदायक सदा, सुतिय सुपूत सुमीत ।।
चिन्ता जननी चाह है, ताको पति अविवेक ।
जो विवेक की चाह तो, राम नाम जपु एक ।। —रामचरित उपाध्याय

यदपि मलय तरु को न विधि, फल औरु फूलन दीन्ह ।
तदपि अहो ! निज तन करत, औरन ताप विहीन।।
कवि अक्षर-मैत्री भजत, नहिं कठोर ग्रामीन ।
शब्दऽरु पुरुषहु साधु ही, होय अर्थशालीन ।।
गरु सों नमनऽरु लघुन सों उन्नत सम सम प्रेम ।।
—कन्हैयालाल पोद्दार

सुमन सरोवर में खिले सदुपदेश अरविन्द ।
देख दुष्ट दादुर दुरे सेवत साधु मिलिन्द ।।

रहे एक ही ठौर पर, कपटी करें न मेल।
जैसे भाजन में भरे, मिलै न पानी तेल ।।

सज्जन को आदर मिले, पिटे कुचाली कूर ।
चन्दन मस्तक पर चढ़े, जारे जात बबूर ।।
—महाकवि पं ना० रा० शंकर शर्मा

हास्य

द्विवेदी-युग में कविता में प्रयुक्त होने वाली खड़ी बोली की शैली कोई विशेष विकसित अथवा परमार्जित नहीं थी। हास्य की पूर्ण निष्पत्ति के लिए बहुत ही प्रभावशाली भाषा और विकसित अभिव्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है, तथा यह भी आवश्यक होता है कि उस पर कवि का पूर्ण अधिकार (कमाण्ड) हो। खड़ी बोली तथा उसके कवियों में (शंकर जी को छोड़कर) ये विशेषताएँ नहीं थीं। शंकर जी

१, वही, पृ० ९६ ।

की हास्य रसात्मक कविताएँ भी सोद्देश्य हास्य के अन्तर्गत ही आती हैं। अंग्रेजियत के गुलामों पर उन्होंने एक बड़ा सुन्दर व्यंग किया है :—

शंकर स्वामी काट दे, मोह-जाल, भ्रम फंद,
टेसू से कर दे मुझे 'सैण्ट ढकफुला नंद'।
नाना नाम उपाधि अनेक, सब सार-भूत में एक।
टेसू कहना करदो बन्द, बोलो स्वामी ढकफुलानन्द ॥
पंचों मुझसे कर लो मेल।
तागड़ दिन्ना नागर बेल ॥[1]

शंकर जी की व्रजभाषा की हास्यरस की कविता में नायिकाभेद के अनुसार सवति की ईर्ष्या का बड़ा मनोरंनक चित्रण है। सवति की चोट चपेट पर नायिका के मन में जो लड्डू फूटते हैं[2] उसका कवि ने बड़ा सुन्दर चित्रण किया है।

तमकि तर्जनी तानि के, डारि डरावति डीठ।
वेलन ले विकटा चली पूजन को पिय पीठ ॥

स्वर्गीय मुन्शी अजमेरी जी ने उपर्युक्त उक्ति में जो व्यंग किया है, उसी का विस्तृत विकास उन्होंने अपनी रचना 'भद भद मियां झमालो बीबी' में किया था। सुन्दर साहित्यिक हास्य के क्षेत्र में मुन्शी अजमेरी का स्थान हिन्दी-साहित्य में बहुत ऊंचा है। उनकी उपर्युक्त रचना अनेक वर्ष पूर्व "औघड़" नामक मासिक में प्रकाशित हुई थीं। "औघड़" की वह प्रति तथा मुंशी जी के हस्तलिखित ग्रन्थ हमें उनके सुपुत्र से देखने को मिले थे।

हास्य के क्षेत्र में द्विवेदी-युग की कविता पर रीतिकाल का कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं पड़ा था, हाँ, मुक्तकों की शैली तथा समस्यापूर्ति के प्रचलन के कारण इस काल की हास्य की उक्तियों में तथा रीतिकालीन हास्य-कविता में किंचित साम्य दृष्टिगोचर होता है।

---

१. (शंकर सर्वस्व, कविता कुंज, पृ० २०३)

२. लम्बे लम्बे झोटन सों झूलति ही सौतिन की,
बिरवा की डारिन में पटली अटक गई।
लागत ही झटका उखड़ गयो आसन पै,
ताड़िका-सी डोरिन को पकड़ लटक गई।
शंकर छिनार पट्ट पाथर पै टूट पड़ी,
फूटो सिर फाटो नर, पिलही पटकि गई।
छुट गयी नारी सौरी परि गई सारी आजु,
मरि गई दारी मेरे मन की खटक गई।
(वहीं पृ० २६४)

कला-पक्ष

द्विवेदी-युग में प्रबन्ध-कविता का प्रचलन हो चुका था तथा अधिकांश कवियों ने आख्यान गीत[1], खण्डकाव्य अथवा महाकाव्य लिखे थे। उनके साथ ही साथ मुक्तकों की रचना भी हो रही थी। ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों के कवि प्रबन्ध काव्य लिखते थे (रत्नाकर का 'उद्धव-शतक') । प्रबन्ध-कविता में प्राचीन, मध्य तथा वर्तमान युग के महावीरों को लेकर काव्य लिखे गये[2] । इस प्रकार द्विवेदी-युग में मुक्तक तथा प्रबन्ध दोनों प्रकार की कविता ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों भाषाओं के कवियों ने लिखीं। गुप्त जी के 'साकेत' तथा हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' का महाकाव्यों में उच्च स्थान है। खड़ी बोली के महाकाव्यों पर रीतिकालीन प्रभाव बहुत कम, कहीं कहीं, शैली अथवा रूप-चित्रण पर ही पड़ा है। मुक्तकों के क्षेत्र में दोनों भाषाओं के कवियों पर रीतिकालीन प्रभाव यत्किंचित था—यह हम पीछे देख चुके हैं।

"ज्यों-ज्यों भाषा सशक्त और परिपक्व होती गयी त्यों-त्यों विशुद्ध मुक्तकों की रचना उपयुक्त शैलियों में होने लगी। मुक्तकों के लिए सबसे अधिक उपयुक्त शैली विविध अलंकारों की व्यंजना, ऊहात्मक तथा चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ, तथा व्यंग्यपूर्ण वक्रोक्तियाँ हैं[3] ।"

उपर्युक्त मत के अनुसार यदि हम द्विवेदी-युग की कविता का अध्ययन करें तो पायेंगे कि खड़ी-बोली में तब तक पूर्ण परिपक्वता नही आ पायी थी तथा मुक्तकों के क्षेत्र में उस काल की कविता पर रीतिकालीन प्रभाव पर्याप्त मात्रा में था। (हमारा तात्पर्य मुक्तक छन्दों से है, गीतों का विवेचन हम आगे चल कर करेंगे) मुक्तकों के लिए चमत्कार की आवश्यकता पड़ती है और उसके लिए उक्ति के वैचित्र्य की तथा अलंकार योजना की आवश्यकता होती है। वैसे खड़ी बोली में रीति-प्रभाव से युक्त मुक्तकों की भी रचना हुई थी[4] किन्तु उसके अधिकांश मुक्तक छन्दों पर रीतिकाल का प्रभाव पड़ा था—यह हम पीछे देख चुके हैं।

द्विवेदी-युग के ब्रजभाषा के कवियों की रचनाओं पर तो (चाहे वे मुक्तक हों या प्रबन्ध) रीतकालीन प्रभाव था ही। द्विवेदी-युग के अन्त के समय कुछ स्वच्छन्द

---

१. श्री कृष्णलाल-आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० ५२ ।
२. वही पृ० ५२ ।
३. वही पृ० ९३ ।
४. मुक्तकों की दूसरी शैली चमत्कारपूर्ण उक्ति और वक्रोक्ति की है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के चौपदे तथा छपदे और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के सवैये इस शैली के अन्तर्गत आते हैं। हरिऔध का 'आँख का आंसू' इस ढंग की एक सुन्दर रचना है। उदाहरण के लिए देखिए—
आँख का आँसू ढलकता देखकर, जी तड़प करके हमारा रह गया।
क्या गया मोती किसी का है बिखर, या हुआ पैदा रतन कोई नया।
(वही पृ० ९४-९५)

गीतों की रचना भी आरम्भ हुई थी किन्तु उस धारा का पूर्ण विकास अगले छायावादी युग में हुआ इस कारण उसका सम्यक विवेचन अगले खण्ड में ही किया जायगा।

द्विवेदी-युग में समस्यापूर्ति तथा कवि-गोष्ठियों की प्राचीन परम्परा जीवित थी। समस्यापूर्ति चमत्कारी मुक्तकों की रचना को प्रोत्साहित करती है इस कारण इस युग के अनेक कवियों ने (जिनमें 'शंकर जी' भी सम्मिलित थे) कलात्मक मुक्तकों की रचना की थी। समस्यापूर्ति में एक ही समस्या पर अनेक कवि मुक्तक छन्दों की रचना करते हैं, इस कारण प्रतिस्पर्द्धा का भाव आ जाता है और चूंकि वे गोष्ठी या कवि सम्मेलन में सुनाये जाते है, इस कारण उनमें चमत्कार भी श्लाघनीय था। द्विवेदी युग की समस्या-पूर्तियाँ रीतिकालीन प्रभाव से युक्त हैं, इसका एक उदाहरण शंकर जी की कविताओं में से उपस्थित हैं :—

(समस्या :—'मुख मोरे लगी तृण तोरे लगी')
तज मान मिली घन प्रीतम सों पुनि पियूष निचौरे लगी
रति के रंग माँहि उमंग-भरे मन-भावना को मन बोरे लगी।
परिरम्भन चुम्बन के रस में विपरीत रसायन घौरे लगी,
कवि 'शंकर' सो छवि देख सखी मुख मोरे लगी तृण तोरे लगी[1] ॥

प्रतिस्पर्द्धा के कारण आ जाने वाली चामत्कारिकता तथा पढ़ने की पद्धति पर कविता के महत्व के निर्भर रहने वाली विशेषता के लिए, संगीत के शास्त्रीय बोलों से युक्त 'नवनीत' जी, तथा 'रत्नाकर' जी की पूर्तियाँ दर्शनीय है[2]। रीतिकालीन प्रभाव स्पष्ट है।

---

१. शंकर सर्वस्व-समस्या पूर्तियां, पृ० ३०६।

२. नवनीत जी ने एक समस्या की पूर्ति इस प्रकार की :—
किड़ किड़ान्न धान धिति किटधिति धान धान
तलड़ान तत्तड़ान करत पुकार हैं
कहै नवनीत चोप चपल चमन्कन की
अर रर रर कड़ां गरज हकारे हैं
धूं धं किट धूंधूं किट धपकत धाम धाम,
धसकत प्रान बिरहीन के बिचारे हैं
ग्रीषम गनीम जाको दखल उठाय आज
बाजत ये मदन महीप के नगारे हैं
(समस्या पूर्ति ; भाग १, पृ० १२१)
इसी समस्या की रत्नाकर जी ने यह पूर्ति की थी :—
आए चहुँ ओर ते घुमड़ि घनघोर घेरि,
टक्करनि लेत ज्यों मतंग मतवारे हैं।
कहत रत्नाकर धराधर अकास धरा,
एकमेक ह्वै कै धूमधार-रंग धारे हैं ॥
कड़ड़ान वड़ान घूड़ान घेडन्न घन्नड़ान,

द्विवेदी-युग में ब्रजभाषा की पराजय होने लगी थी। ब्रजभाषा वाले खड़ी बोली की इतिवृतात्मक[1] कविता को देख-देखकर कभी-कभी बौखलाया करते थे[2] किन्तु खड़ी बोली क्रमशः विकसित होती जा रही थी और स्वतन्त्र होती जा रही थी।

द्विवेदी-युग की भाषा-शैली पर रीतिकाल का प्रभाव केवल ब्रजभाषा की कविता तक ही सीमित था। ब्रजभाषा की कविता में भी रीतिकाल का प्रभाव मुक्तकों पर अधिक था। द्विवेदी-युग के ब्रजभाषा के कवियों ने रीतिकालीन भाषा-शैली का ही अनुगमन किया था, हाँ रत्नाकर जैसे एकाध कवि ने अपनी भाषा में किंचित समयानुकूल विकास कर लिया था।

(पृष्ठ १२८ का शेष)

धधकतान धधकतान धधकतान वारे हैं।
मनसा-सहान-विस्व-विजय-विधान आनि,
बाजत ये मदन महीप के नगारे हैं॥
('शृंगार-लहरी' पृष्ठ ३७०, छंद संख्या १५३)

१. देखते हैं श्वान एक धूप में है खड़ा आगे—
आश्रय के हेतु जिसे वृक्ष ने बुलाया है।
साहस न होता उसे छाया में बढ़ाये पैर,
जहाँ क्रूर आसन मनुष्य ने जमाया है॥
पूंछ में विनीत वीज्यमान प्रेम व्यंजना है,
लगी दीन दृष्टि लटी लोममयी काया है।
एक दुतकार को दबाती चुचकारें बढ़ी,
यहाँ जगी प्रीति वहाँ भगी भीति छाया है॥
पूंछ को हिलाता चुपचाप वह आया चला,
बैठ गया सारा डील डाल वहीं हारा है।
—पं० रामचन्द्र शुक्ल

२. असद काव्य औ सम्मति में, यह कठिन न्याव अति,
बुद्धि रंकता अधिक प्रकासत कौन, धीरमति
पै दोउ दोषनि में, बरबस अकुतैबौचित कौं
न्यून हानिकारक सुविवेकहिं बहकावन सौं॥
चूकत वामें कछू एक यामैं अनेक हैं,
दूषित दूषन देत दौरि दस लिखत एक हैं॥
कूर कोऊ इक बेर जगत में निजहिं हंसावै
पै कुपद्य कौं एक गद्य में किते बनावैं॥
—रत्नाकर, समालोचनादर्श

छन्द

छन्दों की दृष्टि से भी इस युग पर रीतिकाल का कुछ प्रभाव था इसमें कोई सन्देह नहीं है। रीतिकाल के प्रिय दोहा, कवित्त तथा सवैया छन्दों का तो बहुत ही प्रयोग हुआ। इन छन्दों के प्रति इस काल के कवियों ने विशेष पक्षपात किया और इनको अपना प्रिय बना लिया। इसके अतिरिक्त रत्नाकर तथा सत्यनारायण 'कविरत्न' ने रोला तथा नन्ददास के भ्रमरगीत के छन्द का भी प्रयोग किया। इस युग में अनेक रीतिकालीन छन्दों का ही प्रयोग नहीं हुआ अपितु अनेक प्रकार के (प्राचीन) मात्रिक छन्दों तथा वर्णवृत्तों का प्रचार भी हुआ। रीतिकालीन परिपाटी का अनुगमन करने वाले ब्रजभाषा के कवियों ने तो विशेषरूप से अपने को रीतिकालीन छन्दों तक ही सीमित रखा।

द्विवेदी-युग तक आते-आते 'रीतिकाल की कविता' तथा 'ब्रजभाषा की कविता' ये शब्द समानार्थक हो चले थे। इसका सबसे बड़ा प्रभाव यह पड़ा कि ब्रजभाषा के कवियों ने सप्रयत्न रीतिकालीन परिपाटी का अनुगमन किया तथा ब्रजभाषा की कविता में नूतनता नहीं आने पायी। यह भाषा के विवाद के कारण हुआ था, यह हम प्रथम-खण्ड में देख आये हैं।

परम्परा प्रिय ब्रजभाषा के कवि अलंकारों को महत्त्व देते थे और उन्हें काव्य का आवश्यक अलंकरण मानते थे। उनके इस मत का विरोध भी द्विवेदी-युग में ही होना आरम्भ हो गया था तथा काव्य की नूतन धारा (जिसका विवेचन अगले खण्ड में होगा) बल प्राप्त करती जा रही थी।

ब्रजभाषा और उसके कवियों के अनुप्रासादि अलंकारों के प्रेम पर भी लोग टीका-टिप्पणी करने लगे थे। ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके रत्नाकर जी ने कहा था कि—

> अनुप्रास कबहूं न सकवि की सक्ति घटावै,
> बरु सच पूछौ तो नव सूझ हिये उपजावैं॥
> ब्रजभाषा औं' अनुप्रास जिन लैखैं फीके।
> मांगहिं बिघना सों ते अब न मानुषी नीके॥
> हम इन लोगनि हित सारद सों चहत विनय करि,
> काहू विधि इनके हिय की दुर्मति दीजै दारि॥[1]

रत्नाकर जी की इस 'सारद प्रार्थना' के बावजूद प्राचीन परिपाटी का विरोध (अर्थात् ब्रजभाषा और उसकी कविता का विरोध) बढ़ता जा रहा था। वैसे द्विवेदी युग के अधिकांश कवियों ने अलंकारों के क्षेत्र में प्राचीन परिपाटी (जो कि केवल रीतिकाल की ही नहीं थी) का अनुगमन किया था। खड़ी बोली के कवि यद्यपि प्राचीन अलंकारों का ही प्रयोग करते थे किन्तु वे रीतिकालीन काव्य-शैली को नहीं मानते थे। दूसरी ओर ब्रजभाषा के कवि प्राचीन अलंकारों का तथा उपमानों का

---

१. समालोचनादर्श—पृ० ६२।

परम्परानुसार प्रयोग करते थे। सन्देह की छटा[1] दिखाने में उन्हें वही आनन्द आता था जो कि 'दूर की सूझ में' उन्हें आता था[2]। नायिका की नाजुकता के अलंकारिक (यहाँ प्रतीप तथा अतिशयोक्ति के माध्यम से) वर्णन तथा एक-एक अंग के रीति परम्परानुसार[3] आलंकारिक[4] चित्रण इस काल में प्रचुर मात्रा में किए गए।

---

१. कै कामागम मत मनुज जन की बैतरनी।
कैधों विरहिन मानव तिन की मान कतरनी॥
झलकत वाम सुभाव किधौं बामा उरचारी।
कै मनोज की अहै अनोखी कुटिल कटारी॥
कै सन्ध्या वरबधू कपोल नखच्छत पूरौ।
कै अनन्त को राजत कुटिल कंगूरो॥

—किशोरीलाल 'गोस्वामी'

२. रति सं रसीली गुन आगरी मनोज भरी,
बैठि कुरसी पै प्रान प्यारी केलि घर में।
सुन्दर संवारि केस देखति मुखारविन्द,
सूरत भनत सुभ्र आरसी ले कर में।
तामें ओप आनन को मांगहू समेत इमि,
सोहै तौन उपमा कहत जौन उर में।
सीस पै त्रिवेनी लै कलंक धोइबे के काज,
मानो धर्यो मुदित मयंक मानसर में।

—सूरतसिंह 'सुधी कवि'

३. दीप के परे तें गात-मंजुता मलिन होत,
देखे अंग दलकहिं दल सतदल के।
कोमल कमल से जहूँ पै न लहहि कल,
भारी लगै बसन अमोल मलमल के।
हरिऔध छरा पहिराय बपु-कंप होत,
पाँयन मैं गड़हिं बिछौने मखमल के,
कुसुम छए ते रंग हाथ को मैलो होत,
छिपत छपाकर छबीली छबि छलके॥

—हरिऔध ; रस कलश पृ० ६६।

४. केसरि के सस्य अंक बैठे ह्वै निशंक मृग,
पैठें विधु-मण्डल कि मुदित चकोर ये।
खेलत शिकार ह्वै शिकारी केतकी के कुंज,
तपसी गिरीश जू कि सुरगिरि छोर ये।

अलंकारों के प्रयोग तथा काव्य-शिल्प के क्षेत्र में इस काल के व्रजभाषा के कवियों ने रीतिकाल का पूर्ण अनुगमन किया था इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अब रह जाते हैं इस युग के कवि जिन्होंने खड़ी बोली की कविता का विकास तो किया किन्तु प्राचीन परम्परा को पूर्णरूप से न तो छोड़ा था और न उनकी यह विकासोन्मुख प्रवृत्ति प्रत्येक प्रकार की भारतीयता के विरुद्ध, विद्रोह के रूप में थी। गुप्त जी, हरिऔध जी तथा शंकर जी इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इन्होंने प्राचीन अलंकारों का ही प्रयोग किया था। इन पर रीतिकालीन प्रभाव किस सीमा तक है यह किंचित विवादास्पद है, हम यहाँ गुप्त जी की कविता के विषय में कुछ विद्वानों के मत देते है :—

"कवि कहीं कहीं शब्द चमत्कार दिखाने में हिचका नहीं है। उसने रीति-पद्धति के कवियों की भांति श्लेष-यमक का प्रयोग कई स्थानों पर किया है—

गिरि हरि का हर वेष देख वृष वन मिला।
उन पहले ही वृषारूढ़ का मन खिला॥ (साकेत)

यहाँ 'वृष' के श्लेष से कवि ने चमत्कार उपस्थित किया है—

रामानुज ने कहा कि "भाभी क्यों नहीं,
सरस्वती-सी प्रकट जहाँ तुम हो रहीं।"
"देखा मेरी सरस्वती अब है कहाँ ?
संगम शोभा निरख निमग्न हुई यहाँ।"

'सरस्वती' के श्लेष से वक्रोक्ति कवि ने कराई है। वीप्सा का भी कवि ने कम उपयोग नहीं किया—

विकल जीवन व्यर्थ बहा रहा।
सरस दो पद भी न हुए हहा !

'पुनरुक्ति-प्रकाश' का तो विशेषरूप से प्रयोग मिलता है। इसका इतना अधिक और सुष्ठु, प्रयोग हिन्दी में कम ही मिलता है।"[1]

"सिकुड़ा सिकुड़ा दिन था सभीत सा शीत के कसोट में।

(साकेत)

(पृष्ठ १३१ का शेष)

पुंज पै कुसुम के विराजें द्वै शशक शिशु,
या कि छवि-गृह में घुसे हैं युग चोर ये।
बाम लोचना के ललना के नैन बांके है,
कि मदन महीप के शिलीमुख कठोर ये।

—गिरिजादयाल 'गिरीश' वैद्य शास्त्री

१ गुप्त जी की कला-डॉ० सत्येन्द्र पृ० २८।

'सिकुड़ा सिकुड़ा ढलकत ढलकत आदि ।'

ध्वनि प्रतिध्वनि की अभिव्यक्ति के लिये किया है । जैसे :—

'छल छल कल कल' आदि ।

कहीं भिन्नता और अन्तर की सूचना के लिए द्वित्त किया गया है :—

'थल थल करके', 'निज निज प्रभु' ।"[1]

प्राचीन उपमानों का प्रयोग :—

सांप खिलाती थीं अलकें
मधुप पालती थीं पलकें
और कपोलों की झलकें
उठती थीं छवि की छलकें
(चतुर्थ सर्ग)[2]

तथा

"गुप्त जी ने द्वापर में उद्धव की उक्तियों को विस्तृत रूप में मालोपमा का रूप दिया है । इसके कुछ पद्य ये हैं :—

अहा गोपियों की यह गोष्ठी वर्षा की ऊषा-सी
व्यस्त ससंभ्रम उठ दौड़े की स्खलित ललित भूषा-सी
श्रम कर जो क्रम खोज रही हो उस भ्रमशीला स्मृति-सी
एक अतर्कित स्वप्न देखकर चकित चौंकती घृति-सी
हो हो कर भी हुई न पूरी ऐसी अभिलाषा-सी
कुछ भटकी आशा-सी अटकी भावुक की भाषा-सी
सत्य-धर्म रक्षा हो जिससे ऐसी मर्म मृषा-सी ।"[3]

स्पष्ट है कि अलंकारों के क्षेत्र में इस वर्ग के कवियों ने प्राचीन (रीतिकालीन भी कह सकते हैं) परम्परा का पालन किया था ।

द्विवेदी-युग के अन्तिम वर्षों में पन्त, प्रसाद, निराला, की कविता उस नूतन परिपाटी का अनुसरण करने लगी थी जिसका विकास आगे के पचीस वर्षों में विशेष-रूप से हुआ । अध्ययन की सुकरता की दृष्टि से हमने इन नूतनतावादियों को (उनके विकास की अन्वति बनाये रखने के हेतु) अगले खण्ड के लिए छोड़ दिया है ।

---

१. गुप्त जी की कला-डॉ० सत्येन्द्र पृ० २८ ।
२. ,, ,, ,, ।
३. डॉ० श्रीकृष्णलाल—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास पृ० २०४ ।

वैसे प्रसाद जी ने द्विवेदी-युग में ब्रजभाषा की परम्परावद्ध कविता भी थोड़ी-सी की थी[1] किन्तु उनका वास्तविक स्वरूप आगे चलकर ही विकसित हुआ था।

इस प्रकार हमने देखा कि भारतेन्दु युग की लगभग तीन चौथाई से अधिक कविता पर तथा द्विवेदी-युग की आधे से अधिक कविता पर रीतिकाल का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा था।

———

१. अबै इठलात जल जात पात के से विन्दु
कैधों खुली सीपी मांहि मुकुता दरस हैं।
कढ़ी कंज कोषतें कलोलिन के सीकर से,
प्रात हिम कन सेन सीतल परस हैं।
देखे दुख दूनी उमगत अति आनंद सों
जान्यों नहीं जाय याहि कौन सो हरष है।
तातो, तातो, कढ़ि रूखे मन को हरित करे,
ऐरे मेरे आंसू ये पियूष तें सरस हैं।
(प्रसाद की 'आंसू' कविता के बीज इस छन्द में हैं)

तृतीय खंड

(प्रसाद-पन्त-निराला-युग)

जैसा कि हम पिछले खण्ड में देख चुके हैं, द्विवेदी-युग के अन्त तक आते-आते नवीनधारा पूर्ण वेग से प्रवाहित होने लगी थी, और काव्य के क्षेत्र में प्राचीन परिपाटी वाली धारा का वेग मन्द पड़ने लगा था। व्रजभाषा की रीतिकालीन परम्परा की कविता एकदम समाप्त तो नहीं हो गई, किन्तु फिर भी उसका अनुपात खड़ी बोली की कविता की तुलना में; बहुत कम हो गया। प्रसाद-पन्त-निराला युग की कविता को विवेचन की सुकरता के हेतु हम आरम्भ में दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। अ—व्रजभाषा (अथवा रीतिकालीन परम्परा) की कविता, ब—खड़ी बोली की कविता।

जिस प्रकार व्रजभाषा की कविता के दो भेद किये जा सकते हैं:—साहित्यिक रचनाएँ, तथा लोकगीत, ठीक उसी प्रकार खड़ी बोली की कविता के भी हम ये ही दो भेद कर सकते हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि किस प्रकार कालान्तर में खड़ी बोली की कविता का सम्पर्क जन-साधारण से टूट गया तथा उसकी भाषा और उसके भाव सामान्य मनुष्य के लिये दुरूह होते चले गये। यह वह काल था जबकि हिन्दी में छायावादी कविता अपने कुर्सी-दर्शन(Armchair Philosophy) का प्रदर्शन कर रही थी। उसी समय विज्ञान के सहारे हिन्दी-कविता में खड़ी बोली के लोकगीतों का जन्म हुआ। फिल्म (सिनेमा) के प्रचार के साथ फिल्मी गाने उत्पन्न हुए और फिल्मी गानों के रूप में खड़ी बोली के लोकगीतों का आरम्भ हुआ। उनके महत्त्व एवं मूल्य का विवेचन आगे चलकर किया जायगा। इस प्रकार हमें इस युग में चार प्रकार की कविता का विवेचन करना है:—

१. रीतिकालीन परम्परा का अनुगमन करने वाली कविता
२. व्रजभाषा के लोक गीत
३. खड़ीबोली की कविता
४. खड़ीबोली के लोकगीत (फिल्मी गीत)

हमें यह देखना है कि इन चार प्रकार की कविताओं पर रीतिकालीन प्रभाव कितनी मात्रा में एवं किस रूप में पड़ा। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि किसी भी काल की कविता का, (अथवा किसी मत का) प्रभाव किसी अन्य काल की कविता अथवा विचारधारा पर दो प्रकार का हो सकता है। साम्य मूलक तथा प्रतिक्रियामूलक। साम्यमूलक प्रभाव तो स्पष्ट ही है—प्रतिक्रियामूलक प्रभाव की जननी है विरोध की भावना, और उस विरोध के हेतु जो विशेषताएँ लाई जाती हैं, या

आजाती हैं वे प्रतिक्रियामूलक प्रभाव के अन्तर्गत आयेंगी, क्योंकि उस भावना अथवा प्रवृति के अभाव में वह विरोध (प्रतिक्रिया) न रहता और वे विशेष-विरोधजन्य विशेषताएँ भी न आ पातीं। इस कारण विरोध को (प्रतिक्रिया) उत्पन्न करने का 'कारण' होने के कारण उस प्रवृत्ति विशेष का प्रभाव प्रतिक्रियाजन्य विशेषताओं के रूप में माना जायगा।

बिना किसी प्रकट प्रभाव के भी किन्हीं दो कालों की कविता में कुछ साम्य हो सकता है इसमें भी कुछ सन्देह नहीं है। जहाँ ऐसा होगा वहाँ यदि अप्रत्यक्ष रूप में कोई प्रभाव पड़ा होगा तो उसे हम खोजने का प्रयत्न करेंगे।

इस, आधुनिक, युग (प्रसाद-पन्त-निराला-युग) की कविता के विकास को यदि हम देखें तो उसमें हमें सम्पूर्ण प्राचीन-हिन्दी-कविता के विकास-क्रम (Cycle) के दर्शन होते हैं।

वीरगाथा काल से लेकर रीतिकाल की समाप्ति तक की कविता की मुख्य प्रवृत्तियों का क्रम इस प्रकार है—वीर, भक्ति, शृंगार। आधुनिक काल का भारतेन्दु युग "सन्धिकाल" है क्योंकि इस युग में कविता प्राचीनता से नूतनता की ओर करवट बदल रही थी। आधुनिकता का पूर्ण स्वरूप द्विवेदी युग में आकर ही स्पष्ट हो पाया था। अतएव भारतेन्दु युग के बाद की कविता को यदि ध्यान से देखें और उसका विवेचन करें तो उसकी मुख्य प्रवृत्तियों का क्रम भी होगा—वीर, भक्ति (आध्यात्मिक कविता)—शृंगार।

जिस प्रकार वीरगाथा काल में वीर तथा शृंगार-रस की कविता अधिक हुई उसी प्रकार द्विवेदी युग में देश-प्रेम, स्वदेशी- भावना आदि (कर्मवीर की भावना से युक्त) की कविताएँ हुई और उनके साथ शृंगार की कविता भी चली आ रही थी। द्विवेदी युग के बाद आधुनिक हिन्दी-कविता में छायावादी युग आता है जिसमें आध्यात्म (चाहे कृत्रिम भले ही रहा हो) की ओर अधिक प्रयास किया गया। तदुपरान्त यथार्थ एवं रोमान्स के साथ प्रगतिवाद ने प्रवेश किया और अन्त में उसकी मुख्य विशेषता रह गई "मांसलवाद।" जिस प्रकार रीतिकाल में काव्य की परिपाटी बन गई थी ठीक उसी प्रकार इस समय भी राजनीतिक एवं साहित्यिक वादों की रीतियों के अनुसार ही कविता की जाने लगी थी। यहाँ तक आते आते हम स्वाधीन-भारत में आ जाते हैं (१९४७) और कविता की 'आधुनिक' रीति यद्यपि आज कुछ ढीली हो चली है किन्तु फिर भी हिन्दी की पर्याप्त मात्रा की कविता 'प्रयोगवाद' आदि कीं 'नालियों' में होकर वह रही है।[1] इस प्रकार सन् १९०० से लेकर आज तक

---

१. **शैली को दृष्टि से देखा जाय तो जिस प्रकार रीतिकाल में मुक्तक कविता का बाहुल्य था उसी प्रकार इस युग में भी मुक्तकों (गीतों) ही का प्रचलन अधिक है।**

की कविता में हमें प्राचीन हिन्दी साहित्य के तीनों कालों के क्रमानुसार दर्शन हो जाते है। प्राचीन तीन कालों में शृंगार की भावना, जिस रूप में पायी जाती थी लगभग उसी रूप में वह हमें आधुनिक कविता में मिलती हैं।

वीरगाथा काल में वीर का बाहुल्य तो था किन्तु लगभग उसी के समान प्रबल (या कहिये, पोषक रूप में होने के कारण 'वीर' से कुछ कम) शृंगार की भावना भी उस काल में पाई जाती थी। ठीक इसी प्रकार द्विवेदी-युग में 'स्वदेशी' आदि राष्ट्रीय भावनाओं के साथ शृंगार की भावना भी प्रवाहित थी। जिस प्रकार भक्ति-काल में शृंगार की भावना किंचित क्षीण तो पड़ गई थी किन्तु अलौकिक प्रेम में, (लौकिक शृंगारी आधार के रूप में) कृष्ण-भक्ति शाखा में वह लगभग उसी रूप में पायी जाती थी जिस रूप में कि आधुनिक छायावादी कविता में पायी जाती है। दोनों में साम्य कहाँ है यह हमें देखना है। छायावादी कविता में प्रकृति में लौकिक एवं अलौकिक दोनों प्रकार के 'प्रिय' के दर्शन (मानवीकरण एवं रहस्यवाद के माध्यम से) किए जाते थे, और इस प्रकार लौकिक एवं अलौकिक प्रेम एक दूसरे के आधार बन गये थे।

जिस प्रकार भक्तिकाल की अति-आध्यात्मिका की प्रतिक्रिया के रूप में रीतिकाल में शृंगार-बहुल कविता का प्रचलन हुआ था उसी प्रकार आधुनिक काल में छायावादी की अति-कृत्रिम-आध्यात्मिकता की प्रतिक्रिया हुई और यथार्थवाद, प्रगतिवाद, रोमान्सवाद तथा मांसलवाद आदि की कविता का प्रचलन हुआ जिसमें घोर शृंगारिकता (उसका 'कहने' का उद्देश्य चाहे कुछ रहा हो) का समावेश पाया जाता है। इस काल की कविता भी राजनीतिक (मार्क्सवाद, समाजवाद, साम्यवाद, गान्धीवाद) तथा साहित्यिक (यथार्थवाद, आदर्शवाद, रोमान्सवाद, मांसलवाद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद) वादों की रीति का अनुगमन उसी प्रकार करती थी जिस प्रकार कि रीतिकाल की कविता अपने काल की रीति (केवल एक) का अनुगमन करती थी।

हमारा आगे का अध्ययन इन आधारभूत मान्यताओं पर आश्रित रहेगा।

अब हम प्रसाद-पन्त-निराला-युग की उस कविता का विवेचन करेंगे जिसने पूर्ण रूप से रीतिकालीन परिपाटी का अनुगमन किया। इस कविता की भाषा, आवश्यक रूप से ब्रज हो, ऐसा नहीं है। कुछेक (हैं वे कम ही) ऐसे कवि भी हैं जिन्होंने खड़ी बोली में कविता की एवं रीतिकालीन परम्परा का अनुगमन किया।

इस काल की ब्रजभाषा कविता की दो मुख्य विशेषताएँ हैं—प्रथम, ब्रजभाषा में महाकाव्यों का लिखा जाना; द्वितीय, ब्रजभाषा की कविता का सिमिटना-सिकुड़ना तथा उसका किसी सीमा तक चतुर्वेदियों तक सीमित रह जाना। आज के अधिकाँश ब्रजभाषा के कवि चतुर्वेदी हैं। वैसे तो ब्रजभाषा के बोलने वाले आगरा, भरतपुर

मथुरा, अलीगढ़, धोलपुर, अंशतः एटा इटावा तथा मैनपुरी में पाए जाते हैं किन्तु यहाँ के निवासी भी पढ़ लिखकर खड़ी बोली ही बोलने लगते हैं। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करके भी अपने घरों में व्रजभाषा का प्रयोग करने वाला, वर्ग जाटों और चतुर्वेदियों का ही है; किन्तु जाटों में कवि नहीं के बराबर हैं।

रीतिकाल के समर्थक समीक्षकों ने यद्यपि मुक्तक की रचना को कविता शक्ति की पराकाष्टा कहा है[1] तथा व्रजभाषा के कवियों ने मुक्तकों पर अधिक ध्यान भी दिया है फिर भी आधुनिक समय में व्रजभाषा में प्रबन्ध काव्यों की भी रचना हुई है*। लाल रुद्रनाथ सिंह 'पन्नगेस' का 'सोमित्र विजय', हरदयालुसिंह के 'दैत्यवंश' तथा 'रावण महाकाव्य' आदि इस क्षेत्र में प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। इनमें विषयगत नूतनता के भी दर्शन होते हैं। माईकेल मधुसूदन दत्त के समान इन काव्यों में राक्षसराज रावण के पक्ष का गौरवपूर्ण वर्णन है। छन्द की दृष्टि से भी इन सब काव्यों पर रीतिकालीन प्रभाव है, इनमें घनाक्षरी, रोला, दोहा तथा कवित्त का प्रयोग किया गया है। भाषा सब की सरल प्रचलित व्रज है अलंकार तथा शैली के क्षेत्र में भी इन काव्यों ने रीतिकालीन परम्परा का अनुगमन किया है[2]।

---

१. पंडित पद्मसिंह शर्मा ने ठीक ही लिखा है—"मुक्तक की रचना कविता-शक्ति की पराकाष्ठा है। महाकाव्य, खंड-काव्य या आख्यायिका आदि में यदि कथानक का क्रम अच्छी तरह बैठ गया, तो बात निभ जाती है। कथानक की मनोहरता पाठक का ध्यान कविता के गुण-दोष पर नहीं पड़ने देती। कथा-काव्य में हजार में दस बीस पद्य भी मार्के के निकल आए तो बहुत हैं। कथानक की सुन्दर संघटना वर्णनशैली की मनोहरता और सरलता आदि के कारण कुल मिलाकर काव्य के अच्छेपन का प्रमाण-पत्र मिल जाता है। परन्तु मुक्तक की रचना में कवि को गागर में सागर भरना पड़ता है।

"दुलारे दोहावली, दुलारेलाल भार्गव, भूमिका पृ० ५६"

*. दर्शनीय बात है कि खड़ी बोली में मुक्तक (गीतों) का फैशन चल रहा था, इस समय।

२. कंचन बेलि सी या नवला,
दबी जात मनों कुच कुंभ के भारन।
त्यों सुखमा, पट, भूषन, दीठि की,
बोझ अपार बहै केहि कारन।
जानत हों यहि मैन महीप,
जराय कै आपु कियौ चहै छारन।
या लगि सो हम लोगनि सों,
मिलि के निज प्रानि चाहै उधारन॥
(दैत्यवंश-हरदयालुसिंह, चतुर्थ सर्ग, पृ० ५८)

डॉ० रसाल का 'अजसमोचन', पं० अमृतलाल चतुर्वेदी का 'स्याम सन्देसो' तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल 'सरस' का 'अभिमन्यु बध' श्रेष्ठ खंडकाव्यों में गिने जाते हैं। 'अजसमोचन घटना-प्रधान है, 'स्याम सन्देसो' विरह-प्रधान तथा 'अभिमन्यु-बध' वीर-प्रधान काव्य है। शैली की दृष्टि से इन सबों में प्राचीन छन्दों का प्रयोग किया है। डॉ० रसाल ने तो छन्द को काव्य की सुरसता के लिये सहायक माना है। कविता में भाव व्यंग्य होना चाहिये, गद्य के समान पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं होना चाहिये अतएव कविता को छन्द की आवश्यकता पड़ती है।

काव्य को इस रूप की रस्यता के देने में छन्द से विशेष सहायता मिलती है। छन्द का अर्थ है छिपाना, इसलिए छन्द के द्वारा काव्य में भाव अव्यक्त सा रह सकता है।[1]

इन सब प्रबन्ध-काव्यों ने किसी न किसी रूप में रीतिकालीन परिपाटी का अनुगमन किया, मुक्तकों ने तो पूर्णरूप से रीतिकालीन परिपाटी का अनुगमन किया ही था। नायिका-भेद का वर्णन तो हमें 'सोमित्र विजय' महाकाव्य तक में मिलता है।

ब्रजभाषा के प्रति लोगों की बढ़ती उपेक्षा को देखकर, एक ओर तो ब्रजभाषा का कवि कहता है, (आधुनिकतम प्रयोग दर्शनीय है) :—

सिंगारी कवि बन्धु चन्द्र की यात्रा कीजै,
सिस बदननि संग सुधा सोमरस सुख सों पीजै।
जनि रूसहु, बिन रोक, रूस के राकिट बैठौ,
बेगि, सबेग सदेह कछुक छिन मंह तंह पैठौ॥
तहं चकित मृगनि सी दृगनि के पहंचि गहो पहुंचे समुद।
रहिहैं तुमसों करि ईरसा इंह चकोर कुमदिन समुद॥
—हृषिकेश चतुर्वेदी

दूसरी ओर खड़ी बोली के कवि अतुलकृष्ण गोस्वामी काव्य में नायिका-भेद का महत्त्व इस प्रकार दिखाते हैं :—

परकीया ऊढा व अनूढा उद्बोधिता व उद्बुद्धा प्रति।
लक्षिता, विदग्धा, गुप्ता, मुदिता तथा अनुशयना कुलटा इति॥
पुनि तद्भेद स्वकीयावत् दश, है सम्भोग व चतुर्विध शीला।
कला काव्य के हेतु रचित यह नारी का उपभोग सजीला॥
'अतुल कृष्ण गोस्वामी, 'नारी' पृ० २६४'

---

१. डा० रा० श० शु० 'रसाल', 'अजसमोचन', प्राक्कथन पृ० ५।

यही नहीं गोस्वामी जी ने नायिका-भेद का वर्णन भी किया है। उन्होंने प्राचीन नायिका-भेद का गिरता पड़ता अनुकरण तो किया ही है, साथ ही साथ उन्होंने अपनी ओर से कुछ नये 'भेद' प्रस्तुत किये हैं, तथा 'नायिका' के स्थान पर 'नारी' शब्द का प्रयोग किया है। उनका यह विभाजन दर्शनीय है :—

प्रथम सर्ग	मानवी
द्वितीय सर्ग	माँ
तृतीय सर्ग	दुहिता
चतुर्थ सर्ग	बहिन
पंचम सर्ग	प्रेयसी
षष्ठ सर्ग	बधू
सप्तम सर्ग	कामिनी
अष्ठम सर्ग	गृहणी
नवम सर्ग	साध्वी
दशम सर्ग	नायिका
एकादश सर्ग	उपेक्षिता
द्वादश सर्ग	परित्यक्ता
त्रयोदश सर्ग	अयुक्तपतिका
चतुर्दश सर्ग	विधवा
पंचदश सर्ग	अपहृता
षोडश सर्ग	सहचरी
सप्तदश सर्ग	महिला

१. सती २. श्यामली ग्राम्या ३. नागरी ४. वृद्धा ५. बालिका ६. किशोरी ७. कोमल-कटु ८. युवती ९. रूपसी १०. दम्पति ११. शूद्री १२. गौरवर्णा १३. वियोगिनी १४. संयुक्ता १५. चित्रलेखा १६. सखी १७. परकीया १८. कवियित्री १९. ब्राह्मणी २०. क्षत्राणी २१. अर्य्याणी २२. दाई २३. कुरूपा २४. मालिनी २५. नापिती २६. मणिहारिणी २७. रजकी २८. श्रमिका २९. साविका ३०. धात्री ३१. विदुषी ३२. पनिहारिनि ३३. करुणामयी ३४. आभीरी ३५. ननद ३६. मातृकक्षा ३७. श्वश्रू ३८. जेठानी ३९. देवरानी ४०. भाभी ४१. देवी ४२. श्यालिका ४३. गायिका ४४. नर्तकी ४५. प्राचीना ४६. आधुनिका ४७. गणिका ४८. ऋतुमती ४९. सहयोगिनी ५०. वीरांगना।

(देखिये : 'नारी' अतुलकृष्ण गोस्वामी, प्रथम संस्करण १९५७, पृ० १, २)

इसके उपरान्त गोस्वामी जी ने इन सब 'नारियों' के लक्षण प्रस्तुत किये हैं। बहुत खोज के उपरान्त खड़ी बोली की कविता में नायिका-भेद का यही एक ग्रन्थ हमें मिला, सो वह भी हाल का ही प्रकाशित। इससे विदित होता है कि यह रीतिकालीन परम्परा मरी नहीं है, मृतप्राय: अवश्य है।

नायिका-भेद के अन्तर्गत 'परकीया' का विशेष महत्व है तथा उसकी ओर चतुरों की 'नजर' क्यों ओर कैसे जाती है इसे अमृतलाल जी चतुर्वेदी ने इस प्रकार कहा है:

नीचे नीचे उड़त उठि कुही चिरी की घात।
तैसे चतुरन की नजर पर तिरियन पै जात॥

उन्हीं के अनुसार अनूढ़ा परकीया का वर्णन भी परम सुन्दर है:

झुकि झूमि झकोर झमाक भरे,
कछु नेह सनेह सुहाग भरे।
रतनार खुमार जगार भरे,
पिय प्यार सिंगार पराग भरे॥
बउरी बरजै कित नैनन तू,
यह तो कछु औरहि राग भरे।
छवि छाक छुपै कहुँ छोहरिया,
छलकें छिटकें अनुराग भरे॥

(माधुरी रंग)

यह मानना पड़ता है कि जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जाता है वैसे ही वैसे नायिका-भेद का प्रचलन कम होता जाता है किन्तु 'आगतपतिका' तथा 'मानिनी' का चित्रण ब्रजभाषा के कवियों में आज भी मिल ही जाता है।

बलरामपुर के आदित्य कुमार चतुर्वेदी का आगतपतिका चित्रण जितना सुधर बन पड़ा है:

कारे कजरारे सैन वारे मैन वारे नैन,
उन्नत अनंग वारे अंग अंग फरकत।
लट लटकानि अलकानि सुघरानि बारी,
उर हीर हार मांग मोतिन सों लरकत॥
नवल उमंग रति रंग संग साज सजि,
कारी अंधियारी मांहि तन छव दरकत।
कैसे कै संभारे मन मारे कोन भांति,
धीर संवल सधें न नैन नीर बारि ढरकत॥

"आगतपतिका (स्फुट तरंग)"

उतना ही उनका 'चंचला-मानिनी' का चित्रण सजीव है :

मानिनी (चंचला)

श्याम पीत पट पाछे पवन झकोरनि तें,
हटि हटि घूँघट झटकि दुरि दुरि जात ।
चमकि चमकि मुख भामिनी को माने नाहि,
लाज लपटाये नेह टूटि जुरि जुरि जात ।।
औचकहिं अंचल सुचंचला को चंचल है,
झलक लगे ही मन मोर चुरि चुरि जात ।
मृदु मनुहारिनी मनावै मनभायो मेघ,
मानिनी न मानें मानि मानि मुरि मुरि जात ।।

(वही)

इसी प्रकार डॉ० रसाल ने "अजसमोचन" में 'मानिनी' रोहिणी का चित्रण किया है :—

तहँ वस बातहि वात मांहि दोउन की भौंहें ।
ह्वै तिरछी हैं गई दीठि कौ करि तिरछौ है ।।
इत हरि रूठे रंच, रंच उत रोहिनी रूठी ।
रही मानमनुहारि रीति दोउन की झूठी ।।

(द्वितीय सर्ग पृ० ३४ छन्द ४)

इस प्रकार न्यूनाधिक रूप में ब्रजभाषा के प्रत्येक कवि ने नायिका-भेद के अनुसार छन्दों की रचना की है। मुक्तक एवं प्रबन्ध दोनों के क्षेत्र में नायिका-भेद का प्रचुर प्रभाव पाया जाता है।

आज ब्रजभाषा के कवियों का व्यापारिक मूल्य कम है। इस कारण ब्रज की कविता का रसास्वादन केवल गोष्ठियों तथा कभी-कभी कवि-सम्मेलनों में ही हो सकता है। अधिकांश कवियों ने मुक्तकों के संग्रह नहीं छपवाये हैं केवल प्रबन्धकाव्यों को ही प्रकाशन मिल पाया है। फिर भी निम्नलिखित कवियों का नाम इस युग के श्रेष्ठ ब्रजभाषा के कवियों में गिना जा सकता है :

डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', पं० रामचन्द्र शुक्ल 'सरस', दुलारेलाल भार्गव, हरदयालुसिंह, पं० अमृतलाल चतुर्वेदी, पं० हृषिकेश चतुर्वेदी, पं० श्रीनरायण चतुर्वेदी, डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, हितैषी जी, युगलेश जी, नाथूराम माहौर, सेवकेन्द्र, श्री वियोगी हरि, सूर कवि 'झा', कल्याणप्रसाद तिवारी कल्याण, मोहन 'झा', लक्ष्मीनरायण पाँडे, रामलला, कौशलेन्द्र, केशव (कानपुर वाले), सत्यनारायन पाँडे, आदित्यकुमार जी (बलरामपुर वाले), पं० रूपनरायण चतुर्वेदी', किशोरीदेवी चतुर्वेदी, गोविन्द चौबे, (नवीनत जी के पुत्र), द्विजेश, द्विजश्याम, हरिमंगल मिश्र,

दिवाकरसिंह, रामनाथ ज्योतिसी, बचनेश मिश्र, देवनरायन सिंह 'लला', रामेश्वर झा द्विजेन्द्र, रामलाल, मदन चौवे एवं रामानुज।

इन कवियों ने शृंगार, वीर, भक्ति तथा नीति एवं हास्य के क्षेत्र में रीतिकालीन परिपाटी का ही अनुगमन किया।

नखशिख एवं सौन्दर्य वर्णन

नायिका के सर्वांग सौन्दर्य एवं उसकी प्रभावशाली कान्ति के वर्णन के साथ-साथ उसके सौन्दर्य से उत्पन्न होने वाली, आनंद (पिय के मन में) एवं ईर्षा (सवति के मन में) की भावना का सुन्दर चित्रण निम्न छन्द में मिलता है :—

चम्पक बरन रुचि रंचि अभरन देह,
सारी फालसी में लसै रूप टकसार सी।
नैन हैं बिसाल, पद्मनाल सी लसै है कटि,
बैनन में "अमृत" है मृदुल रसाल सी॥
चाल है मराल औ कमाल को गुलाल मांग,
पिय हिय माल सी है, सौत उर साल सी।
जगर मगर सब डगर बगर होति,
बाल लाल बैंदी दिये दिपति मसाल सी। —अमृतलाल चतुर्वेदी

इसी प्रकार के शारीरिक सौन्दर्य को देखकर भावुकों का मन नायिका के अंग-अंग में अटका रहता है।[1] इस आकर्षण, का कारण शृंगारिक प्रसाधन नहीं है अपितु नायिका का स्वाभाविक सौन्दर्य है, जिस पर कोई "राई" उतारती है और कोई "नोन" उतारती है। आजकल के प्रचलित सौन्दर्य प्रसाधनों का विरोध तथा शारीरिक सौन्दर्य का परम भावुक चित्रण करने में कवि ने अपनी भावुकता तथा अपने सौन्दर्य-बोध को मूर्तिमान किया है।[2] इस प्रकार के नख-शिख सौन्दर्य वर्णन में कहीं-कहीं कवियों ने नूतन उपमानों का भी प्रयोग किया है। शृंगार एवं प्रेम-व्यापार

---

१. अंगुरीन में है, पिंडुरीन में है, कदलीवन में भटकों फिरे है।
वह नाभि गम्भीर में भायो "लला" त्यों उरोजनि में अटको फिरे है॥
कर कंज सनाल बिहाल कियो, कमलानन पे भटक्यो फिरे है।
अर माँगत माँगन मांगन सों मनु आ लट में लटको फिरे है॥
("लला" कवि मथुरा वाले)

२. बिम्ब से अधर औ कपोल ककरौंदा रंग,
लाली मल लाली काहे बरन बिगारती।
कुन्दन बदन छबि अंग-अंग फूटी कढ़े,
सुन्दर सुभेस जाली बाती सी उजारती॥

के वर्णन में नेत्रों का विशेष महत्त्व रहता है। अतएव इस काल के ब्रजभाषा के कवियों ने (भी) नेत्रों के सौन्दर्य का वर्णन अलंकारिक रीति-परिपाटी में किया है।[1] शरीर के विभिन्न अंगों के सौन्दर्य एवं कान्ति के वर्णन में भी इस काल के कवि पीछे नहीं रहे हैं। उरोजों के पीत-श्यामल-लालित्य[2] से लेकर कटि की कमनीय क्षीणता तक कवियों ने अपनी नजर दौड़ाई है। यह शारीरिक[3] सौन्दर्य वर्णन केवल नारियों के सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं रहा अपितु पुरुष-शरीर के सौन्दर्य वर्णन पर भी कवियों ने ध्यान दिया। नीचे के वर्णन में कृष्ण-सौन्दर्य वर्णन की परम्परा का राम पर सुन्दर आरोप किया गया है :

जरकही पाग मौर झालर झलकदार,
तरल तरौना में डिठौना छवि छायो है।
घेरदार जामा पर्यो पटुका घुमेरदार,
कोरदार पीरौ पट चटक सुहायो है॥
'जोतिसी' जगी है अंग अंगनि में ओज भरी,

(पृष्ठ १४३ का शेष)

सहज सलोनी सुठि ठौनी गजगौनी बाल,
बिना ही सिंगार तू सिंगार मान भारती।
तेरी सुधराई कमनाई अरुनाई देखि,
कौऊ राई नौन कोऊ आरती उतारती॥ —अमृतलाल चतुर्वेदी

१. **झूमत झकोरत झुकत दलबल बांधि,**
पलक पलान थुत साम रंग बारे हैं।
लाज पीलवान के संकोच सोच अंकुशतें,
हूलति हलति अति विकल बिचारे हैं॥
प्रेम के पयोंधि पैठि न्हात हैं समोद नैन,
धीरज धरा पे पांव धरत संभारे हैं।
सुरंग रंगीले नचकीले लचकीले मंजु,
मदन महीप के मतंग मतवारे॥—रूपनरायण चतुर्वेदी

२. **उरोज स्यामता बरनन**
सनमुख उरज स्यामताई कों, नील कमल लखि लाजै।
सूलपानि के पानि माँहि जनु, चक्र बाक छवि छाजै॥
''नाथूराम माहौर''; वीरवधू 'पृ० ६८ वीरवधू नखसिख छन्द''।

३. **पट पट जाल सुजस जगली तल पीनी परम नवीनी।**
कटि कटि जाति केहिरी की कटि, कटि बिलोकि अति खीनी॥
'नाथूराम माहौर; 'कटि बरनन' वीरवधू पृ० ८५ छन्द १६९'

आज मिथिला में बड़ो कहर मचायो है।
गजरा गरे में कोर कजरा मरोरदार,
बनरा अनोखो री विदेह घर आयो है। —रामनाथ ज्योतिसी।
('कविता कौमुदी'—भाग २, पृ० २६०)

इस प्रकार के सौन्दर्य की 'चोट' का प्रभाव भावुक (आश्रय पक्ष) पर कैसा होता है, भाव-वर्णन के क्षेत्र में उसका बड़ा महत्त्व है। कवि-कर्म के दो विभाग हैं भाव-पक्ष तथा विभाव-पक्ष; भाव की उत्पत्ति के लिये उपयुक्त विभाव की जितनी आवश्यकता होती है उतनी ही विभाव के अनुरूप भाव के चित्रण की है। सौन्दर्य से युक्त आलम्बन को देखकर आश्रय के मन की अवस्था कैसी हो जाती है देखिये :—

देखि करें कहा औरन को हम तेरे भटू दृगबान के मारे।
मूरत माधुरी के सर प्लावित, प्यारे 'लला' मृदुतान के मारे॥
सौह तिहारी कहैं कर जोरि, विमोहिनी भौंह कमान के मारे।
जाय कहां रू कहा करि है, सिसकीन सुधा मुसकान के मारे॥
('लला कवि मथुरा वाले')

प्रेम तो लगने वाला रोग है; इसका प्रभाव जब आश्रय के माध्यम से आलम्बन पर भी हो जाता है, अर्थात् जब नायिका में भी, प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है तब उसके 'नेत्रों' का नूर ही बदल जाता है[1]।

उन्नत यौवन से युक्त सुन्दर शरीर को देखकर प्रेमियों की भीड़ में 'चख-चख' चल जाती है और सबके मन प्रेम की रस्सी से बंध जाते हैं—

जोवन देस प्रवेस करि
बुध जन हू बौरायं,

---

१. जब तो तिहारे नैन देखत दुरैहे दौर,
अब तौ तिहारे नैन सैनन सजाये ।
'लला कवि' जब तौ तिहारे नैन ख्याली रहै,
अब तौ तिहारे प्रेम पगन पगाये हैं।
जब तौ तिहारे नैन कंज हे, निरंजन हें,
अब तो तिहारे नैन खंजन खिसाये हैं।
जब तौ तिहारे नैन लाजन लजाये अली,
अब तो तिहारे नैन, नैन नैन-छाये हैं।
—'लला' मथुरा वाले

चंचल चख चखचख चलति,
चित् हित गुन बंधि जायं[1] ।

रीति-परिपाटी के अनुसार सौन्दर्य वर्णन ही नहीं वरन मिलन तथा संभोग-शृंगार का वर्णन भी इस काल के व्रजभाषा के कवियों तथा कुछेक खड़ी बोली के कवियों में मिलता है । सद्यस्नाता नायिका[2] के वर्णन से लेकर अनेक प्रेयसियों के साथ नायक की जलक्रीड़ा वर्णन का चित्रण[3] तक हमें मिलता है । इस क्षेत्र में मुक्तक तथा प्रबन्ध काव्यों में कोई भेद नहीं है । संभोग-शृंगार का चित्रण इस प्रकार किया गया है :—

नीवी स्खलन, हरण हृदयांशुक विरुत, कुचार्चन,
नख दशनच्छद, आलिंग उपसृत रति चुम्बन ।
सीत्कार प्रहरण, संवेशन पुरुषायिति मय,
जयति वधू के अंग दयित का मदनाराधन ।।
('नारी'-अतुलकृष्ण गौस्वामी, पृ० १११)

प्रेमी तथा प्रिया के मिलन की विभिन्न अवस्थाओं की कल्पना तो इस समय के कवियों ने की किन्तु रतिक्रीड़ा (एवं विपरीत रति) आदि के वर्णनों को उन्होंने

---

१. दुलारे दोहावली पृ० ७, दो० ७ ।

२. गमनोपक्रम व्यस्त खड़ी वह सद्यस्नाता ।
कच सृत जल मनु तिमिर निगल मणिहार उगलता ।।
तन पर सीकर हेम कमल नीहार कण सदृश्य,
सिक्त पट स्तन ज्यों गिरि पर झीना हिम जमता ।
—अतुलकृष्ण गोस्वामी 'नारी' पृ० ९८

३ दोहा : यहि बिधि करि जलकेलि नृप, सोहत रानिन साथ ।
जनु नभ गंग बिहार रत, तियन संग सुरनाथ ।।
सरिलें नृप तरनी पर आये ।
पकरि बांह पुनि तियनि चढ़ाये ।।
कुन्दन बरनि पीत रंग सारी ।
ठाड़ी केस निचोरत प्यारी ।।
दीन्ह असित कर विधुहिं दबाई ।
परे अमित मुकता चुचुआई ।।
गात अंगोछि पहिरि नव सारी········ । —'हरदयालुसिंह'
("दैत्यवंश"—अष्टदश सर्ग, २२ पृ० २६७)

छोड़ दिया । दूर की सूझ एवं अलंकारिक कलात्मकता से युक्त प्रिय तथा प्रेयसी का निम्नांकित चित्र दर्शनीय है :—

निरखि उनींदी लाडिली को एक एक - दृग,
गयौ लाल जू को चित्त चितवन चोरी में ।
बोले किन्तु जिय को सम्हारि भरिकें उछाह,
जदपि बंधे हैं सब बिधि प्रेम डोरी में ।
पलनि में पूतरी कनीनिका बिलोकि तामें,
गोरी यही उपमा जमति मति मोरी में ।
बिधि जौहरी की अवखुली अंजुरी में मानी,
नीलमनि-कनिका है कंचन कटोरी में ।।

—पं० हृषिकेश चतुर्वेदी

खड़ी बोली के कवि श्री अतुलकृष्ण गोस्वामी ने सुरति-श्रम का वर्णन इस प्रकार किया है :—

सजल रति श्रान्ता के मुख को बार बार लख,
निशा मिलन की स्मृति से होता रोमान्चित तन ।
सिमिटी, सकुची, झुकी सुतनु कर सखी स्मरण निज,
कक्ष न तजती, अकुलाती झिपती मन ही मन ।।

('नारी', पृ० ११०)

एक ही समय में कहीं मिलना है, और कहीं विरह है, जगत की इस विविधता का शृंगारी दृष्टिकोण से चित्रण भी देखने योग्य है :

केती तिया संग प्रेमिन के,
तंह रास विलास के साज संवारें ।
नेह नहीं कहुँ बाल रसाल,
मृनाल सी बाहु पिया गर डारें ।।
मंजु मयूर सी नाचें किती,
करि पैंजनी पायल की झनकारें ।
औ अधरारस लैकै निसंक,
प्रकाम ते काम बहार बगारें ।। —हरदयालुसिंह

('दैत्यवंश'—सप्तम सर्ग ३४, पृष्ठ १११)

संभोग-शृंगार के वर्णन को हम, यहाँ एक परम प्रसिद्ध उक्ति (जिसकी अनेक कवियों ने चोरी की है) देकर समाप्त करते है :—

लखी गैल की 'गैस' बुझानी नहीं,
न प्रभात की फेरी कढ़ी बनितान की।
नल हू में अबे जल आयो नहीं,
जमुना पे न भीर गई सखियान की।।
नहीं 'मील' की कान में आई अवाज,
हमें परतीति न होत बिहान की।
पिया पौढ़ें रहो पट तानें निसंक,
मियां न दई अबै बांग 'अजान' की।। —हरदयालुसिंह

उपर्युक्त छन्द में परिस्थिति तो रीति परिपाटी के अनुसार ही है किन्तु कवि ने अनेक नूतन तथ्यों का समावेश बड़े कौशल से किया है।

विरह—कभी-कभी कोई निठुर प्रिय ऐसा होता है कि उससे जितना निवेदन किया जाय उतना ही वह प्रेमी को तरसाता है। इस प्रकार के प्रिय के प्रति प्रेमियों के प्रेम-निवेदन कविता के प्राण हुआ करते हैं, इसी प्रकार के 'नजर चुराने वाले' प्रिय के प्रति युगलेश जी कहते हैं :—

यह कौन सी प्रेम की रीति नई,
बलि ! जो इतनो इतरात फिरौ।
हम चाहत प्रेम सो बात कर्यौ,
जित, आपु तितो सतरात फिरौ।।
जुगलेश जू ढूंढि थके चहुँधा,
कछु जानि न जाय, चुरात फिरौ।
जितनो हम होन नगीच चहैं,
तितनो दुरि दूर दुरात फिरौ।।
('प्रियतम से'; 'युगलेश' पं० युगल किशोर मिश्र)

इस समय के विरह-वर्णन में भी प्राचीन परिपाटी का परिपालन प्रतिलक्षित होता है। विरहिणी के 'मानस' की अवस्था का चमत्कारिक वर्णन देखिये :

बीत गये दिन प्रेम के वै,
सजनी रस की रजनी है सिरानी।
आज बिसास बिसासी के हाथ,
सबै मन साथ अमोल बिकानी।।
नेह रह्यो बिरहानल में,
सुधि हू तौ रही अपनी न बिरानी।।
बात रहयो न रहयो रस हूँ,
तऊ मानस की लहरें न थिरानी।
—डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'

(बिना जल एवं वायु के भी मानस की लहरें रुकतीं नहीं हैं—विभावना प्रगट ही है)

बिहारी समान कुछ ऊहात्मक वर्णन भी हमें इस काल में मिलते हैं। या कहिये कि भार्गव जी बिहारी से भी दो पग आगे निकल गये हैं। बिहारी की नायिका के पास तो 'जाड़ें में गीले वस्त्र आगे करके स्नेहवश' सखियां चली भी जाती थी, किन्तु यहाँ तो मृत्यु भी भाग जाती है—विरहानल की भभक से भयभीत होकर।[1]

प्रिय (कृष्ण) के विरह में नायिका (राधिका) के विरह का परम्परा बद्ध वर्णन भी हमें इस काल में मिलता है[2] और उससे शृंगारी परिपाटी में कृष्ण के महत्त्व का अब तक चला आना विदित होता है।

प्रकृति चित्रण—पं० अमृतलाल चतुर्वेदी ने नैनीताल की शोभा वर्णन में प्रकृति को आलम्बन रूप में लिया है तथा कहीं-कहीं इस काल के ब्रजभाषा के महाकाव्यों में प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण पाया जाता है, अन्यथा प्रकृति को इन कवियों ने बहुधा उद्दीपन रूप में ही स्वीकार किया है।

रत्नाकर के उद्दीपन हेतु षट्ऋतु-वर्णन[3] के समान विरह की अवस्था में विरहिणी के लिए सब ऋतुओं में समान भाव का चित्रण करने के हेतु नायिका में एक ही

---

१. कठिन बिरह ऐसी करी,
आवति जबै नगीच।
फिरि फिरि जाति दशा लखें,
कर दृग मीचति मीच॥
(दुलारेलाल भार्गव; 'दुलारे दोहावली,' विरह, ४)।

२. ब्रज की हवाल हाल बूझौ जिन ब्रजलाल।
जेती ब्रजवाल तेतीं विरह बिथा पगी॥
एक कही ऊधौं तुम जात हौ तौ जाउ जू पै।
जैसी करी स्याम तैसी तुम हूँ करी ठगी॥
राधे परि पाँउ कर जोरि जे कन्हैया कहीं।
मुँह मैं हराइ गिरी राउरे रंगे रँगी॥
साँस न समाती छाती पाती नाहिं लिखि पाती।
भोरी सी भली सी लली नैन बरसैं लगीं॥ १४७॥
('स्याम सन्देशो' पं० अमृतलाल चतुर्वेदी, पृ० ७४)

३. उद्धव शतक, छन्द ८६ से ९२ तक।

साथ, अनेक ऋतुओं के लक्षण चित्रित किये गये[1] तथा बसन्त आदि का उद्दीपन की दृष्टि से चित्रण किया गया[2]।

इस काल के ब्रजभाषा के कवियों में उक्ति वैचित्र्य तथा भाव की प्रौढ़ अभिव्यक्ति की दृष्टि से अमृतलाल चतुर्वेदी का स्थान सबसे ऊंचा है। उन्होंने कुछ नूतन तथा परम भावपूर्ण कल्पनाएँ की हैं। ग्रीष्म का रूप भयंकर तो होता ही है। किन्तु "नाजुक हसीना के सीना पर" मोतियों जैसा पसीना ला देने वाला ग्रीष्म एक विशेष ऐन्द्रिक सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाला हो जाता है,[3] इसमें रंचमात्र भी

---

१. पीतम बिदेसी के या बिसम वियोग माँहि,
तन में ऋतुन को संजोग सरसतु हैं।
सुधि करि उनकी कंपत अंग अंग हन्त,
ठाड़े होत रोम मानौ सीत परसतु हैं॥
गरमी की लूहसी उसासन सों सूखे ओठ,
मुरझि सकल गात पीत दरसतु हैं।
उमड़ि घुमड़ि हिय आह की गरज संग,
नैन नीरदन असुनीर बरसतु है॥
'पं० हृषिकेश चतुर्वेदी 'ब्रजमाधुरी'

२. गुंज गुंज भौर भीर भ्रमत निकुंज मंजु,
पुंजन पलास पीत सुमन सुहाये हैं।
लौनी लौनी लतिका लवंग लुरि फूलि फबीं,
झूलत रसाल हेरि हिय हुलसाये हैं॥
मंद मंद सीतल सुगन्ध व्यारि डोल उठी,
कूकि कूकि कोकिलान सबद सुनाये हैं।
अमृत लतान लखि अबहूँ लजात नहीं,
आए री बसन्त तऊ कन्त अन्त छाये हैं।
पं० अमृतलाल चतुर्वेदी

३. ग्रीष्म के काल मुख लाल लाल डोले बाल,
चँचल मराल चाल ठसक नसीना है।
सोहे सेत सारी कारी कसब किनारी बारी,
'अमृत' पथिक उर कौन के बसीना है॥
सुन्दरि सुभेस केस बिखरे अनेक सेस,
पूजत महेस कुच कंचुकी कसी नाहै।
मुक्तन से बिन्दु अरबिन्द और मलिन्द लसें,
नाजुक हसीना, सीना फवत पसीना है॥
—पं० अमृतलाल चतुर्वेदी

सन्देह नहीं है। इसी प्रकार की "लग" सी (अरहर की 'लग') लचीली 'लली' जब हिंडोरे पर झूलती[1] है तब सावन की बहारें मिलन के रस से और भी रसीली हो जाती है। विभिन्न ऋतुओं एवं उत्सवों का उद्दीपन के हेतु वर्णन रीतिकालीन परम्परा का अभिन्न अंग है। इन कवियों ने इसे पूर्णरूपेण निभाया है।

भक्ति—रीतिकालीन कवियों ने जिस प्रकार कृष्ण की मधुर भाव की भक्ति की थी। उसी प्रकार इस काल के लगभग सब ब्रजभाषा के कवियों ने कृष्ण की **माधुर्य भाव की भक्ति को अपनाया,** तथा प्रेम को सर्वोपरि माना[2]। श्रृंगारी कवि की कविता तब तक पूरी ही नहीं मानी जाती, जब तक कि **वह कृष्ण विषयक, मधुर भक्ति की भावना से युक्त कविता भी नहीं करता** । प्रत्यक्ष 'मुख चूम लेने वाले' रसिया कृष्ण के प्रेम के सामने 'निरंजन' निराकार के ध्यान को कौन पूछता है[3]। युगल-भाव की भक्ति होने के कारण कृष्ण ही नहीं राधिका भी भक्ति का आलम्बन बन जाती हैं[4] तथा राधा एवं कृष्ण की हिंडोरा आदि लीलाओं का अलंकारिक

---

१. लगसी सी लचीली लली ललित ललाम लौनी
लंक लचकाइ लुकि लपकी हिंडोरे में
अम्बर गुलाबी आबी अम्बर दिगम्बर से
गजब गुजारे बालजात गात गोरे में
मुरि मुसुकान उसकाय कुच कंचुकी में
कंज की कली ने कर डार दिये डोरे में
सारी सरकाय सरमाय सकुचाय झुकी
लोचन लहें हैं लाहु लमक हिलोरें में। —पं० अमृतलाल चतुर्वेदी।

२. सबै मिलि दीजै प्रेमहि मान।
जो हिय प्रेमबारि सों बंचित सो मरुभूमि समान॥
प्रेमहि सों धनजय बरसावत, बढ़त पयोधि महान।
गूँजत भ्रमर कंज बिकसित हैं, पूरन प्रेम प्रमान॥ (गोविन्ददास)

३. जब ब्रह्म निरंजन ध्याइ रही, मनमन्दिर मोहन आइ गयो।
हरि जू मुख मोरि नचाइ गयो दृग ओठन पै मुसकाइ गयो॥
करि औचक आँख मिचौनी लला मुख चूम सुधारस प्याइ गयो।
तब ग्यान गमाइ के प्रीति दृढ़ाई के प्रेम को पाठ पढ़ाइ गयो॥
—वियोगी हरि

४. द्विजश्याम विभव विलास के कारन
साधु सेवत सुमन सो समन भवबाधा के
श्याम रास लास सों उठत सहुलास संग
धाकिटि धिकित धुनि धिधकिट धाधा के
शरन शरन्य कान मोचन के मन्त्र मान्य
अभिमत दानि दान करुणा अगाधा के
छन्दनीय छन्दन सुछन्द छन्द बन्द तोरि
बन्दनीय बन्दत पदारबिन्द राधा के—॥द्विजश्याम॥

चित्रण कविता में स्थान पा जाता है।[1]

कृष्ण की विभिन्न लीलाओं की कल्पना तथा कृष्ण के जीवन की घटनाओं का मार्मिक चित्रण भी इन कवियों की कविता में पाया जाता है। गोपियां कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उनके साथ खेली गई होली के आनन्द का स्मरण करके 'होरी पर होरी समान' जलती दिखाई देती हैं:—

पारसाल फागुन में चूनरी बिगारी नई।
पटुकी बिहारी की सुरंग रंग बोरी मैं॥
ताकि ताकि मारी पिचकारी कारी कारी उन।
लालन के गालन गुलाबी कर्यौ गोरी मैं॥
बातन ही बातन में घातन तकें ही रह्यौ।
घांघरी सजाइ के नचायौ बरजोरी मैं॥
कारे बिन गोरी हाइ कौन संग फ़ाग खेलें।
खेलै जग होरी ब्रज होरी होतु होरी में[2]॥

इस प्रकार इन कवियों ने रीतिकालीन कवियों की भक्ति-भावना को जो उन्होंने सूर से प्राप्त की थी, लगभग उसी रूप में स्वीकार कर लिया था।

वीर—इस काल की ब्रजभाषा-कविता पर, वीर-रस के क्षेत्र में, रीतिकालीन कवि भूषण तथा लाल का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। रीतिकालीन वीर-रसात्मक कविता को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। अ. प्रशस्ति, ब. नायक की तलवार आदि का वर्णन, स. युद्ध का (उसके प्रभाव से युक्त) वर्णन। आज के ब्रजभाषा के कवियों ने इन तीनों विधियों को जैसे का तैसा (शैली एवं छन्द सहित) स्वीकार कर लिया है। हाँ वीर रस के नायकों में कहीं कहीं नूतनता मिलती है, (शैली वही है) जैसे १८५७ के बिहार के विद्रोही नेता कुंवरसेन की

---

१. चन्दन हिंडोला चहुं सुमन संवार्यो भयो
बेला सु चमेली जुही चम्पक निवारी कौ
डरयो है कलिन्दजा के तीर मंजु कुंजन में
छायो जंह राज सबै भांति छबि धारी को
झौका के लगत पीत पट फहरान लाग्यो
लाग्यो लहरान उत छोर सुठि सारी को
व्यलिनी सी बेनी बलखति बृषभानुजा की
झुकि झुकि जात मोर मुकुट मुरारी को।
—श्रीमती किशोरीदेवी चतुर्वेदी

२. 'स्याम सन्देसो'-अमृतलाल चतुर्वेदी, छन्द १२९, पृ० ६५।

प्रशंसा में लिखी गई कविताओं[1] में हमें आधुनिक काल के नायक के दर्शन होते हैं; फिर भी इस काल के अनेक कवियों ने ठीक भूषण की शैली[2] पर शिवाजी की प्रशंसा में छन्दों की रचना की है। इन्हें रीतिकाल की 'नकल' न कहते हुये भी इन पर पड़े रीतिकालीन प्रभाव से मना नहीं किया जा सकता। इसी कारण भूषण की छत्रसाल की 'तलवार' की प्रशंसा से प्रभावित एक वर्णन देखिये :

पानीदार पैनी सुकृपान पानि पौरन तें,
लपकि करौरनि पै पवि सी परति है।
चलि चपला सी चौकि चमकि चमकि चूमि,
सकल चमू में चारु कौतुक करति है॥
सजि समरांगन में सोनित सनी सी,
घोर वीरन अधीर करि, धीर न धरति है।
सीरे परे, पीरे परे गात अकुलात जात,
बैरनि विदारि वडवागि सी बरति है॥
'तलवार'—गजेन्द्रनाथ चतुर्वेदी

---

१. सिंह कौ सो कुंवर कुंवरसिंह महीपाल,
हैं तू भारतीय जनता को मन बसिया।
देखि देस खेत में विदेसी 'खर पतवार',
बन्यो ताहि जर ही सों काटिवे को हंसिया॥
'लीग्रैण्ड' 'लंगई' 'डेम्स' सेननि कौ ग्रसिया तू,
'डनवर' 'डगलस' आदिन कौ डसिया।
वृद्धतनु तैंने सिद्ध कीन्ही ये प्रसिद्ध उक्ति,
साठा सोई पाठा अरु असिया सो रसिया॥ पं० हृषिकेश चतुर्वेदी
('कुँवरसेन जस-वर्णन')

२. कठिन कराल क्रूर काल से बिसाल बली,
रुन्ड मुन्ड रन में दिलीस झुंड झारे हैं।
काटि दिल्ली कोट करी कहर कयामत सी,
सूत नाही धारे तिन सूतनाहीं धारे हैं।
करलैं कृपान कालिका से हैं कलेऊ करे,
बंसना समारे साह् बंस नासमारे हैं।
'अमृत' सिवा ने गाजि गजब गुजार दीने,
खोज खोज खानन के खोज मेटि डारे हैं॥
'वीर शिवा'—पं० अमृतलाल चतुर्वेदी

उक्त तलवार-वर्णन में कोई विशेष नूतनता नहीं है किन्तु वीर के घोड़े के उत्साहपूर्ण क्रियात्मक (एक्शन) चित्र में केशव कवि को मिली सफलता दर्शनीय है:—

तंग ही के कसत मलेच्छ कुल तंग होत पौरुष निहारि हार मानत फनीसी है।
जाकेसुम्म भारन ते, भुम्म धमकति अरु कमठ कठोर पीठ जाति मसकी सी है॥
केसो कवि होत ही सवार छटयौ तीर सम चकित दिनेस औ सुरेस मति मीसी है।
सातौ रतनाकर लौ बारहौ दिवाकर लौ छौनी ओ छपाकर लौ रेनुइ रेनु दीसी है॥
केशव, (एस० डी० कॉलिज, कानपुर) 'वाजि बाउनी'

युद्धवीर के दो उदाहरण देकर हम इस विवेचना को समाप्त करते हैं :

या विधि निरंकुस निहारि हरनाकुस कौ,
पुरुष पुरातन सौं तब न रह्यौ गयौ।
धरि नर-केहरि वपु आपु आये तहां,
ताहि ललकारि मल्ल युद्धहि तबै ठयौ।
कीन्हों घोर समर यदपि दैत्य भूपति नै,
नखनि बिदारि के उदर तेहि कौ हयौ।
देखत ही सबके संहारि के असुरराज,
देव मुनि वृन्दनि कौ आनन्द हितै दियौ॥
("दैत्यवंश", प्रथम सर्ग, हरदयालुसिंह, पृ० १६, छ. ४७)

तथा

तमकि तपाक सौ सुभद्रा कौ लडैतों लाल,
लाल करि नैन सिंह सावक लौ गाजै है।
'सरस' बखानै ज्यों निनाद सौ दिसानि पूरि,
कंचन कोदंड पै प्रचंड सर साजै है।
बान भरि लाये मंडलाकृत सुचाप बीच,
मंजु मुसुकात मुख मंडल यौ राजे है।
सारत मयूख लौ मयूख रवि मंडल पै,
करत अमंगल ज्यों मंगल बिराजै है॥ ५५॥
(पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'सरस'—'अभिमन्युबध,' पृ० १९)

उपर्युक्त दोनों वर्णनों में परिस्थिति तथा पात्रों की नूतनता है, उत्साह का चित्रण भी है, किन्तु परिपाटी भूषण की ही है।

नीति—गद्य के विकास के कारण यद्यपि नीति की कविता करने की परिपाटी क्षीण हो चली है किन्तु इस काल के कुछ कवियों ने रीति परिपाटी पर नीति-उपदेश

विषयक कविता भी की[1]। यही नहीं 'लला' कवि ने तो प्राचीन प्रश्नोत्तर परिपाटी का अनुगमन करके नीति विषयक कविता करने का प्रयत्न किया, जिसमें उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली; कारण स्पष्ट है। केवल शैली तथा छन्द ही प्राचीन नहीं है, अपितु तथ्य, भाव, भी पुराने हैं और उन्हें किसी नूतन दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न भी नहीं किया गया हैं, जैसे:—

बिना बुलाये तें 'लला' कहां न जावो ठीक।
सुजन सभा ससुरारि में, यहय सलाह अलीक॥

× × ×

काके मरे न रोइए, 'लला' जू कही बिचारि।
नीत रहित नृप, सठ सुवन, कपटी मित्र कुनारि॥

—देवनारायनसिंह 'लला' ('कविता कौमुदी'-भाग २, पृ० ८००)

इसके अतिरिक्त सामाजिक कुरीतियों पर भी कुछ व्यंग पाये जाते हैं:—

संध्या करै बम्हनवा जमुना तीर।
ता घर की बम्हनेटी पूजै पीर॥
—गोविन्द जी (सुपुत्र नवनीत जी)

कलापक्ष—वैसे तो इस काल के कवियों ने ब्रजभाषा में प्रबन्ध-काव्य भी लिखे, किन्तु अधिकांश कवियों ने मुक्तक परम्परा का ही अनुगमन किया। छन्दों की दृष्टि से देखा जाय तो (जैसा कि हम पहले कह चुके हैं) प्रबन्धकाव्यों में भी रीतिकालीन (घनाक्षरी, कवित्त, दोहा, रोला आदि) छन्दों का ही प्रयोग किया गया। उक्ति-

---

१. बह नर नरक कर करतु अनुभव अमरपुर हूँ पाय।
जो विधि रचित या जागत मंह रहि, तोस रहित लखाय॥
—पं० हृषिकेश चतुर्वेदी

तथा

माटी सों प्रकट पुनि माटी पै प्रकट भये,
पुनि पय 'द्विजेश' लागे पावन सुमाटी में।
माटी खेलि खाय अरु माटी उपजत अन्न,
ह्वै प्रसन्न मन को लगाये प्रिया माटी में।
जासों अस माटी ताहि माटी सम जानो मूढ़,
माटी करि जिन्दगी बिताई व्यथा माटी में।
सोये नर माटी नर माटी सम सोये,
चार कान्धे नर माटी मिले जात नर माटी में॥
—द्विजेश (सूक्त

वैचित्र्य तथा 'दूर की सूझ' को चामत्कारिक पद्धति में वर्णित करने के लिये मुक्तक अधिक उपयुक्त है—इन कवियों की यही मान्यता है। कृष्ण की लीलाओं को लेकर नूतन परिस्थितियों की कल्पना की जाती है[1]। तथा नायिका के नखशिख एवं सौन्दर्य वर्णन में 'नई बात' लाने का प्रयत्न किया जाता है।[2] इन 'दूर की सूझ' पूर्ण उक्तियों पर कला एवं अलंकार प्रयोग की दृष्टि से रीतिकालीन प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। 'नेत्र में झलकते आँसुओं' आदि के रूपक, 'सीप एवं खंजन' आदि कवि प्रौढोक्ति-सिद्ध उपमानों के माध्यम से ही, अब भी बाँधे जाते हैं :—

पिय के सुभ दर्शन पावत ही,
उमहे विरहातप ताप विभंजन।
लहरें विहरें वरुनीन तरै,
पलकैं है सम्हारतीं प्रेम के पंजन।
अति मोद हियें विलसें हुलसें,
नव नैनन में अंसुआ मन रंजन।
सरसावत सुन्दर सोभा मनो,
सुत सीप के गोद खिलावत खंजन। —कवीन्द्र माहोर
('अश्रुमाला'—पृ० २२, सीप के आंसू)

ऐसा होने पर भी (पुराने छन्दों तथा पुरानी उपमाओं का प्रयोग होने पर भी) कुछ मनोरंजक चित्र इस समय की कविता में पाये जाते हैं :

चंद से बदन में न मैन से सदन मांहि,
दाड़िम रदन में न केसन भुजंग में।

---

१. हारी हेर हेर बड़ी देर से सुजान कान,
किततू न पाई जो अनोखी चोखी सानकी
'ललाकवि' यासों हमें तुमसों कहें ही बनी,
आउ ढुंढवाओ वेग जीवन सुप्रान की।
और इत कितहूँ न दीखत हितू है, हितू,
तू है एक मैं हूँ झुकी झुकन लतान की
गुंजनवारी इन कंजन की क्यारिन में
खुई है हमारी लालनथ मुकतान की।
(ललाकवि, मथुरा वाले)

२. सहज सुगन्ध अंग अंग ते तरंग उठै,
रूहनि के मोल-तोल तुलत पसीना है॥
(नायिका की शरीर-गन्ध)
—पं० अमृतलाल चतुर्वेदी

कामिनि के अंग में न रंग में अनंग जू के,
रति की उछंग में न केलि की उमंग में ।
गतिहू मतंग में न कदलिन जंघ में है,
भामिनी के संग में न नैनन कुरंग में
घंघट तुरंग में न उरज उतंग में है,
'अमृत' अनंद जेती भंग की तरंग में ।।
—पं० अमृतलाल चतुर्वेदी

रीतिकालीन प्रभाव ऐसी रचनाओं पर भी प्रचुर मात्रा में है। बिहारी के समान रूपकों के बंधान से युक्त दोहे लिखने का प्रयत्न जो दुलारेलाल जी ने किया, वह तो रीतिकाल की 'आँखबन्द करके' नकल करने का उदाहरण है ही :—

गुरुजन लाज लगाम,
सखि सखि सांटो हू निदरि
टरत न प्रिय मुख ठाम,
अरत अरीले दृग-तुरंग ।
(दुलारे दोहावली । ३ । पृष्ठ ६)

कवि की कारीगरी प्रदर्शित करने वाले कलापक्ष-प्रधान छन्द भी इस समय के कुछ कवियों ने लिखे[1]। इनमें से कुछ में तो कलात्मकता के साथ साथ भाव की अभिव्यक्ति भी दिखाई पड़ती है[2]। हाँ, इस प्रकार के अक्ल की कारीगरी प्रधान छन्द इस समय में कम ही मिलते हैं।

---

१. रे बबा ! तन मान नाहक
सार 'रामु' मना न टेरय ।
हीय में यहि हेर तारक
कीसु ईसुहि, दास हो यज ।।
—पं० हृषिकेश चतुर्वेदी कृत 'रामकृष्ण काव्य'
(सीधा पढ़ने पर रामपक्ष में, पंक्तियों को उल्टा पढ़ने पर कृष्ण पक्ष में)

२. (निरोष्ठ्य पद । एक भी संयुक्ताक्षर नहीं है। मात्रा यदि है तो केवल "इ" की है। "अनुपम" का दूसरा अर्थ जिसमें "उ" "प" तथा "म" नहीं है)

"अनुपम सेठ जी"

सरग नरक दस दिसि छिति गगनहिं,
नहिं लखियत इन सरिस इतर जन ।
निज लगनहिं रत रहत सतत इहं,
जिनहिं न रति जगहित अनहित सन ।।
अगगन गरत गिरत नर तन लहि,

इस प्रकार हमने देखा कि इस काल के ब्रजभाषा के कवियों पर रीतिकाल का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा है।

लोकगीत—एक समय ब्रजभाषा लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत की काव्य भाषा थी—यह हम पहले देख चुके हैं। धीरे-धीरे खड़ीबोली ने उसे अपदस्थ कर दिया और आज उसका साम्राज्य संकुचित होकर ब्रज-प्रदेश के कुछ कवियों तक ही सीमित रह गया है। किन्तु लोक-साहित्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा का प्रभाव अभी बना है और तब तक बना रहेगा जबतक कि ब्रज-प्रदेश के लोग ब्रजभाषा बोलते रहेंगे। आज भी इस क्षेत्र में लोक गीतों का सृजन हो रहा है। ब्रज-प्रदेश में निम्न प्रकार के लोक-गीत आज भी प्रचलित हैं :

१. संस्कारों के गीत, (जन्म, मुन्डन, जनेऊ आदि)
२. ऋतुओं के गीत, (सावन की मल्हार, बारहमासी आदि)
३. पर्वों और त्योहारों के गीत (होली आदि)
४. भजन तथा देवी देवताओं के गीत
५. ऐतिहासिक गीत (ढोला मारू आदि)
६. श्रम विनोद के गीत (चक्की पीसते समय के गीत, खेत में काम करते समय के गीत)
७. मनोरंजन के गीत, (रसिया ख्याल आदि) रसिया शृंगार-रस प्रधान होता है तथा रसिया और होली मिलकर लोकगीतों के अधिकांश का निर्माण करते हैं।
८. बालकों के गीत (टेसू, झांझी आदि)
९. सामयिक गीत (गान्धी-आल्हा आदि)
१०. विविध जातियों के गीत, (धोबियों, कुम्हारों आदि के गीत)
११. विविध परसोकला (नीति सम्बन्धी) पटका (आलोचन सम्बन्धी) आदि ॥

(इनमें से कुछ पुरुषों द्वारा गाये जाते हैं तथा कुछ केवल स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं, कुछ मिलकर भी गाये जाते हैं)

लोग गीतों के रचने वाले घासीराम, सनेहीराम, छीतरमल, गोपीनाथ, गेंदालाल, जवाहरलाल चतुर्वेदी आदि कवि प्रसिद्ध हैं[1]। ब्रज के इन लोक गीतों पर

(पृष्ठ १५७ का शेष)

गहत न इक छन कंह हरि चरनन।
असत "असित" निस दिन निधरक करि
धरत धरनि नित नित अगनित धन ॥
(असित=ब्लैक मार्किट का)
("लाला लीला' '(छेड़छाड़) पं० हषिकेश चतुर्वेदी)

१. ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली, डॉ० कपिलदेवसिंह पृ० २६१ से २७१ तक (परिशिष्ट)

रीतिकाल का प्रभाव पूर्ण-रूपेण पाया जाता है। शृंगार एवं भक्ति दोनों के क्षेत्र में लोकगीत रीतिकालीन परिपाटी का अनुगमन करते हैं। "उत्तमा" के मुख से "गणिका" का कितना ईर्षापूर्ण तथा संयत भावनाओं से युक्त, वर्णत है :—

नायिका गोरे रंग पर काली चुन्दरिया ओढती है, प्रिय को रिझाने के लिये, परन्तु······

कारी चुन्दरिया पे रिस मति डारे, बड़ो बेईमान।
सोने की थारी में भोजन परोसो अपु खावे रंडी कों खाबावे,
बड़ो वेईमान।
अरे। हम ठाढ़े मिसुरानी बतावें, बड़ो बेईमान॥
कारी चुन्दरिया पै········· ।

"बेईमान" शब्द की व्यंजकता ध्यान देने योग्य है।

"रसियों" में रसिया की रसिक प्रवृत्ति की ओर मधुर संकेत एवं नायिका का उसे सांकेतिक निमन्त्रण देखने योग्य है :—

छोटी मोटी गगरी उठति नांइ रसिया अपनोई हाथ लगाइ जइयो।
गगरी तेरी तब उठवाऊँ घुंघटाइ खोलि दिखाइ जइयो॥
घुंघटा की का कहे बजमारे तेरी गरज परे तो घर आइ जइयो॥

रसिया की "गरज" तो पड़ती है ही और वह घर पहुँच भी जाता है, उसके बाद दोनों के मिलन का वर्णन होता है। यह प्रसिद्ध रसिया बहुत लम्बा तथा बड़ा लोक-प्रिय है। मिलन-शृंगार के वर्णनों से रसिया-साहित्य भरा पड़ा है। विरह का काव्य-परम्परानुसार वर्णन भी रसियों में मिलता है :

पपैया पिया मति बोले मेरे होत जिगर में पीर,

× × ×

पपइया पिया के बोले बैन, पिया बिन तड़पत दोऊ नैन।
कटै नहि पपइया बैरिन रैन।

× × ×

अरे पपइया बाबरे लेत पिया को नाम।
तरसाबै मोकूं मती परू तेरे मैं पाम॥
(गोपीनाथ, हाथरस निवासी)

इसी प्रकार 'मल्हार' में ऋतु के अनुरूप मिलन एवं विरह के पद पाये जाते हैं :

रसिक दोउ भिजत कदम की छंहियाँ।
सुही चीर अंग अंग लपटाने, दिये दोउ गरबहियाँ॥

तथा

अरी बहना हमें न सुहाय
पिया बिनु सूनों लागत, है । टेक ।
तीजे मनामें घर घर कामिनी
अरी बहना झूलें बगीचा में जाय ॥
हंसे मल्हारें गावें रसभरी
अरे मोकूं पति की रही याद सताय ॥

ब्रज की, विशेषकर बरसाने की, होलियां प्रसिद्ध हैं। "होली" में अनेक शृंगारी (कभी कभी भयंकर अश्लीलत्व को लिये हुये) वर्णन पाये जाते हैं। ब्रज की होली की तानें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और उनका प्रयोग मथुरा-बरसाने के होली के उत्सव में विशेष रूप से किया जाता है :

होली

गोरी तेरे नैना वड़े चटकीले ।
फागुन में ऐसी न चाहिये, ये दिन रंग रंगीले ।

× × ×

तान

चलो चलो सखी खेलैं हो······री ।
गिरि खो······री, बर जो······री ॥ इत्यादि ॥

—जवाहरलाल चतुर्वेदी

तथा

गोरी रस बोरी खेलें सकल स्याम संग होरी । टेक ।
लसति ललित ललितादिक ललननि श्री वृषभानुकिसोरी ॥
ओढ़ि ओढ़ि सुरंग चूनरि साजि सुन्दर सारियां ।
भांति भांति संभारि भूषन जुरी व्रज सुकुमारियां ॥
नख सिख सोलह सिंगार कीन्हे ।
कर केसर के कलसन लीन्हे, भरि कल कंचन थारन कुंकुम रोरी ॥

("ब्रज की तान नं० ३ 'व्रजमाधुरी'—पं० हृषिकेश चतुर्वेदी")

भजनों में कृष्ण-भक्ति का मधुर रूप हमें मिलता है। कहीं कहीं तो लोक कवियों ने अत्यन्त मार्मिक उक्तियाँ की हैं और उनकी इस प्रकार की कविता पर रीतिकाल की कृष्ण-भक्ति कविता का किंचित प्रभाव भी है :—

जब तें जग जूड़ी चढ़ि आई
मैंने ओढ़ी स्याम रजाई

शील सूत कतवाइ बुनाई
घरम के धोबी पै धुलवाई
कृष्ण नाम रंग में रंगवाई
कारीगर करतार आप छीपी बन करी छपाई
'घासीराम'

तेरो जनम सफल है जाय लगाइलै रज ब्रजधाम की ।
काट दें पाप तेरे ब्रजराज, लगाइलै परिकम्मा गिरिराज की ।
वनें सब बिगड़े तेरे काज । आदि
(पं० गेंदालाल शर्मा, राया निवासी)[1]

जहाँ रास-लीला आदि का वर्णन है वहाँ इन कवियों ने ठेठ रीतिकालीन परम्परा का ही अनुगमन किया है ।

लोकगीतों का ही एक दूसरा रूप है फिल्मी-गीत । आज यद्यपि अधिकांश फिल्मी गीत खड़ी बोली में लिखे जाते हैं फिर भी कहीं कहीं माधुर्य लाने के लिये उनमें ब्रज-भाषा की विशेषताएँ लाने का प्रयत्न किया जाता है :—

मोहि भूल गये सांवरिया, आवन कहि गये अजहूँ न आये,
लीन्हीं न मोरी खबरिया ।
—'बैजू बावरा' चित्र से

नैना लगा के सुख लैगयो । दुख दे गयौ परदेसी सैयां ।।
कौन बतावे मोहि डगरिया, नाम पीतम प्रेम नगरिया
इत्तो पता मोहि दे गयो, रस ले गयो परदेसी सैयां[2] ।
—'परछाईं' चित्र से

ब्रजभाषा की कविता की जीवन-धारा अब भी क्षीण-रूप में प्रवाहित हो रही[3] है और आज तक तो उसमें रीतिकालीन प्रभाव प्रचुर मात्रा में है । सम्भवतः आगे चलकर वह किसी अन्य दिशा में मुड़ जाय । फिर भी सब कुछ देखते हुए यही कहना पड़ता है कि 'ब्रज-साहित्य-मण्डल' के प्रयत्नों के बावजूद ब्रजभाषा की कविता कम ही होती चली जा रही है । यद्यपि अभी उसमें प्राण शेष[4] हैं, किन्तु यदि ब्रजभाषा के कवियों ने समय के साथ साथ पग मिलाकर चलना नहीं सीखा (जैसा कि श्री हरदयालुसिंह तथा 'पन्नगेस' ने किया है) तो २० या २५ वर्षों में ब्रजभाषा केवल लोकगीतों में ही रह जायगी । रीतिकाल की समृद्ध परम्परा के सहारे आज के समय के अनुरूप बनने का प्रयत्न ब्रजभाषा के कवियों को करना चाहिए, इसके लिये आवश्यक है कि ब्रजभाषा के कवि अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं तथा बंगला,

---

१. डॉ० कपिलदेव सिंह-'ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली' (परिशिष्ट) पृ० २७१ ।
२. वही, पृ० २७१ ।
३. वही, पृ० २७२ ।
४. वही, पृ० २७२ ।

गुजराती आदि प्रादेशिक भाषाओं का अध्ययन करें, अन्यथा उनके दृष्टिकोण में विस्तार एवं विविधता नहीं आ सकेगी। आज के 'मम्मी-डेडी' वाले युग में उच्चशिक्षा प्राप्त करने के बाद ब्रजभाषा-भाषी भी अपनी मातृभाषा की अवहेलना करते हैं, तथा अपने घरों में उसका प्रयोग नहीं करते। इसी कारण आगे चलकर ब्रजभाषा की कविता का भविष्य अंधकारमय सा ही प्रतीत होता है।

खड़ी बोली की कविता—

द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता एवं खुरदुरेपन को छोड़कर इस काल में खड़ी बोली की कविता ने विकास को प्राप्त करना आरम्भ किया। अंग्रेजी तथा बंगला के प्रभाव से हिन्दी में छायावाद का अवतरण हुआ। वैसे रहस्यवाद प्राचीन है, तथा प्रसाद ने उसे भारतीय ही माना है, किन्तु हिन्दी-कविता में 'वाद' के रूप में रहस्यवाद तथा छायावाद का प्रयोग बाहरी प्रभाव के कारण ही हुआ था। छायावाद को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं: १. विषयगत छायावाद, जो कि वास्तव में रहस्यवाद ही है तथा २. शैलीगत छायावाद, जो कि कविता के कलापक्ष की वस्तु है। द्विवेदी युगोपरान्त हिन्दी-कविता में एक ऐसा समय आता है जबकि इस विषयगत छायावाद तथा शैलीगत छायावाद में घपला करके एक 'छायावादी कविता' चल पड़ी जिसमें कि 'प्रकृति में ब्रह्म के संकेत' को भी छायावाद कहा जाता था, प्रकृति के ऐन्द्रिक मानवीकरण को भी छायावाद कहा जाता था, तथा अस्पष्ट व्यक्ति[illegible] की अभिव्यक्ति को भी छायावाद कहा जाता था, और प्रत्येक मानवी भावना 'उस असीम' पर घटा दी जाती थी। कभी-कभी तो 'कुछ न कहना' ही छायावादी कविता करना माना जाता था। यह पाश्चात्य प्रभाव-प्रेरित प्रवृत्ति कुछ दिनों बड़े जोरों पर [illegible]। इसके साथ ही साथ अनेक अन्य 'वाद' भी [illegible] के क्षेत्र [illegible] घुसपैठ कर गये। कविता के क्षेत्र में वादों का प्रचार उसकी सारसत्ता [illegible] चर जाने वाला हो जाता है।[1] इस कारण धीरे-धीरे कविता रूढ तथा "फार्मूला—बद्ध" होने लगी। इस सबका कारण था उस काल के कवियों पर पड़ने वाला पश्चिम का प्रभाव तथा उससे उत्पन्न अपनी प्राचीन परिपाटी के प्रति उपेक्षा की भावना। वास्तव में आधुनिक काल में भारतवासियों का मानसिक विकास क्रमबद्ध नहीं हुआ, वरन् पश्चिम की एक लहर से अचानक एक क्रांति सी आ गई जिसके कारण नवयुवकों का सारा दृष्टिकोण ही परिवर्तित हो गया था। भूत और वर्तमान के बीच कोई सेतु न था वरन् एक खाई सी पड़ गई थी। अचानक युवकों का दल पश्चिमी

---

१. काव्य क्षेत्र में किसी 'वाद' का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सार-सत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिनों में लोग कविता न लिखकर 'वाद' लिखने लगते हैं।
('चिन्तामणि', साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद)
—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३२२)

ज्ञान प्राप्त करके अपने वृद्ध गुरुजनों को तुच्छ और हेय समझने लगा।[1] इस विदेशी प्रभाव के कारण होने वाली कविता के पक्ष-समर्थन में नई-नई उक्तियाँ होने लगी, तथा एक नूतन प्रकार की समालोचना की उत्पत्ति हो गई। कहा जाने लगा कि छायावादी कविता द्विवेदी-युग के स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह है।[2] लोग यह भूल जाते थे कि द्विवेदी युग वालों ने अपनी संस्कृति की रक्षा का प्रयत्न किया था और इस काल में पाश्चात्य प्रभाव ने आकर उसे पद-दलित करा दिया। वास्तव में छायावादी कवि यह 'कबूलने' को प्रस्तुत नहीं थे कि उनके पास अपना बहुत कम है और न वे यह मानने को तैयार थे कि संस्कृतियों के युद्ध में वे अपनी संस्कृति को पराजित करवा चुके हैं।[3] अपनी बात बनाये रखने के लिए तथा अपनी नाक ऊंची रखने के लिये इस काल के अधिकांश कवियों ने रहस्यवादी-छायावादी कविता को ही काव्य का स्वरूप मान लिया, यद्यपि थी वास्तव में वह वादग्रस्त कविता ही, और उसमें बहुधा प्रणय की घुटन, अस्पष्ट प्रार्थना या निवेदन के रूप में (ससीम को अर्पित करके) अभिव्यक्त की जाती थी।[4]

इन वादग्रस्त कवियों में पारस्परिक प्रशंसा की परिपाटी चल पड़ी और लोग बिना कविता पढ़े हुये ही समालोचना करने लगे। पुरानी परिपाटी (रीतिकालीन आदि) का विरोध भी बिना उसकी कविता को पढ़े ही किया जाने लगा और अपने प्रिय कवियों का समर्थन भी बिना उनकी कविता को पढ़े या समझे किया जाने लगा[5]। इस समीक्षा में बड़े ही विचित्र, तथा गोलमोल ढ़ंग से अपने 'वाद' के

---

१. डा० श्रीकृष्णलाल, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'—पृ० २६-३०।

२. बहुत से आलोचक छायावाद को द्विवेदी युग के स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह बतलाते हैं। यह वाक्य बहुत ही प्रसिद्ध हुआ, परन्तु यह बहुत ही उपहासास्पदहै। यशदेव 'पन्त का काव्य और युग' पृ० ५१।

३. किन्तु छायावाद को द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया या विकास कुछ भी नहीं कहा जा सकता। द्विवेदी युग जहाँ प्रधानतः अपनी संस्कृति के प्रति संरक्षण भावना का परिणाम था, वहाँ 'छायावाद' आर्थिक और राजनैतिक कारणों से निराशा और वेदना की अभिव्यक्ति। 'छायावाद' में सांस्कृतिक संघर्ष समाप्त (पराजित होकर) हो चुका था। —यशदेव 'पन्त का काव्य और युग'—पृ० ५२।

४. अतः उसकी विनय और प्रार्थना जब काव्योन्मुख हुई तब उसमें भी 'रहस्यवाद' का सहारा लिया गया। सारांश यह कि रहस्यवाद एक साम्प्रदायिक वस्तु है, काव्य का कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं। 'चिन्तामणि' (दूसरा भाग) काव्य में रहस्यवाद, ले० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १३७, सं० २००२।

५. "साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले जीव पांच प्रकार के हैं - लेखक, पाठक, सम्पादक प्रकाशक और आलोचक। सबके क्षेत्र अलग-अलग हैं। पढ़ने वाला आलोचना नहीं, करता, आलोचना करने वाला पढ़ता नहीं यही तो उचित नाता है। एक ही आदमी पढ़े भी और लिखे भी, या पढे भी और आलोचना भी करे या लिखे भी और इत्यादि इत्यादि।" पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'अशोक के फूल'—पृ० ५४।

समर्थकों की कविता की प्रशंसा की जाने लगी[१]। केवल कविता ही रहस्यवादी नहीं होती थी, इस समय में 'रहस्यवादी' आलोचना भी होने लगी थी और उस रहस्यवादी आलोचना का रहस्य यही था कि समीक्षक को पुस्तक पढ़ने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती थी।[२] अनेक साहित्यिक, 'फार्मूला-बद्ध' भाषा का प्रयोग करके, जो भी लिख देते थे उसे स्वयं ही क्रान्तिकारी विचारधारा की संज्ञा दे देते थे।[३] बस फिर एक नूतन 'वाद' चल पड़ता था और माना जाता था कि यह 'वाद-प्रजनन' ही मानों गम्भीर तत्त्व विवेचन है। लोग हृदय की वासना को अलौकिक गम्भीर विवेचन की खाल उढ़ाने का प्रयत्न करते थे। उनकी यह रहस्यात्मक छायावादी साधना कृत्रिम कुर्सी दर्शन (आर्मचेयर फिलासफी) पर आधारित थी तथा उसमें अनुभूति की सचाई शेष नहीं रह गयी थी। वे केवल एक रूढ़ रीति का अनुगमन मात्र करते थे तथा इस रीति के बन्धन उनके ऊपर रीतिकालीन परम्परा के उस काल के कवियों पर होने वाले बन्धन से भी अधिक रूढ़ थे। इसी को देखकर पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने कहा है कि हिन्दी में छायावादी-रहस्यवादी कवि नहीं हैं, हाँ रहस्यवादी आलोचक अवश्य हैं।[४]

---

१. उसके अतिरिक्त जो कल्पनात्मक या भावात्मक पदावली व्यवहृत होगी वह समीक्षा न होगी, किसी कविता का आधार लेकर खड़ा किया हुआ एक हवाई महल होगा, धुँऐ का धरहरा होगा। किसी उक्ति के सम्बन्ध में पूछा जायगा कि कैसी है, तो कहा जायगा कि इसे पढ़कर ऐसी भावना होती है कि मानो स्वर्गंगा के सुनहरे तट पर कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर पीयूष पान करती हुई किसी अप्सरा ने मेरे ऊपर भूल से कुल्ला कर दिया। ('चिन्तामणि' काव्य में अभिव्यंञ्जनावाद—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २०४, सं० २००२)

२. मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकम्पित; यह क्या कम साधना है। (पं० ह० प्र० द्विवेदी, 'अशोक के फूल'—पृ० ५४)

३. हमारे साहित्यकों की एक भारी विशेषता यह है कि जिसे देखो, वही गम्भीर बना है, गम्भीर तत्त्ववाद पर बहस कर रहा है और जो कुछ भी वह लिखता है उसके विषय में निश्चित धारणा बनाये बैठा है कि वह एक क्रान्तिकारी लेख है। (वही, पृ० ५०)

४. बहुत परिश्रम के बाद मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि हिन्दी में वस्तुतः रहस्यवादी कवि हैं ही नहीं। यदि कोई रहस्यवादी कहा जा सकता है तो वह निश्चय ही एक श्रेणी का आलोचक है। जहाँ तक हिन्दी बोलने वालों का सम्बन्ध है, रहस्यवादी साधु और फकीर तो बहुत हैं, पर वे सब साधना की दुनिया के जीव हैं, साहित्य की दुनिया में रहस्यवादी जीव यदि कोई हैं तो वे निश्चय ही एक तरह से आलोचक हैं। (वही, पृ० ५३)

रीति-परिपालन की दृष्टि से इस काल की कविता रीतिकालीन कविता से भी आगे है। दोनों में यही साम्य भी है। भेद केवल इतना है कि रीतिकालीन कवि प्राचीन परिपाटी का अनुगमन करता था और इस काल का कवि विदेशी-भूठन के आधार पर गठित किसी 'वाद' की परिपाटी का। अपनी 'रीति' विशेष के परिपालन के अतिरिक्त इस काल की खड़ी-बोली कविता पर रीतिकालीन प्रभाव अति क्षीण सा ही दृष्टिगोचर होता है। रीति परिपालन के क्षेत्र में भी कोई रीतिकालीन परिपाटी का प्रभाव हमें नहीं दिखाई देता, केवल रीतिकाल के कवियों से (रीति विशेष के परिपालन के कारण) दृष्टिकोण साम्य ही दृष्टिगोचर होता है। इस काल में कविता ने 'वादों' की रीति को अपनाया और इसी कारण अन्य प्राचीन कालों के समान इस काल का नाम किसी भाव, ('भक्ति', 'वीर' आदि) पर न पड़कर 'वाद' पर पड़ा है और इसे छायावादी-युग के नाम के पुकारा जाता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इस (आधुनिक) काल में विभिन्न वादों ने काव्य के क्षेत्र में थोड़े-थोड़े समय के लिए राज्य किया हैं। यह मानते हुये भी कि इन वादों के झगड़े से मुक्त रहकर कविता करने वाले कवि भी सर्वदा होते आये हैं, इस सम्पूर्ण आधुनिक काल की कविता को वादों के अनुसार तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। द्विवेदी-युग से लेकर लगभग १९३५-३७ तक छायावादी युग, १९४४ तक प्रगतिवादी युग-तदुपरान्त प्रयोगवादी युग।* इन मुख्य वादों के साथ-साथ उनकी लपेट में चलने वाले अनेक अन्य वाद भी हैं। हम आधुनिक काल की कविता का विवेचन-रीतिकालीन प्रभाव की दृष्टि से इन्हीं तीन युगों के अनुसार करेंगे।

छायावादी युग

यह मान लेने पर कि इस आधुनिक युग की कविता में प्राचीनता के प्रति विद्वेष की भावना पाई जाती है, उस पर रीतिकालीन प्रभाव खोजना विचित्र सा लगता है। वास्तव में बात यह है कि छायावादी कवियों ने कहा तो कुछ परन्तु करा कुछ और ही। अपनी कविता को अलौकिक सत्ता के प्रति संकेत करती हुई प्रदर्शित करते हुए भी उनमें घोर शृंगारिकता पाई जाती है। इसे कभी तो प्रकृति का मानवीकरण कहा जाता था और कभी कभी अलौकिक (सूक्ष्म) प्रिय की अनुभूति का नाम दिया जाता था। जहां कहीं शृंगार है वह सब रीतिकाल का प्रभाव है, या सब शृंगारी भावना रीतिकालीन कवियों की ही 'बपौती' है यह हम नहीं कह रहे हैं। हमें तो यह देखना हैं कि विद्वानों ने कहाँ-कहाँ किस-किस रूप में इस काल की कविता पर रीतिकालीन प्रभाव खोजा है। इससे तो कोई मना कर ही नहीं सकता है कि जहाँ नायिका-भेद के संकेत होंगे वहां तो रीतिकालीन प्रभाव माना ही जायगा। इसी प्रकार की अन्य समानताओं में रीतिकालीन प्रभाव जहाँ विद्वानों ने देखा है

---

*और अब लीजिए 'नई कविता' हीं नहीं 'अकविता' भी आ गई है।

हमें उसी का विवेचन करना है, वैसे इस साम्य अथवा प्रभाव से मुक्त कविता भी प्रचुर मात्रा में इस काल में पाई जाती है।

भाव पक्ष—रतिभाव (एवं उसके उद्दीपक के रूप में प्रकृति) के क्षेत्र में ही रीतिकालीन प्रभाव को हम, आधुनिक छायावादी कविता में खोज सकते हैं। ब्रह्म विषयक-रति के क्षेत्र में इस युग के कवियों ने रहस्यवाद का अनुसरण किया है। साधना के क्षेत्र में जिसे अद्वैतवाद कहा जाता है, भावना (काव्य) के क्षेत्र में वही रहस्यवाद हो जाता है।[१] इस कारण छायावादी कवियों की भक्ति (यदि उसे हम 'भक्ति' कह सकें तो) की भावना का स्पष्ट साम्य भी रीतिकालीन भक्ति-भावना से नहीं है । हाँ, कभी-कभी, कहीं-कहीं, उनमें लौकिक-प्रिय तथा अलौकिक-प्रिय का समन्वित सा चित्रण पाया जाता है तथा उसमें जो माधुर्य का संकेत होता है वह बहुधा ऐन्द्रिक शृंगार से युक्त होता है। ऐसे शृंगारी आरोपों से युक्त रहस्यवाद में यद्यपि रीतिकालीन संकेत मिलते हैं, किन्तु दृष्टिकोण एकदम भिन्न होने के कारण हम उसे रीतिकालीन प्रभाव नहीं कह सकते।

लौकिक रति का जहाँ विवेचन किया जाता हैं, वहीं नारी का स्थान तथा महत्व विवेचन का विषय बन जाता है। रीतिकाल में नारी केवल उपभोग की वस्तु थी तथा उसका स्थान अति हेय था इस प्रकार की बातें रीतिकालीन कविता के विषय में कहीं जाती रहीं हैं, यह हम प्रथम खंड में देख चुके हैं। छायावादी युग के 'कृत्रिम अलौकिक विचारों' से युक्त कवियों ने नारी के नाना रूपों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, तथा उसके माधुर्य एवं महत्त्व को ऊपर उठाने की ड्योढ़ी पीटी है। पन्तजी ने तो सम्पूर्ण प्रकृति को ही नारी रूप में नहीं देखा है अपितु स्वयं ही नारी रूप धारण करने का प्रयत्न भी किया है,'संवारा प्रिये तुम्हारे हेतु, तुम्हारा यह अनुपम शृंगार, घने रेशम से काले बाल'। इन्होंने नारी गौरव को बढ़ाने का दावा तो किया है किन्तु वास्तव में इन्होंने भी नारी का वही भोग्य स्वरूप चित्रित किया जो कि रीतिकाल में किया जाता था। परन्तु उसके सूक्ष्म तत्त्व की खोज के फेर में वे उसके स्थूल तथा बहुमुखी स्वरूप[२] को भी सफलतापूर्वक अभिव्यक्त नहीं कर पाये। यही कारण है कि छायावादी कविता की नारी के स्वरूप की ऐन्द्रिकता तो वैसी की वैसी ही बनी हुई है किन्तु वह सजीव व्यक्तित्व नहीं पा सकी है।[३]

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल-त्रिवेणी, जायसी वाला निबन्ध 'जायसी का रहस्यवाद'।

२. पुत्री, माता, भगिनी, पत्नी, प्रेयसि आदि स्वरूप, जिनका चित्रण मध्यकाल में किया जाता था।

३. सामन्त-युग में नारी के मातृत्व, पत्नीत्व और बहन पक्ष को बहुत सम्मान दिया गया, जो सामाजिकता का ही निदर्शन है। यद्यपि यह सम्मान भाव वाचक संज्ञा को ही मिला : किन्तु पूंजीवाद में यह सम्मान निरपेक्ष सौन्दर्यानुभूति को, जो नारी में अपनी अभिव्यक्ति करता है, ही दिया गया, इसी से नारी छायावादी काव्य में सजीव व्यक्तित्व नही पा सकी। —यशदेव, 'पन्त का काव्य और युग' —पृ० ७०।

रीतिकालीन नायिका-भेद तथा उसमें वर्णित 'गणिका' और 'परकीया' नायिकाओं को लेकर इस काल के कवियों तथा रहस्यवादी आलोचकों ने, काफी ऊधम-दंगा किया था। किन्तु पाश्चात्य विचारकों के प्रभाव से धीरे धीरे ये स्वयं नारी के इस स्वरूप की आराधना करने लगे, भेद केवल इतना था कि रीतिकाल की परकीया भी किन्हीं सीमाओं को मानती थी, किन्तु छायावादी कवियों की नारी सीमाओं तथा मर्यादाओं (वे चाहे धर्म की हों या संस्कृति की) को तोड़ पूर्ण उच्छृंखल रूप में हमारे सामने आ जाती है और उसका 'मातृत्व' एवं 'भगिनीत्व' स्वरूप ही लुप्त नहीं हो जाता अपितु उसका पत्नीत्व भी सुप्त होकर 'भोग्या कामिनी' के स्वरूप में समा जाता है।[1] हाँ, आगे चलकर इसी 'भोग्या' के 'ग्रामीण', 'मजदूरनी' आदि भेद अवश्य हमारे सामने आते हैं; 'फ्रायड, 'रसैल' आदि के प्रभाव का यह फल हुआ, जोकि प्रगतिवादी युग में विशेषरूप से 'फला' और फूला। नारी के गौरव को बढ़ाने के नाम पर इन कवियों ने चाहे कुछ कहा हो किन्तु उन्हें भी नारी में वही दिखाई दिया जो कि रीतिकालीन कवियों ने दो सौ वर्षों तक देखा था :—

देह में पुलक, उरों में भार,
भ्रुवों में भंग, दृगों में बाण,
अधर में अमृत, हृदय में प्यार,
गिरा में लाज, प्रणय में मान ॥

'पन्त की' 'वितरती- गृहबन-मलय समीर' नामक कविता।

यदि इस कथित छायावादी आवरण को उघार कर देखा जाय तो हमें इन कवियों में भी 'वय सन्धि' आदि अवस्थाओं के स्पष्ट दर्शन होंगे[2]। प्रथम मिलन के समय, अंकुरित होते हुये यौवन वाली, नायिका का चित्रः—

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात,
विकम्पित मृदु उर, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्सना सी चुपचाप,

---

१. (वे) विवाह का विरोध तो नहीं करते, पर स्त्री को विवाहित पुरुष के साथ ही बंधी रहने का विरोध अवश्य करते हैं। वे उसके 'पत्नीत्व' और 'मातृत्व' को उससे छीनकर उसे केवल 'नारी' रखना चाहते हैं। स्त्री-स्वातंत्र्य का यह चित्र है, जिसे वे वास्तव रूप में देखने को व्याकुल हो रहे हैं।

—पं० विनय मोहन शर्मा, 'दृष्टिकोण' पृ० २७।

२. "भावी पत्नी के प्रति" कविता में बालिका की वयः सन्धि की कोमलता, मधुरता, मुग्धता संभ्रम मूर्त हो उठे हैं। कवि प्रथम मिलन में अपनी निर्बोध और मधुर प्रेयसी के सम्भ्रम की कैसी सजीव उद्भावना करता है। यशदेव—'पन्त का काव्य और युग' पृ० १३३, १३४।

जड़ित पद, नमित पलक दृग पात,
पास जब आ न सकोगी प्राण।
मधुरता में सी भरी अजान,
नाज की ईछुमुई सी म्यान,
प्रिये ! प्राणों की प्राण।

पन्त की "भावी पत्नी के प्रति" इस कविता में प्रथम मिलन की लज्जा एवं "मदन तरंग" दोनों का चित्रण पाया जाता है।

"सद्यस्नाता" आदि नायिकाओं के चित्र भी पूर्ण ऐन्द्रिक एवं शारीरिक सौन्दर्य से युक्त, मिल सकते हैं। यही नहीं उनमें पुराने रूपक, अनुप्रास एवं उपमान भी ठीक उसी रूप में पाये जाते हैं। भेद केवल इतना है कि "उरोजों पर थपकी देने" जैसे स्थूल कामुक चित्रण के बाद कवि अनायास 'मूर्त-अमूर्त' चित्रण करके उस स्थूल नायिका को सूक्ष्म (एथीरियल) स्वरूप प्रदान कर देता है[1] और पाठक रत्नाकर के 'उद्धव' के समान, "भूला सा भ्रमा सा भटका सा भकुआना सा" होकर रह जाता है।

नारी के अंगों के सौन्दर्य की अनुभूति पुरुष के मन में, रतिभाव प्रेरक होने पर, सर्वदा समान ही होती है—युग चाहे जो हो—पुरुष चाहे जैसा हो। उस अनुभूति की अभिव्यक्ति, शैली के भेद के कारण, भिन्न प्रकार से हो सकती है, इसमें सन्देह नहीं है[2] किन्तु बात वही रहेगी।

---

१. शिलाखंड पर बैठी वह नीलांचल मृदु लहराया था,
विकसित असित सुवासित उड़ते उसके
कुंचित कच गोरे कपोल छू छू कर
लिपट उरोजों से भी वे जाते,
थपकी देकर बड़े प्यार से इठलाते थे,
शिशिर बिन्दु रस सिंधु बहाता सुन्दर,
अंगना अंग पर गगनांगन से गिर कर।
वह कविता ही थी और साज था उसका बस शृंगार।
× × ×
भरा हुआ था हृदय प्यार से उसका
उस कविता का,
अंग अंग से उठी तरंग उसके।
(पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी, निराला 'परिमल', पृ० १०५—१०६)

२. परिरम्भ कुम्भ की मदिरा, निश्वास मलय के झोके,
मुख चन्द्र चाँदनी जल में, मैं उठता था मुँह धोके।
प्रसाद-"आँसू"

नारी को छायावादी कवि भी कभी-कभी नायिका-भेद के अनुसार देख लेते थे[१]। इसमें तो सन्देह है ही नहीं कि मिलन अथवा संभोग-शृंगार के चित्रण में भी वे पीछे नही रहे हैं[२]। रीतिकालीन शृंगारी भावना तथा छायावादी युग की शृंगार-भावना में केवल एक सूक्ष्म सा भेद है। रीतिकालीन कवियों की कविताओं में नायक नायिकाओं के शृंगार का तटस्थ रूप में (Objectively) चित्रण भी हुआ करता था, और कवियों की व्यक्तिगत भावना का वर्णन (Subjectively) भी होता था, किन्तु छायावादी युग में कवि अधिकांश रूप में अपनी भावना को ही चित्रित करते थे, क्योंकि माना जाता था कि इस प्रकार की कविता में ही भावना की गहराई (डेप्थ ऑफ इमोशन्स) अधिक हो सकती है। जहाँ तटस्थ रूप में मिलन-शृंगार आदि का चित्रण पाया जाता है, वहां उसे प्रकृति पर आरोपित करके उसे प्रकृति का मानवीकरण कहा जाता है, अथवा प्रकृति का आलम्बन रूप चित्रण कहा जाता है, और कभी-कभी तो उसी में किंचित रहस्यात्मक 'क्यों' और 'कैसे' का मिश्रण करके उसे 'छायावाद' की संज्ञा दे दी जाती थी।

ये प्रकृति के चित्र वास्तव में कवि के हृदय की वासना के दूरारूढ़-बिम्बित (प्रोजेक्टेड) चित्र ही होते थे :—

'जुही की कली', 'शेफालिका' इत्यादि कविताओं में 'निराला' ने प्रकृति के वासनामय सौन्दर्य का चित्रण किया है। कवि ने प्रकृति के नायक-नायिकाओं को भी विषय-रस-संलग्न चित्रित किया। जूही की कली में 'मलयानिल' और 'जुही की कली' का रति-वर्णन है। इस रति का स्थान प्रकृति का पर्यक है और नायक नायिका भी प्रकृति की वस्तुएँ हैं। 'शेफालिका' में कवि शेफाली के वासनामय सौन्दर्य का चित्रण करता है :—

> बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
> यौवन उभार से
> पल्लव पर्यंक पर सोती शेफालिके।
> मूक आह्वान भरे लालसी कपोलों के
> व्याकुल विकास पर
> झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के। इत्यादि।

---

१. तुम मुग्धा थीं अति भाव प्रबल,
उकसे थे अंबियों से उरोज,
चंचल प्रगल्भ हंसमुख उदार,
मैं सलज तुम्हें था रहा खोज। पन्त-'युगान्त'

२. तुमने अधरों पर धरे अधर,
मैंने कोमल वपु धरा गोद। (वही)

यह शैली प्राचीन संस्कृत और हिन्दी कवियों की परम्परा में भी थी।[1]

इस चित्र में मानवी नायक एवं नायिका का संभोग चित्र ही है इसमें किसी को भी कोई सन्देह नहीं होना चाहिये।

'प्रियवर कठिन उरोज परस कस कसक मसक गई चोली,
एक बसन रह गई मन्द हंस अधर दशन अनबोली।
कली सी कांटे की तोली।'
(निराला-'गीतिका' पृ० ४४, गीत नं० ४१)

उपर्युक्त चित्रों को देखकर ही आज के कुछ समीक्षक इस प्रकार की कविताओं को पुस्तकों में स्थान देना भी उचित नहीं समझते।[2] इन सब शृंगारी चित्रों पर रीतिकाल का ही प्रभाव है इसका निर्णय किस प्रकार किया जाय। इसका प्रमाण हम विद्वानों के मतों को मानते हैं और उनमें से कुछ यहाँ उद्धरित करेंगे। ये मत किसी न किसी साम्य पर ही आधारित हैं यह यहां स्पष्ट हो जायगा। अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना या व्यंग्य-रूपक, बात एक ही है और उसका रूप रूपकातिशयोक्ति का ही रहता है। व्यंग्य-रूपक का यह प्रसिद्ध उदाहरण है :—

कमल पर जो चारु खंजन प्रथम,
पंख फड़काना नहीं ये जानते,
चपल चोखी चोट कर, अब पंख की,
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को। "पन्त"

इसकी नायिका मुग्धा 'ज्ञात यौवना' है और कहने वाली सखी 'व्यंग्य विदग्धा'। प्रच्छन्न परिहास करना इसका स्वभाव है।[3]

उपर्युक्त उद्धरण में न केवल प्राचीन नायिका-भेद ही है, अपितु आलंकारिकता का प्रभाव भी परिपाटीगत ही है। कहीं कहीं तो इस युग के कवियों ने रीतिकालीन परिपाटी का असफल अनुगमन तक किया है।[4] आचार्य पंडित रामदहिन मिश्र ने

---

१. डॉ० श्रीकृष्णलाल 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' पृ० ७७-७८।

२. इस दृष्टि से 'गीतिका,' के एकाध गीत को हम इस संग्रह में रहने देने के पक्ष में नहीं है।
('दृष्टिकोण'-गीतिका का कवि, ले० डॉ० विनयमोहन शर्मा. पृ० ८२)

३. 'काव्य में अप्रस्तुत योजना' पं० रामदहिन मिश्र, पृ० १०७।

४. मौन रही हार,
प्रिय पथ पर चलती।
सब कहते शृंगार,
कण कण कर कंकण प्रिय।

छायावादी कवियों की कविताओं में से 'मुग्धा', 'अज्ञात यौवना'[1] आदि नायिकाओं के उदाहरण विद्वत्तापूर्ण विवेचन के साथ उपस्थित किये हैं। इस काल के कवियों में प्रकृति का मानवीकरण कभी-कभी पुरानी परिपाटी के नायिका-भेद का स्वरूप धारण कर लेता है। प्रसाद की 'धरा वधु' शैय्या (सिन्धु) पर ऐंठी सी 'बैठी हुई, मानिनी नायिका के चित्र को पूरा पूरा निखारती है।[2] नारी के स्वरूप काव्य-परिपाटी में

(पृष्ठ १७० का शेष)

क्रिण किण रव किंकिणी,
रणन् रणन् नूपुर उर लाज।
लौट रंकिनी,
और मुखर पायल के स्वर करें बारबार,
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृंगार। —'निराला'
('अभिसारिका' का इससे अच्छा वर्णन हम रीतिकाल में पा सकते हैं)
यशदेव, "पन्त का काव्य और युग" पृ० ६१-६२

१. मुग्धा नायिका

सजनि तेरे दृग बाल।
चकित से विस्तृत से दृगवाल
आज खोये से आते लौट कहाँ अपनी चंचलता हार
झुकी जाती पलकें सुकुमार, कौन से नव रहस्य के भार
सरल तेरा मृदु हास।
अकारण वह शैशव का हास
बन गया कैसे चुपचाप, लाज भीनी सी मृदु मुसकान,
तड़ित सी अधरों की ओट झांक हो जाती अन्तर्धान।
—महादेवी वर्मा

(पं० रामदहिन मिश्र 'काव्य दर्पण' पृ० ५६)

तथा

अज्ञात यौवना
(मत्स्यगन्धा की सखी के प्रति)
प्रिय सखि, आज मन सिहर कैसी,
प्रकृति हृदय ही या हुआ मुग्ध ऐसा आज,
मानता नहीं है मन, यौवन की क्या लहर
कहता जग जिसे होगी वह कैसी भला? (वही पृ० ५६-६०)

२. सिंधु सेज पर धरा बधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी,
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में
मान किये सी ऐंठी सी।
प्रसाद "कामायनी" आशा सर्ग पृ० २५

इतने मुक्त हो गये हैं कि अनजाने, अनायास वे कवियों की कविताओं में प्रगट हो उठते हैं। पंडित रामदहिन जी मिश्र ने छायावादी कवियों में केवल नायिका भेद ही नहीं अपितु प्राचीन परिपाटी के अन्य काव्यांगों को भी खोज निकाला है :—

'उद्दीपन विभाव प्रत्येक रस के अपने होते हैं। शृंगार रस के सखी, सखा, दूती, षटऋतु, वन, उपवन, चन्द्र, चांदनी, पुष्प, नदीतट, चित्र आदि उद्दीपन विभाव होते हैं।'

नायिका की सखी। इसके चार भेद होते हैं १. : हितकारिणी २. व्यंग्य विदग्धा, ३. अन्तरंगिणी और ४. बहिरंगिणी। एक उदाहरण—व्यंग्यविदग्धा सखी (एक सखी की नायिका के प्रति उक्ति)

प्रथम भय से मीन के लघु बाल जो
थे छिपे रहते गहन जल में तरल
उर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब विकल करने लगी। 'पन्त'[१]

'कटाक्ष आदि कृत्रिम आंगिक चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहते हैं।' जैसे,

एक पल मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे,
चपलता ने विकंपित पुलक से,
दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था। "पन्त"[२]

नायिकाओं की विभिन्न अवस्थाओं में "गर्भिणी" का चित्रण विहारी आदि रीतिकालीन कवियों में मिलता है। प्रसाद ने 'कामायनी' में नायिका के इस स्वरूप का परम लुभावना चित्रण किया है,[३] प्रसाद के इस वर्णन पर स्पष्ट रीतिकालीन

---

१. पं० रामदहिन मिश्र 'काव्य दर्पण' पृ० ६९।

२. वही पृ० ७३।

३.
केतकी गर्भ सा पीला मुख,
आँखों में आलस भरा स्नेह।
कुछ कृशता नई लजीली थी,
कम्पित लतिका सी लिये देह।

'प्रसाद' ने 'कामायनी' में गर्भवती नारी के सौन्दर्य का लुभावना वर्णन किया है। मनु 'परिचय की रागमयी संन्ध्या' के पश्चात् अपनी कुटी में आते हैं, डोलते हैं। अनमनी सी श्रद्धा हाथों में तकली लिये खड़ी है, उसकी काली काली अलकें एड़ियों को चूम रही हैं। मनु की आंखों में मद छा गया।"

('दृष्टिकोण', काव्य में गर्भिणी नारी—डा० विनयमोहन शर्मा पृ० ५८)

प्रभाव तो नहीं दिखाई देता किन्तु नायिका की विभिन्न अवस्थाओं के वर्णन की दृष्टि से रीतिकालीन कविता से साम्य अवश्य है।

प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवी इन छायावादी कवियों के अतिरिक्त इस काल के अन्य कवियों की कविता में नखशिख तथा शारीरिक सौन्दर्य के परम्पराबद्ध वर्णन ही नहीं पाये जाते वरन् उनमें नायक[1] तथा नायिका-भेद के भी दर्शन हमें होते हैं:

> एक क्षण ऐसा इस जीवन में आता है,
> एक दृष्टि में जो नई सृष्टि रच जाता है।
> यौवन का बोध अकस्मात ही तो होता है,
> मुग्धा एक पल में ही मध्या बन जाती है।
> खिंच खिंच जाता कहीं मन जब तन से,
> भाता है विशेष तब जन को विजन ही।[2]

उपर्युक्त चित्रण में मुग्धा के 'मध्या' बन जाने के चित्रण के साथ साथ विरह की उत्पत्ति का चित्रण भी है। सोहनलाल द्विवेदी जी के 'ज्ञात यौवना' बाला के चित्रण में तो 'विभावना' भी दर्शनीय है।[3] यही नहीं उन्होंने अभिसारिका का चित्रण भी बड़े कौशल से किया है। उनके निम्नलिखित चित्र में 'अभिसारिका' के मन की लज्जाजनित कुंठा तथा प्रिय के मिलन का आवेग दोनों का सुन्दर चित्रण है :—

> चलती दो चरण कभी द्रुतगति,
> गम्भीर धीर पद, चिन्ताकुल,
> तो कभी, जड़ित सी, चित्रित सी,
> स्थिर हो जाती पथ पर व्याकुल,

---

१. मेरे पति कितने उदार हैं गद्‌गद हूँ यह कहने
रानी सी रखते हैं मुझको स्वयं सचिव से रहते।—गुप्तजी।
(अनुकूल नायक का उदाहरण, 'काव्य दर्पण' पं० रामदहिन मिश्र पृ० ६०)

२. 'सिद्धराज,' मै० श० गुप्त. चतुर्थ सर्ग, पृ० ६८।

३. यौवन की पहली श्री बिखरी,
उस ज्ञात यौवना बाला सी
जिसके अधरों के कूल अरुण
उस प्लावित मधु के प्याला सी
उन्नत कुच कुंभों को लेकर
फिर भी युग युग की प्यासी सी,
आमरण चरण लुंठित होने
वाली, प्रेयसि सी, दासी सी,
(सोहनलाल द्विवेदी-'कुणाल'-प्रणय-निवेदन, पृ० ४१)

थी खेल रही मुखमंडल पर,
नव अभिनव भावों की लहरी,
था कभी हर्ष, तो कभी शोक,
थी धूपछांह घिरती गहरी ।[१]

छायावादी-युग में भी कुछ कवि ऐसे पाए जाते हैं जिन्होंने इस 'वाद' का आँख मूँदकर अनुसरण नहीं किया था, यद्यपि समय के प्रभाव से उनकी कविता में भी छायावादी शैली की कुछ विशेषताएँ पायी जाती हैं। गुप्त जी इस प्रकार के कवियों में सर्व प्रमुख हैं। ऐसे अधिकांश कवियों ने प्राचीन परिपाटी के उपमानों तथा अलंकारों को लेकर ही नखशिख वर्णन[२] एवं सौन्दर्य चित्रण किया है। यही नहीं उनमें पनघट आदि[३] की परम्परासिद्ध परिस्थितियों के चित्र भी हमें मिलते हैं, प्रिया के सौन्दर्य से विद्रवित प्रेमी-मन पनघट पर की 'दो भरी गगरियों' के विरह में समाया रहता है, क्योंकि उस सुन्दरी का शरीर परम्परा सिद्ध उपमानों के अनुसार सुन्दर ही नहीं है, अपितु उसमें प्रत्येक 'जंगम' को जड़ बना देने वाला अलौकिक सौन्दर्य है।[४] नारी-शरीर के सौन्दर्य चित्रण में इन कवियों ने प्राचीन परिपाटी

---

१. 'कुणाल'—सोहनलाल द्विवेदी पृ० ४२।

२. मीन मद हारी तेरे लोचन ललाम जहाँ,
सब को कराते नित्य नील नीरजों का भान।
हरती जहाँ है तेरे मुख की मनोज्ञ छवि,
राका के कलानिधि की कलित कला का मान।
देखकर तेरी मंजु मन्द मन्द मुस्कान,
चारु चपला का जहाँ आता मन में है ध्यान।
यह वरदान दे कि बैठ के वहीं सदैव,
सुख से करूं में तेरी सुखमा सुधा का पान। 'आधुनिक कवि'
—गोपालशरणसिंह पृ० १२।

३. तुम मिलीं और इस पनघट पर, दो भरी गगरियां लिए चलीं,
मैं प्यासा ही रह गया और, तुम छलक लहरियां लिए चलीं।
विश्रान्त पथिक मैं परदेसी, तुम कल्पलता इन्द्राणी सी,
मैं मूक चित्रवत खड़ा रहा, तुम चलीं चटुल रति रानी सी।
—'भगवती प्रसाद बाजपेई'

४. जिसके अंगों पर बहती है गंगा जमुनी धाराएँ,
जिनके कटि में देख क्षीणता लज्जित होती वारायें।
केहरि-गति से वह सर के तट पर जल पीने जाती जब,
जिधर आंख फिर जाती उसकी जंगम जड़ हो जाते सब।
—गुरू भक्तसिंह 'भक्त'

का अनुसरण छायावादी कवियों की अपेक्षा अधिक किया था। इस काल के कुछ कवि जो कि ब्रजभाषा की कविता की शृंगारिकना की कटु आलोचना किया करते, स्वय रीतिकालीन परिस्थितियों की कल्पना करके 'हिंडोला' आदि का वर्णन करते थे।[1] 'कथनी और करनी' का यह भेद भी इस काल के कुछ साहित्यिकों की एक विशेषता है।

इस काल में प्रकृति को लेकर बड़ा गुलगपाड़ा मचाया गया था। प्रकृति के 'स्थूल' में 'सूक्ष्म' ब्रह्म के दर्शन करने वाले, तथा उसके द्वारा अनन्त सत्ता का संकेत पाने वाले अनेक कवि और उनसे भी अधिक समीक्षक इस काल में हो गये हैं। वास्तव में ध्यान से देखने पर छायावादी युग में प्रकृति के दो ही मुख्य रूप मिलेंगे; मानवीकरण द्वारा, उसमें अपने हृदय की सौन्दर्य-पिपासा को तृप्त करने के प्रयत्न, जिन्हें भ्रम से लोग रहस्यवादी संकेत मान बैठते थे[2] तथा उद्दीपन के लिये प्रकृति

---

१. उमड़ घुमड़ कर जब घमंड से,
उठता है सावन में जलधर।
हम पुष्पित कदम्ब के नीचे,
झूला करते हैं प्रतिवासर॥
तड़ित प्रभा या घन गर्जन से,
भय या प्रेमोद्रेक प्राप्त कर।
वह भुज बन्धन कस लेती है,
यह अनुभव है परम मनोहर॥

("स्वप्न"- रामनरेश त्रिपाठी पृ० ७ छ० १२)

२. उसने प्रकृति को साथी अवश्य माना परन्तु उसका प्रकृति-प्रेम बुद्धिमूलक ही रहा। उसे ऊषा की दिव्य स्वर्ण-प्रभा और निर्झरिणी के कल-कल गान से ही सन्तोष न हुआ, उसने उनके पीछे एक ऐसी मूर्ति की कल्पना की जिससे उसका साम्य था। बुद्धिवादी मानव का जड़ प्रकृति से क्या साथ? उसे तो एक अपने ही जैसे 'सचेतन' और जीवित व्यक्ति की आवश्यकता थी। अतएव पल्लवों में उसने एक अस्फुट यौवना बालिका का रूप पाया, निर्झरिणी में एक अपनी ही धुन में मस्त कल स्वर में गाती हुई नायिका को पहिचाना, उसने समस्त प्रकृति को सचेतन रूप में देखा। अनेक छायावादी कवि और समालोचक प्रकृति का चेतन स्वरूप देखकर चौंकने और उसमें आत्मा परमात्मा सम्बन्धी आध्यात्मिक भावनाओं का आरोप करने लगते हैं, परन्तु वास्तव में इस प्रकार के प्रकृति चित्रण में आध्यात्मिकता की गन्ध भी नहीं है।

—डा० श्रीकृष्णलाल—'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'-पृ० ७०।

का प्रयोग। प्रथम का विवेचन तो हम इससे पूर्व मानवीकरण के अन्तर्गत कर आये हैं। यहां किंचित विचार प्रकृति के "उद्दीपन रूप" प्रयोग को लेकर करेंगे।

प्रिय के मिलन का क्षण तो बड़ा मधुर होता है, किन्तु वही क्षण अपनी स्मृति के कारण जब जीवन का भयंकर अभिशाप बनकर रह जाता है[1] तब विरह में दग्ध प्रेमी को प्रकृति के सुख दुख में परिवर्तित होते से प्रतीत होने लगते हैं, तथा प्रकृति प्रिय के विरह का उद्दीपन करती सी जान पड़ती है। कभी-कभी प्रकृति के वे ही दृश्य, वे ही अवयव जो कि प्रिय के मिलन के समय मन-मोदकारी थे अब उदास या अनमने से लगने लगते हैं[2]। क्यों? क्योंकि विरहिणी ने अपने मन के भावों का आरोप प्रकृति पर कर लिया है और उसे चारों ओर अपने मन की सी उदासी ही दिखती है। किंचित नूतन उक्ति के साथ इस प्रकार के वर्णनों में वे ही, अलि, चातक, कोकिल, कीर आदि हमें मिलते हैं। विरह के समय की कोकिल की कूक बसन्त को भी शिशिर में परिवर्तित कर देती है :

वह बोल उठी कोकिल अधीर।
मेरे वसन्त के भीतर भी
दिख पड़ी शिशिर की क्या लकीर?
("आधुनिक कवि" डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २८)

उपर्युक्त उक्ति में भी प्रकृति को उद्दीपन रूप में ही स्वीकार किया गया है। प्रसाद ने 'आँसू' की—

"तमचूर्ण बरस जाता था छा जाती अधिक अंधेरी" इस पंक्ति में भी वही पुरानी बात नई शैली में कही है। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का प्रयोग महादेवी जी में सबसे अधिक मिलता है। शुक्लजी के अनुसार प्रकृति को लेकर विरह वर्णन में दो

---

१. एक चुम्बन ही हुआ यह शाप जीवन का भयंकर,
अधर सम्मेलन बना अनुताप जीवन का भयंकर।
—पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

२. उनका यह कुंज कुटीर वही
झड़ता उड़ अंशु अबीर जहाँ।
अलि, कोकिल, कीर, शिखी सब हैं,
सुन चातक की रट पीव कहाँ?
अब भी सब साज समाज वही,
तब भी सब आज अनाथ यहाँ।
सखि, जा पहुँचे सुध संग कहीं
यह अन्ध सुगन्ध समीर वहाँ।
(मै० श० गुप्त 'यशोधरा', गीत १३, पृ० ४४)

प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ विशेष रूप से की जा सकती हैं। अ. प्रकृति में अपने प्रिय के दर्शन करना, अर्थात् प्रिय तथा प्रकृति का एकीकरण और ब, प्रकृति को भी अपने समान, किसी प्रिय के विरह में दग्ध देखना अर्थात् अपना और प्रकृति का एकीकरण। विरह-वर्णन के अन्तर्गत प्रकृति के मानवीकरण के ये ही दो मुख्य रूप हैं। महादेवी जी में दूसरे प्रकार का वर्णन अधिक पाया जाता है। इसी को "साधर्म्य चित्रण" भी कहा जा सकता है। इसमें विरहिणी कभी-कभी स्वयं अपना रूपक प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं से बांधती है।[1] इन सब चित्रणों के मूल में वही पुरानी परिपाटी है जिसके अनुसार विरहिणी के लिए सब ऋतुएँ समान होती हैं और विरहिणी स्वयं सब ऋतुओं की रूपक सी बन जाती है।[2] यह मान लेने पर भी कि इस प्रकार के सब चित्रणों में नूतन शैली का प्रयोग किया है और उससे उसमें भावाभिव्यंजना भी अधिक आ गई है यह कहना ही पड़ता है कि इस प्रकार के चित्रणों के मूल में वही उद्दीपन-विभाव वाली भावना ही है।

छायावादी युग की कविता के भावपक्ष पर रीतिकालीन परम्परा के प्रभाव के लक्षण इस (शृंगार) क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र बहुत ही कम मिलते हैं। किन्तु फिर भी उनके दृष्टिकोण तथा उनकी भाषा-शैली की परीक्षा आवश्यक है।

छायावादी युग का कवि पाश्चात्य 'वादों' से अत्यधिक प्रभावित था। बिना देशकाल तथा संस्कृति का ध्यान रखे हुये इस काल के कवि पाश्चात्य देशों के सड़े-गले वादों को नूतनता प्रदर्शन के हेतु हिन्दी पाठकों पर थोप देते थे। इस अन्धानुकरण के कारण काव्य के क्षेत्र में भारी अव्यवस्था आगई थी।[3] वास्तव में

---

१. मैं नीर भरी दुख की बदली।
   स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा,
   क्रन्दन में आहत विश्व हंसा,
   नयनों में दीपक से जलते
   पलकों में निर्झरणी मचली। —महादेवी वर्मा

तथा

   मैं बनी मधुमास आली।
   आज मधुर विषाद की घिर करुण आई यामिनी,
   बरस सुधि के इन्दु से छिटकी पुलक की चाँदनी,
   उमड़ आई री दृगों में
   सजनि! कालिन्दी निराली।

२. 'उद्धवशतक'-रत्नाकर, षट्ऋतु-वर्णन, छन्द ८६ से ९२ तक।

३. आजकल पाश्चात्य वाद-वृक्षों के बहुत से पत्ते, कुछ हरे नोचे हुये, कुछ सूखकर गिरे पाये हुये यहां पारिजात पत्र की तरह प्रदर्शित किये जाने लगे हैं, जिससे साहित्य के उपवन में बहुत गड़बड़ी दिखाई देने लगी। ('चिन्तामणि,' दूसरा भाग, काव्य में अभिव्यञ्जनावाद, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १८१)

इस काल के कवियों में शृंगार का ही आधिक्य[1] था किन्तु उस रति की भावना (प्रेम) को एक कृत्रिम दार्शनिक रूप देने का प्रयत्न इस काल में किया जाता था। अपने विशेष जीवन-दर्शन का विज्ञापन प्रत्येक कवि करता था। रीतिकाल का कवि अपनी वासना को उच्चतर भूमिका प्रदान करने के लिये जिस प्रकार कभी-कभी कृष्ण के नाम का आश्रय लेता था उसी प्रकार छायावादी युग का कवि अपनी वासना की अभिव्यक्ति के लिये कभी प्रकृति का सहारा लेता था और कभी आध्यात्मिकता का। भेद केवल इतना है कि नूतनता की झोंक में भगवान विषयक कविता में भी छायावादी कवि भगवान का नाम लेना (प्राचीनता का द्योतक होने के कारण) पसन्द नहीं करता था।[2] कभी-कभी इन कवियों ने मूल आलम्बन (ऐन्द्रिक सौन्दर्य) को छाया तथा छाया को (समासोक्ति के द्वारा आध्यात्मिक संकेत) मूल आलम्बन बताने का भी प्रयत्न किया।[3] इसका कारण यही था कि वासनात्मक चित्रण करते हुये भी ये लोग उसे शृंगारी चित्रण मानने को तैयार नहीं थे क्योंकि ऐसा करने पर तो प्राचीनता की गन्ध आ जाती है, और ये कवि प्रतिष्ठित परम्पराओं को विदा दे देना चाहते थे। इस प्रक्रिया में कला केवल व्यक्ति-वैचित्र्यवाद का अभिव्यंजन मात्र रह

---

१. आधुनिक काल में प्रेम को जीवन के तत्व (फिलासफी ऑफ लाइफ) के रूप में स्वीकार किया गया। भक्ति-काल में जैसे भक्ति जीवन का तत्व मानी गयी थी वैसे ही प्रेम आधुनिक काल में माना गया।
डा० श्रीकृष्णलाल, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास,' पृ० ६४।

२. मध्य-युग में कवि जब अपनी वासनाओं को उच्चतर भूमिका पर प्रतिष्ठित करना चाहता था, तो राधा और कृष्ण के नाम का सहारा लिया करता था। इन नामों के ले देने से कवित्व में भक्ति और धर्म का रस मिल जाया करता था, क्योंकि इन नामों के पीछे एक इतिहास था, एक साधना थी, एक निष्ठा थी। कवि के दोनों हाथों में मोदक हुआ करता था, सहृदय अगर रीझ गये तो कविता नहीं तो राधा और कृष्ण का सुमिरन। 'आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई न तो राधिका गुविन्द सुमिरन को बहानो है'। आज अवस्था ठीक उलटी हैं। भगवान के सम्बन्ध में कविता लिखते समय भी कवि ईश्वर वाचक कोई शब्द रखना पसन्द नहीं करता।
(''आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार''—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १७९)

३. हमारे हृदय का सीधा लगाव गोचर जगत से है। इसी बात के आधार पर सारे संसार में रस-पद्धति चली है और सच्चे स्वाभाविक रूप में चल सकती है। मजहबी सुबीते के लिये अनुभूति के स्वाभाविक क्रम का विपर्यय करने से मूल आलम्बनों को छाया और छाया को मूल आलम्बन बनाने से कला के क्षेत्र में कितना आडम्बर खड़ा हुआ है, इसका अन्दाजा ऊपर के ब्योरे से लग सकता है।
('चिन्तामणि,' दूसरा भाग, 'काव्य में रहस्यवाद,' पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १२४)

गई,[1] कवि वासनात्मक चित्रण करके तत्काल उसमें सन्देहात्मक रहस्य की भावना उत्पन्न कर देते थे,[2] जो कि प्रकृति के मानवीकरण आदि अनेक 'लेबुलों' के नीचे रखी जाती थी। इसी वैचित्र्य के चित्रण की धुन में वह अपनी प्रिया को 'मेंढक' के समान भी चित्रित करने लगा।[3] लौकिक तथा अलौकिक प्रिय के इस पारस्परिक घपलों के कारण, मूल आलम्बन तथा छाया के झमेले के कारण, कविता के भाव की छाया मात्र सी ही पाठक को मिल पाती थी, और यदि पाठक इस बात को क्षणभर के लिये भी भूल जाय कि जिस प्रिय का वर्णन किया जा रहा है, वह केवल लौकिक ही नहीं है अपितु एक असीम रहस्मय सा प्रिय भी है,[4] तो रसवोध में बड़ी भारी बाधा पड़ जाती थी। वास्तव में रस-बोध के लिये पाठक को किसी भाव विशेष का आश्रय नहीं मिलता था। बस एक हलके से 'भावाभास' मात्र से ही उसे सन्तोष करना पड़ता था। यही नहीं कभी-कभी तो कवि एकदम अबूझ सा होकर रह जाता था।[5]

---

१. प्रतिष्ठित रूढ़ियों, परम्पराओं और नियमों को विदा दे दी गई और कला व्यक्तिगत प्रतिभा की अभिव्यंजना मात्र हो गई।

'डॉ० श्री कृष्णलाल, 'आधुनिक हिन्दी सा० का विकास,' पृ० ३९-४०'।

२. वह सुन्दर है, सांवली सही, तरुणी है हो षोडशी रही,
विवसना लता सी तन्वंगिनी, निर्जन में क्षण भर की संगिनी,
वह जागी है अथवा सोई, मूर्छित था स्वप्न विमूढ़ कोई,
नारी कि अप्सरा, या माया ? अथवा केवल तरु की छाया ? —पन्त

यशदेव, पन्त का काव्य और युग, पृ० १६२।

३. वह प्रिया को यह कहकर पुकारने में गौरव का अनुभव करता है कि हे प्रिये, तुम सूर्य से भी बड़ी हो, समुद्र से भी और मेंढक से भी। क्योंकि उसकी दृष्टि में अपनी व्यक्तिगत आसक्ति नहीं है। सूर्य और समुद्र अपने आप में जितने महान् हैं, मेंढक भी अपने आप में उतना ही महान् सत्य है।

'आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार,' (कविता का भविष्य)
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६८।

४. उनकी कविता में अगर सदा यह ध्यान न रखा जाय कि उनका प्रिय एक असीम और रहस्यमय प्रिय है तो रसबोध में पद-पद पर बाधा पहुंचती रहेगी।

'आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार,' (चार हिन्दी कवि)
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८३।

५. कभी-कभी तो निराला इतने अबूझ हो जाते हैं कि पाठक अर्थ लगाने का प्रयास भ छोड़ देता है।

यशदेव—'पन्त का काव्य और युग,' पृ० ६३।

कलापक्ष—कुछ समीक्षकों का तो यहां तक कहना है कि छायावादी कविता केवल शब्दों का खिलवाड़ है, तथा उसमें कुछ शब्दों की बाजीगरी (जगलरी) मात्र है।[1] इस कथन की सचाई को परखने से पूर्व हम यह देख लें कि यदि यह बात किसी सीमा तक भी सत्य है तो इसका निष्कर्ष क्या निकलेगा ? रीतिकाल के कवियों के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने एक बंधी हुई परिपाटी का अनुगमन किया था तो दोनों के दृष्टिकोण में (रीति परिपालन की दृष्टि से) साम्य तो मानना ही पड़ेगा चाहे उसे हम प्रभाव कहें या न कहें। यदि देखा जाय तो छायावादी कविता का 'फार्मूला' निम्नलिखित तत्वों से बनता है :—

विरोधाभास, रूपकातिशयोक्ति, विशेषण-विपर्यय, प्रतीकों का प्रयोग, मूर्त-अमूर्त चित्रण, मानवीकरण, ससीम-असीम आरोप, कुछ चुने हुये शब्दों का प्रयोग (जिनमें से कुछ पीछे गिनाए गये हैं) तथा उन सब में प्रश्नवाचक, अथवा सन्देह सूचक संकेतों का लगाया जाना।

इसको लेकर बहुत से कवियों ने प्रत्येक पंक्ति में एक विरोधभास रख देने को ही छायावादी कविता मान लिया था, अतएव 'रुदन की हंसी,' आदि प्रयोग, अत्यधिक प्रचलित होगये। प्रसाद की निम्नलिखित कविता देखिये :—

> अलका की **किस** विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब,
> सुखी सो रहे थे इतने दिन, **कैसे** हे नीरद निकुरंब ?
> बरस पड़े **क्यों** आज अचानक सरसिज कानन का संकोच ?
> **अरे** जलद में भी यह ज्वाला ! झुके हुए **क्यों किसका** सोच ?
> **किस** निष्ठुर ठंडे हृत्तल में जमें रहे तुम बर्फ समान ?

---

१. हिन्दी की छायावादी कविता सचमुच शब्दों का एक खिलवाड़ है, जिसमें गिनती के कुछ शब्द हैं, जिनको अदल-बदल कर हर एक कवि अपनी रुचि के अनुसार एक नई मूर्ति बना लेता है, यद्यपि मूर्ति में कम्पन और स्पन्दन शब्दों के ढेर के ढेर जड़े होते हैं, पर रस, रूपी प्राण उनमें बहुत कम दिखाई पड़ता है। गिनती के शब्दों की एक छोटी सूची यह है—

कम्पन, स्पन्दन, कसक, टीस, वेदना, अश्रु कण, सिहरन, मूक वेदना,
हृतन्त्री, टूटे तार, नीरव और मदिर संगीत, उच्छ्वास,
रश्मि, अनंत, अतीत, विस्मृति, मूक आह्वान, तरंग, प्रियतम,
क्षितिज, परदा, सजनि, सखी, सुन्दरि, प्रेयसी, छलना,

अन्तर्ज्वाला इत्यादि। छायावादी कवियों की सारी कविता इन्हीं शब्दों की हथफेरी से बनी हुई है।—रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौमुदी, (दूसरा भाग) 'छायावाद या रहस्यवाद' पृष्ठ ४०, चौथा संस्करण, १९३६।

पिघल रहे हो **किस** गर्मी से ? हे करुणा के जीवन प्रान।
चपला की व्याकुलता लेकर चातक का ले करुण विलाप,
तारा आँसू पोंछ गगन के, रोते हो **किस** दुख से आप ?
किस मानस निधि में न बुझा था बड़वानल जिससे बन भाप,
आप प्रभाकर कर से चढ़कर इस अनन्त का करते माप।
क्यों जुगनू का दीप जला, है पथ में पुष्प और आलोक।
किस समाधि पर बरसे आँसू **किसका** है यह शीतल शोक ?
थके प्रवासी बनजारों से लौटे हो मन्थर गति से,
किस अतीत की आप पिपासा जाती चपला सी स्मृति से ?

(जयशंकर प्रसाद-"अजातशत्रु" तीसरा अंक, तीसरा दृश्य, पृ० ११८')

इस कविता में १४ पंक्तियाँ हैं तथा १३ बार "किसका" "क्यों" "कैसे" आदि का प्रयोग किया गया है। भाव को जानबूझकर रहस्यात्मक बना देने या कहिये अस्पष्ट छोड़ देने के प्रयत्न के हेतु ही इस प्रकार की कविता की जाती थी। प्रसाद में से यह उदाहरण हमने इस कारण दिया है क्योंकि प्रसाद में यह 'फार्मूला' अनुकरण की प्रवृत्ति अन्य कवियों से कम है। महादेवी जी की तो अधिकाँश कविता इसी 'फार्मूला' के आधार पर बनाई गई है। इन सब विशेषताओं के अतिरिक्त छायावादी युग के कवियों ने चित्रव्यंञ्जना शैली का भी प्रयोग किया। इसके कारण उनकी कल्पना को विस्तृत क्षेत्र मिला, तथा उनके काव्य का सौन्दर्य वर्धित हो गया, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है किन्तु यह कहना कि यह चित्रव्यंञ्जना शैली उनकी अपनी है, यथातथ्य नहीं है, इसका प्रयोग रीतिकाल के कवियों तक ने किया है।[१] इस प्रकार शैली के इस क्षेत्र में सौन्दर्य होने पर भी कोई विशेष नूतनता इन कवियों ने नहीं दिखलाई थी—हाँ, रीतिकालीन चित्रण ही एक नूतन रूप में उपस्थित मिलता है।

छायावादी युग में कविता मुक्तक गीतों की ओर अधिक मुड़ गई थी, क्योंकि व्यक्तिगत भावना की अभिव्यक्ति का मुक्तकों में अधिक अवकाश हुआ करता है।

---

१. इस चित्र-व्यंजना शैली के कारण कवियों की कल्पना को एक विस्तृत क्षेत्र मिल गया है। कविता में चित्र-चित्रण आधुनिक युग का नया आविष्कार नहीं है। रीतिकाल का नखशिख वर्णन मूलतः चित्र-चित्रण का ही एक प्रयास था। ....मतिराम श्रीकृष्ण का नखशिख वर्णन करते हैं :

गुच्छन को अवतंस लसै, सिखि पच्छनि अच्छ किरीट बनायो,
पल्लव लाल समेत छरी, कर पल्लव में मतिराम सुहायो।
गुंजनि को उर मंजुलहार निकुंजन ते कढ़ि बाहिर आयो,
आज को रूप लखे ब्रजराज को, आज ही आँखिन को सुख पायो।
(डा० श्रीकृष्णलाल-'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' पृ० ११२)

रीतिकाल में भी इसी प्रकार मुक्तकों का ही बाहुल्य था, क्योंकि कविता में कलापक्ष का प्राधान्य उस समय भी था। छायावादी काल में कलापक्ष के इस प्राधान्य के कारण क्रमशः कविता की भाषा जटिल तथा क्लिष्ट होती गई, और धीरे-धीरे जन साधारण से उसका सम्पर्क हटता गया।[1] केवल कुछ पढ़े लोगों में ही उस कविता को समझने की सामर्थ्य तथा रुचि शेष रह गई। इसका कारण भी बहुत कुछ सीमा तक विदेशी प्रभाव था।[2] जैसा कि पहले देख चुके हैं इन कवियों ने चित्र-व्यंजना शैली का प्रयोग किया था और कभी-कभी इस चित्र की व्यंजना के लिए उन्होंने प्रश्नों की भाषा का भी प्रयोग किया, (प्रसाद का "अजातशत्रु" वाला गीत पीछे उद्धरित किया जा चुका है) क्योंकि यह माना जाता था कि इन प्रश्नों के माध्यम से कवि को अपने "सहचर" की खोज में सहायता मिलती है।[3] इस प्रकार के रहस्यात्मक प्रिय सहचर

---

१. कहीं कहीं कवियों ने बहुत ही कठिन भाषा का प्रयोग किया है। भाषा की जटिलता और दुरूहता का दोष 'निराला' की कविता में प्रायः मिल जाता है। उनके 'परलोक' का एक उदाहरण लीजिए :

नयन मुंदेंगे अब, क्या देंगे ?
चिर-प्रिय-दर्शन।
शत-सहस्र-जीवन-पुलकित, प्लुत
प्यालाकर्षण ?
अमरण-रणमय-मृदु-पदरज ? विद्युत-घन-चुम्बन ?
निर्विरोध-प्रतिहित भी, अप्रतिहत-आलिङ्गन ?

(वही—१४७-१४८)

२. आधुनिक हिन्दी-कविता की भाषा पर विचार करते समय जो बात सबसे अधिक उल्लेख योग्य है वह यह है कि अत्यधिक प्रचारित और विज्ञापित होने पर भी वह अधिकांश में हिन्दी जानने वाले पाठकों के बहुत नजदीक नहीं आ सकी है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि कवियों की प्रेरणा अधिकांश में विदेशी माध्यम के द्वारा आती है और जो शास्त्र आधुनिक युग के मनुष्य को प्रभावित कर रहे हैं उनकी बहुत कम चर्चा हिन्दी भाषा में हुई है।

"हिन्दी साहित्य की भूमिका, उपसंहार, (डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी)
पृ० १४०. प्रथम संस्करण, फरवरी, १९४० ई०"

३. इन प्रश्नों की चित्र-भाषा से कुछ ऐसा अर्थ निकलता है कि कवि के साथी का परिचय पाठकों को मिल जाता है। छायावादी कवि प्रकृति में सचेतन साथी की खोज करता है और अपनी कल्पना द्वारा उसे वैसा ही बना भी लेता है।

"डा० श्रीकृष्णलाल, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' पृ० ७२"।

की अनुभूति स्वयं ही अस्पष्ट सी रह जाती है। इसी कारण इसकी अभिव्यक्ति[1] के लिए भी एक विशेष प्रकार की भाषा की आवश्यकता पड़ी जो कि धीरे-धीरे दुरूह एवं क्लिष्ट ही होती चली गई। उसके अपने प्रयोग बनते गये तथा रूढ़ होते गये, और इस प्रकार भाषा में एक विशेष प्रकार का परिवर्तन आ गया। इस परिवर्तन से भाषा के कोष की वृद्धि हुई और चमत्कारपूर्ण विशेषणों के लोभ में कवियों ने नूतन-नूतन शब्दों का गढ़ना आरम्भ किया।[2] इन शब्दों की उत्पत्ति की मूल प्रेरक भावना थी चमत्कार की। भाषा की इस वृद्धि के लिए संस्कृत का ही सहारा नहीं लिया गया अपितु अंग्रेजी का आश्रय भी लिया गया। अंग्रेजी से धुंआंधार अनुवाद किये गये, और नूतन एवं विचित्र चमत्कारवादी प्रयोगों से भाषा भर गई।[3] कवियों

---

१. शशि मुख पर घूंघट डाले, अंचल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आए।
बस गई एक बस्ती है, स्मृतियों की इसी हृदय में,
नक्षत्र लोक फैला है मेरे इस नील निलय में। ("आंसू")
—जयशंकर प्रसाद।

२. स्वच्छन्दवाद का द्वितीय उत्थान काल चमत्कारपूर्ण तथा आलोक मय विशेषणों का युग था। इस काल में अनेक विशेषण हिन्दी और संस्कृत शब्दों से बनाये गये और उनका विस्तृत प्रयोग हुआ। अस्तु, स्वप्न से, 'स्वप्निल' विशेषण बना। इसी प्रकार 'अवसित' अवसान से, 'हासित' हास्य से "ऐंचीला" बोलचाल के शब्द ऐंचना से, 'अतिशयता' अतिशय से, 'अलसित' और 'अलस', आलस्य से, 'इन्द्रधनुषी' इन्द्रधनुष से, 'उर्मिल' उर्म्मिल से और 'पांशुल' पांशु से विशेषण बनाया गया। 'दुराव' दुराना से भाववाचक संज्ञा बनी।
डा० श्रीकृष्णलाल; आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० १४१

३. इस प्रकार के शब्द अधिकांश संस्कृत से लिए गये अथवा अंग्रेजी शब्दों से रूपान्तरित और उनके आधार पर निर्मित किये गये। अंग्रेजी के केवल शब्द ही नहीं, कभी-कभी तो मुहावरे भी रूपान्तरित हुए, जैसे भग्न हृदय 'ब्रोकनहार्ट' का रूपान्तर है। 'रेखांकित' शब्द 'अन्डर लाइन्ड' का अनुवाद है। सुमित्रानन्दन पन्त 'ग्रन्थि' में इसका प्रयोग करते हैं :—

बाल रजनी सी अलक थी डोलती,
भ्रमित हो शशि के बदन के बीच में,
अचल रेखांकित कभी थी कर रही,
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।

"हैविनली लाइट" और "डिवाइन लाइट" का अनुवाद स्वर्गीय प्रकाश है। पन्त इसका प्रयोग करते हैं :—

की निरंकुशता बढ़ती गई और शब्दों की तोड़ मरोड़ भी बढ़ती ही चली गई। रीतिकाल के 'खसबोई' आदि शब्दों के प्रयोग पर समीक्षक नाक भौंह सिकोड़ते थे किन्तु इस काल की कविता में यति, लय, भाव, सुषमा, आदि के नाम पर भाषा के साथ बड़ा अत्याचार किया गया।[1]

अलंकारों के क्षेत्र में इस समय में नूतन उपमानों और अलंकारों की खोज इतनी जोर मार रही थी कि कोमल, प्रभाव-साम्य युक्त उपमानों को भी कवि इसलिए उपेक्षित कर देने का प्रयत्न करते थे क्योंकि वे प्राचीन परिपाटी के थे।[2] नूतनता के

(पृष्ठ १८३ का शेष)

तुझको पहना जगत देख ले, यह स्वर्गीय प्रकाश।

("पल्लव'—पृ० ५)

उसी प्रकार :

कान से मिले अजान नयन,
सहज था सजा सजीला तन।

('पल्लव'—पृ० ५)

में 'अजान' 'इन्नोसेन्ट' का रूपान्तर है।

१. कवि कभी-कभी शब्दों को काव्य-भाषा के उपयुक्त बनाने के लिये उन्हें खराद डालता है और कभी-कभी उनका अंगभंग भी कर डालता है। इस विषय में कवियों की निरंकुशता बढ़ गई, और यह यति, लय, भाव और सुषमा के नाम पर किया जाता है।

१. तुम सुर नर मुनि ईप्सित अप्सरि
२. यौवनमयि नित्य नवीन
३. नित बूड़ बूड़ रे भाविक
४. उमड़ पड़ा पावस परिप्रोत
५. हृदय मेरा तेरा आक्रीड़
६. मुक्त नभवेणी में सोभार
७. वह है वह नहीं अनिर्वच
८. पत्ते अपने सुखलाकर
९. कुसुमित सुभग सिंगार
१०. जग के ज्योतित आंगन में

—पं० रामदहिन मिश्र, 'काव्य में अप्रस्तुत योजना' पृ० ३३।

२. दृष्टिकोण के परिवर्तन के साथ ही साथ कवि ने भाषा और शैली में भी परिवर्तन कर दिया है। वह ऐसी उपमाओं और ऐसे रूपकों का व्यवहार नहीं करना चाहता जिनको सुनते ही पाठक को प्राचीनता की गन्ध आने लगे। वह पूरे जोर

इस मोह के कारण ही कविता में से प्राचीनता के साथ सहयोग तथा सामंजस्य की ध्वनि लुप्त होने लगी। भाव तो पहले ही अस्वाभाविक तथा कृत्रिम से थे। अब जब अलंकारों में भी प्रयत्न-प्रसूत नूतनता ने घर कर लिया तो कविता में से भावानुभूति दुम दबा कर भाग गई। कविता, प्राचीनों द्वारा विवेचित, स्थायीभावों को उत्तेजित करने वाली न रही, अपितु उसमें नितान्त अस्थायी भावों का, "ध्वनिप्राणता" के नाम पर नूतन प्रकार के विचित्र अलंकारों के माध्यम से चित्रण करने का प्रयत्न पाया जाने लगा।[1] आगे चलकर इसी ने प्रगतिवादी गद्यात्मक कविता को जन्म दिया। इसका विवेचन भी कर लिया जाय।

छायावादी कवियों ने नूतन उपमानों को लाने का जो प्रयत्न किया उसमें उन्हें कहाँ तक सफलता मिली तथा कहाँ तक वे प्राचीन परिपाटी से अपना पीछा छुड़ा सके यह भी हमें देखना है। विद्यावाचस्पति पंडित रामदहिन मिश्र के अनुसार इन नूतनतावादियों ने भी स्वेच्छा से नहीं तो विवशता के कारण ही सही, प्राचीन परिपाटी का ही पालन किया।[2] तात्पर्य यह है कि इन्होंने नूतनता लाने का जो प्रयत्न किया उसमें उन्हें केवल आंशिक सफलता ही मिली थी। वास्तव में अधिकांशतः प्राचीन अलंकारों का ही प्रयोग वे करते थे, किन्तु उक्ति को इतना घुमा देते थे—वक्र बना देते थे, कि अलंकारों का वास्तविक प्राचीन स्वरूप आवृत हो जाता था, और उस पर नूतनता का एक झीना आवरण सा आ जाता था, जो कि पाठक को भ्रमित करने

(पृष्ठ १८४ का शेष)

से पाठक के चित्त को झकझोर कर उस पर से पुराने संस्कार झाड़ देना चाहता हैं। यद्यपि उसकी दृष्टि में कमल का फूल और करेले का फल अपने आप में समान भाव से सत्य और सुन्दर हैं, तथापि वह अपनी प्रियतमा की आंख से कमल पुष्प को तुलनीय नहीं बनायेगा।

("आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार,' (कविता का भविष्य) डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ७०।

१, लेकिन ध्वनिप्राणता बढ़े या घटे जो बात निश्चित है वह यह है कि प्राचीनों द्वारा निर्धारित रसों की ध्वनि की संभावना क्रमशः कम होती जा रही है। ये कविताएँ किसी स्थायीभाव को नहीं बल्कि नितान्त अस्थायी मनोभावों को उत्तेजित करती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि आगे चलकर इनमें संघर्ष की, असन्तोष की और असामंजस्य की ध्वनि प्रधान होती जायगी और सहयोग की, सन्तोष की और सामंजस्य की ध्वनि क्रमशः क्षीण होती जायगी।

('हिन्दी साहित्य की भूमिका' (उपसंहार) डा० हजारीप्रसाद जो द्विवेदी, पृ० १४२)

२ 'काव्य में अप्रस्तुत योजना' वक्तव्य—"क"

के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं करता था। इस प्रकार भाव, शैली, भाषा तथा अलंकार इन सबके क्षेत्र में एक विशेष प्रकार की अराजकता सी फैल गई। कवि जो मन में आता था वही कहता था; इसका एक उदाहरण देखिये :—

इन्दु दीप से दग्ध शलभ शिशु। शुचि उलूक अब हुआ विहान,
अन्धकारमय मेरे उर में, आओ छिप जाओ अनजान। — "पन्त"

"सवेरा होने पर नक्षत्र भी छिप जाते हैं, उल्लू भी। बस इतने से साधर्म्य को लेकर कवि ने नक्षत्रों को उल्लू बना डाला है और वे साफ सुथरे ही क्यों न हों, उन्हें अंधेरे उर में छिपने के लिए आमंत्रित कर दिया गया है। पर इतने उल्लू यदि डेरा डालेंगे तो मन की दशा क्या होगी ? कवि को यदि अपने नैराश्य और अवसाद की व्यंजना करनी ही थी तो नक्षत्रों को बिना उल्लू बनाये भी काम चल सकता था।"

—पं० रामचन्द्र शुक्ल

कवियों ने नूतनता लाने के अनेक प्रयोग किये किन्तु ध्यान से देखने पर उनके मूल में प्राचीन परिपाटी-बद्ध अलंकारों के ही दर्शन हमें होंगे। हाँ, थोड़ी सी उधेड़ बुन अवश्य करनी पड़ेंगी, और फिर प्राचीन अलंकार, तथा कभी-कभी तो केवल अलंकार ही हाथ आयेंगे।[1] इस प्राचीन परम्परा का पालन प्रसाद जी ने भी किया है।

विद्रुम सीपी सम्पुट में मोती के दाने कैसे ?
है हँस न, शुक यह, चुगने को मुक्ता ऐसे।

मूंगे के समान लाल ओठों की सीपी में मोती के समान दाँत क्यों हैं ? यहाँ हंस कहाँ, यह तो शुक की चोंच है, चोंच के आकार की नासिका है।

इसमें भी हम व्यंग्य रूपक न कहकर यही कहेंगे कि विद्रुम जैसे लाल ओंठ थे और मोती जैसे उज्ज्वल दांत थे, यही वस्तु व्यंग्य है। रूपकातिशयोक्ति अलंकार तो है ही। ऐसा ही एक और उदाहरण लें :—

---

१. **कौन तुम शुभ्र किरण वसना ?**
सीखा केवल हंसना केवल हंसना—
शुभ्र किरण वसना।
मन्द मलय भर अंग गन्ध मृदु,
बादल अलकावलि कुंचित ऋजु,
तारक हार, चन्द्रमुख, मधु ऋतु
सुकृत पुंज अशना। पृ० ६२।

'दूसरा पद' पढ़ते हुये जहाँ बसन्त-रजनी खिलखिलाती हमारे सम्मुख अनन्त सौन्दर्य विकीर्ण कर देती है वहाँ पहिले पद्य में हम रूपक को ही पकड़ते रह जाते हैं।"
—यशदेव, 'पन्त का काव्य और युग' पृ० ६२।

देख रति ने मोतियों की लूट यह
मृदुल गालों पर सुमिखि के लाज से,
लाख सी दी त्वरित लगवा, बन्द कर,
अधर विद्रुम द्वार अपने कोष के। —"पन्त"

कवि की नायिका ने सरस स्वर में 'नाथ' कहा और संकुचित हो गई। इस मुद्रा से गालों पर जो आभा फूट पड़ी, वह मोती जैसी उज्ज्वल थी।[1] उपमा स्पष्ट है।

बाल रजनी सी अलक थी डोलती,
भ्रमित सी शशि के बदन के बीच में।
अचल रेखांकित कभी थी कर रही,
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।

यहां अलक के डोलने की क्रिया को 'रेखांकित' की उत्प्रेक्षा, काव्य सम्पत्ति के साथ अत्यन्त तीव्र कर रही हैं।[2] यही नहीं इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनमें कि इन कवियों ने केवल प्राचीन अलंकारों का ही चित्रण किया है।[3]

यहाँ हम छायावादी कवियों की शैली का विश्लेषण करके उसमें परिपाटी-बद्ध अलंकारों को देखने का प्रयत्न करेंगे।

वस्तुओं के रूप का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार :—

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रंग। "प्रसाद"।

(इसमें 'श्रद्धा' की रूप-ज्वाला उपमा अलंकार से और भी भभक उठी[4] है)

---

१. पं० रामदहिन मिश्र—काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० ८४।
२. वही, पृ० १६
३. पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश

में कौन सी कल्पना है, पर अनुप्रास अलंकार स्पष्ट ही है। अनलंकृत भाव भी अपनी महत्ता रखता है। प्रभावोत्पादक भी होता है। यद्यपि अलंकार को बहुत व्यापक तथा विस्तृत बना दिया गया है और उससे पिंड छुड़ाना सहज नहीं। (वही, पृ० १२)
४. वही, पृ० १४।

ओ चिन्ता की पहली रेखा अरी विश्व बन की व्याली।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्प सी मतवाली।
हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल रेखा। "प्रसाद"

(इस रूपक की अप्रस्तुत-योजना चिन्ता की प्रारम्भिक अवस्था की भीषणता का अनुभव कराने में अत्यन्त सहायक है)।

क्रिया के अनुभव को तीव्र करने में सहायक अलंकार[1] :—

उषा सुनहले तीर बरसती,
जय लक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित कालरात्रि भी,
जल में अन्तर्निहित हुई। "प्रसाद"।

पन्तजी ने तो ठेठ प्राचीन परम्परा के अलंकार 'सहोक्ति' तक का प्रयोग अपनी कविता में किया है।[2] इस प्रकार के स्पष्ट प्रयोगों के अतिरिक्त अनेक स्थानों पर कवियों ने अलंकारों को छुपाने का प्रयत्न भी किया है किन्तु विश्लेषण करने पर उसका स्वरूप निखर ही उठता है।

लक्षण रूप में रूपक सर्वथा समर्थ है :—

नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद हासिनि।
मृदु करतल पर शशि'मुख धर, नीरव अनिमिष एकाकिनि।
वह स्वप्न जड़ित नत चितवन छूलेती अग जग का मन।
श्यामल कोमल चल चितवन जो लहराती जग जीवन। —"पन्त"

इसमें चांदनी भी नारी की मनोहर मुख-मुद्रा को ही उपस्थित करती है। प्रस्तुत चांदनी तो नीले आकाश पर बैठी रह गई है। रूपक चांदनी का सहायक तो होता है पर करतल, चितवन आदि उसको दबा बैठते हैं।[3]

कभी-कभी तो कवियों ने केवल अलंकार के लिये ही उक्ति की है[4] उसमें

---

१. वही, पृ० १५।

२.
निज पलक, मेरी विकलता साथ ही,
अवनि से उर से मृगेक्षिणी ने उठा,
एक पल निज स्नेह श्यामल दृष्टि से,
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी सीप सी। 'ग्रन्थि'।

३. वही, पृ० १०६।

४. कभी-कभी कवि सादृश्य लाने में अप्रस्तुत-योजना में समानता की उपेक्षा कर देते हैं जिससे रसानुभूति में व्याघात पहुँचता है :—

आकार साम्य के अतिरिक्त अन्य कोई भी भाव दिखाई नहीं देता। रीतिकालीन कवियों जैसी अलंकारप्रियता का नाम आते ही ये कवि भड़क उठेंगे किन्तु "विवशतावश" इन्होंने भी इस प्रकार के चित्रण किये है।

स्मरण एवं माला रूपक के उदाहरण देखिये :—

स्मरण

देखता हूँ जब पतला इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूंघट बादल का खोलती है कुमुद कला
तुम्हारे मुख का ही तो ध्यान मुझें तब करता अन्तर्धान।[१] —"पन्त"

मालारूपक

ओ चिन्ता की पहली रेखा, अरी विश्व बन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्प सी मतवाली।[२] —"प्रसाद"

प्रसाद जी ने प्राचीन उपमानों का ठीक प्राचीन रूप में प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में किया है :—

मणि वाले फणियों का मुख,
क्यों भरा हुआ हीरों से।
विद्रुम सीपी सम्पुट में,
मोती के दाने कैसे?
है हंस न, शुक यह, फिर क्यों,
चुगने को मुक्ता ऐसे ॥[3]

कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि छायावादी युग के सब उपमान पुराने थे, या इस काल के कवियों ने केवल प्राचीन अलंकारों का ही प्रयोग किया था। पाश्चात्य-

---

(पृष्ठ १८८ का शेष)
अचानक यह स्याही की बूंद लेखिनी से गिरकर सुकुमार।
गोल तारा सा नभ से कद सजनि आया है मेरे पास॥—"पन्त"
गोलाई का सादृश्य रहने पर भी तारा और बूंद की समता कैसी? नभ से कूद कर आया है तो उसका प्रायः वही आकार प्रकार होना चाहिये।
(वही, पृ० १६५)

१. वही, पृ० ४६४।
२. वही, पृ०४६८।
३. जयशंकर प्रसाद—"आँसू"।

साहित्य के प्रभाव से कुछ नये सुन्दर अलंकारों का प्रयोग भी इस काल में हुआ किन्तु उनकी संख्या, जैसा अधिकतर समझा जाता है, बहुत अधिक नहीं है। कभी कभीतो किसी शैली विशेष को अलंकार का नाम दे दिया जाता था और उसका श्रेय कवि लेने लगते थे। जैसे, मानवीकरण को लीजिये। इस काल में मानवीकरण अलंकार माना जाने लगा था और यह हुआ पश्चिम के प्रभाव से। वास्तव में रीतिकाल में भी मानवीकरण की परिपाटी प्रचलित थी किन्तु उसे उस समय अलंकारों में स्थान नहीं दिया जाता था।[1] हमारे कविगण अपना प्राचीन साहित्य तो पढ़ते नहीं थे फिर उन्हें क्या पता कि रीतिकाल में भी "मानवीकरण" प्रचलित था। उन्होंने तो बस पाश्चात्य-साहित्य में कहीं मानवीकरण पढ़ लिया और उसका धुंआधार प्रयोग आरम्भ कर दिया, तथा उसे अपना खोजा हुआ नूतन अलंकार मान लिया।

दूसरी ओर वे कवि हैं जिन्होंने अपने को प्राचीन परिपाटी से पूर्णरूपेण विमुख नहीं कर लिया था। उन कवियो में तो हम प्राचीन उपमानों, अलंकारों तथा

---

१. मानवीकरण हिन्दी के लिये नया नहीं है। रीतिकाल में भी हमें बहुधा इस अलंकार के दर्शन हो जाते हैं, जैसे देव कवि लिखते हैं :—

ऐसो हों जो जानत्यों कि जैहै तू विषै के संग,
ऐ रे मन मेरे हाथ पांव तेरे तोर तो।

अथवा

जोरत तोरत प्रीत तुही, अब तेरी अनीत तुही सहि रे मन।

और पद्माकर अपने "पातक" को ललकारते हैं :—

जैसे तें न मौसों कहूं नेक हू डरात हतो,
तैसे अब हौं हूँ तोहि नेक हू न डरिहौं।
कहै पद्माकर प्रचंड जो परैगो तो,
उमड़ करि तोसों भुजदण्ड ठोंकि लरिहौं।
चलो चलु, चलो चलु, बिचलुन बीच ही तें,
कीच बीच नीच ! तो कुटुम्ब को कचरिहौं।
ऐरे दगादार, मेरें पातक अपार तोहि,
गंगा की कछार में पछार छार करिहौं।

परन्तु रीतिकाल में मानवीकरण कोई अलंकार नहीं समझा जाता था। आधुनिक काल में पश्चिम के प्रभाव से मानवीकरण एक प्रधान अलंकार समझा जाने लगा और इसके फलस्वरूप इसका प्रयोग भी बहुत बढ़ गया।

—डा० श्रीकृष्णलाल-'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास,' पृ० १४३

मान्यताओं का पूर्णरूपेण प्रयोग पाते हैं।[1] **अलंकारों के क्षेत्र में प्राचीनता का परिपालन मात्र ही रीतिकालीन प्रभाव को सिद्ध नही कर देता, इस कारण साम्य रहते हुये भी हम इन कवियों पर कोई विशेष रीतिकालीन प्रभाव नही मानते।**

अतः छायावादी युग की कविता के भावपक्ष के शृंगार पर हमें कुछ रीतिकालीन प्रभाव के संकेत मिलते हैं और कलापक्ष में रीति (अपनी विशेष) के जड़ परिपालन का साम्य उनमें पाया जाता है। इतना सब विवेचन कर चुकने के बाद, (छायावादी कविता के वास्तविक स्वरूप के उद्घाटन की आवश्यकता जिसमें पड़ी थी), हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि **यद्यपि रीतिकालीन कविता का प्रभाव छायावादी कविता पर कम, तथा एक क्षेत्रीय ही है, परन्तु फिर भी दोनों में साम्य पर्याप्त मात्रा में है, तथा छायावादी कविता उतनी नूतनता लिये हुये नहीं हैं जितना कि उसके समर्थक कहते थे। उसकी अधिकांश नूतनता किसी न किसी से उधार मांगी हुई है।**

प्रगतिवादी युग—छायावादी युग में कवियों की रुचि आध्यात्म की ओर उन्मुख कही जाती थी। हमने देखा कि वह आध्यात्म बहुधा प्रच्छन्न शृंगार ही हुआ करता था। इतना होने पर भी आध्यात्म का नाम तो चला ही आरहा था। धीरे-धीरे साम्यवाद समाजवाद आदि का प्रचार देश (और साहित्य) में हुआ और प्राचीन रीति, संस्कृति तथा धर्म की भावनाओं के प्रति जो उपेक्षा की भावना पहले से ही उपस्थित थी वह विदेशी प्रभाव से कुछ लोगों में तीव्र घृणा में परवर्तित होने लगी। रूसी प्रभाव से

---

१. भाव मानों मूर्तिमान हो उठा था छन्द में,
विविध विभाव उसे दीप्त किये जाते थे।
पुर में प्रविष्ट वह तुष्ट हुआ देख के-
आदर अकृत्रिम विशिष्ट वहां अपना।
दोनों ओर अट्टों से प्रसून वृष्टि होती थी।
—'मै० श० गुप्त "सिद्धराज"—पंचम सर्ग, पृ० १२२।

तथा

गति दी मराल सी मराल-वाहिनी ने उसे,
सुयश प्रदान किया रति के अचंभा ने।
अपनी गोलाई, चिकनाई को गोराई संग,
दे दी जघनों को कदली के मंजु खंभा ने।
कामद कला दी कल्प पादप ने बाहुओं को,
कटि दी अदम्भवन-सिंहिनी सदंभा ने।
सत्य ही, शची ने दिया सुभग सोहाग उसे,
रूप रमणीयता दी सचमुच रंभा ने। १३।
—अनूप शर्मा, 'ताजमहल'—पृ० ३६।

कम्युनिस्टों ने साहित्य में घुस-पेंठ (इनफिल्ट्रेट) करना आरम्भ कर दिया, और जो 'प्रगतिशील लेखक संघ' स्वस्थ प्रगति के लिये बना था, उस पर उन्होंने मौका पाकर, अधिकार कर लिया। अन्य 'वादों' का इतना शीघ्र प्रसार क्यों नहीं हुआ इसके दो कारण थे। प्रथम तो अन्य राजनीतिक वादों का किसी देश-विशेष की संस्कृति से विरोध नही था और न वे साम्यवाद के समान किसी भी देश-विशेष (रूस)* के सांस्कृतिक, राजनीतिक, तथा आर्थिक दास ही थे; फलतः एक ओर तो साम्यवाद के अतिरिक्त अन्य वादों ने साहित्य में घुसने का प्रयास कम किया, दूसरी ओर रूसी "टैकनीक" में दक्ष साम्यवादियों ने अपने "आकाओं" के आदेश पर भारतीय संस्कृति के विनाश का प्रयत्न किया[1] तथा रूसी साम्यवाद का प्रचार आरम्भ कर दिया। किसी भी देश पर अधिकार करने की सबसे बड़ी तरकीब उसके सांस्कृतिक आधार को छिन्न-भिन्न कर देना है, यह बात रूसी साम्राज्यवादियों ने भलीभांति समझ रखी थी, इसलिये उन्होंने अपने "सांस्कृतिक एजेन्टों" द्वारा साहित्य एवं कविता को हड़पना आरम्भ कर दिया। दूसरा कारण दैवी था। सन् ३७ या ३८ से जो साम्यवादी प्रचार का प्रयत्न किया जा रहा था उसको खुलकर खेलने का अवसर द्वितीय महायुद्ध के समय में मिल गया। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ में हिटलर और स्टेलिन एक थे और इसी कारण सन् १६४१ के मध्य तक साम्यवादी, अंग्रेजों के युद्ध प्रयत्नों का (उसे साम्राज्यवादियों का युद्ध कहकर) विरोध करने के लिये, सशस्त्र क्रान्ति का प्रचार करते थे। सन् १६४२ में अचानक रूस और ब्रिटेन की सन्धि हो गई और तत्काल साम्यवादियों के लिए द्वितीय महायुद्ध 'लोकयुद्ध' बन गया। उसके बाद अंग्रेजी-सरकार की सहायता से वे खुल खेले, और चूंकि अधिकांश राष्ट्रीय-भावना वाले स्वतन्त्र विचारक या तो जेलों में बन्द थे या उन्हें अभिव्यक्ति का अवकाश न था, इस कारण, सरकारी मदद** से लाभ उठाकर साम्यवादी-साम्राज्यवादियों ने साहित्य पर कुछ दिनों के लिये एकाधिकार सा ही स्थापित कर लिया। फिर क्रमशः उन्होंने प्रगतिवाद को "साम्यवाद" अथवा मार्क्सवाद का पर्याय ही बना कर छोड़ा। यह अवस्था, जिसके दो मुख्य लक्षण थे—'रूस परस्ती' तथा 'स्वदेश विरोध'—लगभग १६५० तक रही। वैसे स्वतन्त्रता के बाद से साम्यवादियों का प्रभाव कम होता गया और स्टालिन के पतन के बाद से तो (स्टालिन को देवता समान पूजने वाले) साम्यवादियों का साहित्य पर से प्रभाव कम ही होता गया। धीरे-धीरे स्वतन्त्र-भावना

---

१. 'हमारे लिये आवश्यक हो गया है कि राह रोकने वाली अपनी संस्कृति, धर्म और अधिकृत परम्परा को सदा सर्वदा के लिये भूल जायँ।' ('हिमालय'-मार्च १६४६)
श्री जानकी वल्लभ शास्त्री, 'स्थायी भाव और सामयिक साहित्य'-पृष्ठ ३७।

*आज तो एक वर्ग (वामपक्षी साम्यवादियों) ने शत्रु-देश चीन की दासता स्वीकार की है।

**तथा पाकिस्तान की मांग का ('हक्के-खुद-इरादियत' या right of self determination) समर्थन करके अधिकांश मुसलमानों की मदद से

वाले साहित्यकारों ने फिर से साहित्य को उसका अपना स्वरूप देने का प्रयत्न किया किन्तु फिर भी अंग्रेजी सरकार के युद्ध—प्रयत्नों में योग देने वाले, अनेक साम्यवादी रेडियो जैसी सार्वजनिक संस्थाओं में घुस पड़े थे और वे किसी न किसी बहाने साम्यवाद के प्रचार का प्रयत्न करते ही रहते थे। "कुनबा परस्ती" का जो "जोम" साम्यवादी साहित्यकारों में पाया जाता है वह अन्य किसी भी वर्ग के स्वतन्त्र साहित्यकारों में नही है।[1] उसका कारण भी स्पष्ट है। साम्यवादी अपने "वाद" के लिये, एक राजनीतिक उद्देश्य से लिखते हैं और जो कोई भी उनके वाद का समर्थक है उसके "कूड़े" को भी उच्चकोटि का साहित्य कहने में नहीं हिचकते, तथा जो उसका समर्थक नहीं है, उसको वे 'प्रगतिशील' नहीं मानते और जो 'प्रगतिशील' नहीं है अर्थात् 'मार्क्सवादी' नही है[2] —उसे वे साहित्यकार भी नहीं मानते।

इस "प्रगतिवादी" युग में भी स्वतन्त्र साहित्य का सृजन हो रहा था किन्तु अवसर से लाभ उठाने वाले पन्त जैसे हिन्दी के श्रेष्ठ कवि भी 'साम्यवादी' हो गये थे।[3] (अब पन्त जी अवसरानुसार साम्यवाद को छोड़ चुके हैं, और दैव कोप से महाप्राण निराला जी वेचारे अर्धविक्षिप्त सी अवस्था में ही दिवंगत हो चुके हैं)

---

१. प्रगतिवादी अपने संगठन के विश्वस्त मेम्बरों की तो कभी आलोचना नहीं करते और यदि करते भी हैं तो उनके मुंह में पहले माखन-मिश्री देकर, और अपनी जुबान भी नरम और मीठी करके, यह मृदुता उपाहास्पद रूप तक ग्रहण कर लेती है।

आजकल प्रगतिवादियों ने माओत्सेतुंग का लेख पढ़ लिया है और अब वे पहले से भी अधिक छिछलेपन से (जितना उन्होंने लक्ष्मण-लकीर खींचकर दिखलाया था) नरेन्द्र शर्मा आदि दूसरे लेखकों को बुला रहे हैं, वे भी कोरिया या चीन के लिए दो तुक भिड़ाकर इनको कृतार्थ कर देते हैं, यह साफ तौर पर एक गलत तरीका है।

(यशदेव—'पन्त का काव्य और युग', पृ० १९२)

तथा

जो श्री रामविलास जी लिखते हैं उसी को प्रकाशचन्द्र जी दुहराते हैं और वही प्रगतिवादी कवियों के छन्दों में बजने लगता है।

(वही, पृ० १९३)

२. साम्यवाद को अपनाने की क्रिया को वे 'प्रगतिशील' की संज्ञा देते हैं। और अपने को स्वयं प्रगतिशील घोषित कर उसी सीमा के अनुरूप साहित्य की सृष्टि करते हैं।

(शिवचन्द्र—'प्रगतिवाद की रूपरेखा'—पृ० ५ तथा ६)

३. यों "नवीन" भगवती चरण वर्मा आदि की रचनाओं में रूढ़िवादिता के प्रति प्रबल विरोध का स्वर 'छायावाद-युग' में भी सुन पड़ता था पर उसको आन्दोलन

इन स्वतंत्र विचारधारा वाले कवियों की कविता का विवेचन भी साथ ही साथ हो जायगा। ध्यान देने की बात यह है कि द्वितीय महायुद्ध के काल में अपनी कविता को छपवाने के लिये, और सरकारी क्रोध से बचने के लिये, स्वतन्त्र कवि भी अपने विचारों को पूर्ण स्वतन्त्रता से अभिव्यक्त नहीं करते थे। जिन्होंने ऐसा किया उन्होंने अपने को सीखचों के पीछे पाया। इसी कारण हमने इस समय को 'प्रगतिवादी' नाम से पुकारा है। कुछ लोगों के द्वारा 'प्रगतिवाद' का (जिसने हमें मास्को-स्टालिन-लेनिनग्राड की पूजा करने के लिये बाध्य करने का प्रयत्न किया, और अंग्रेजी सरकार से मिलकर देश के साथ द्रोह किया था[१]) विरोध भी किया गया किन्तु सरकारी समर्थन होने के कारण युद्ध काल में यह खूब फला और फूला[२]।

स्पष्ट है कि इनका यह प्रगतिवाद रूस की पूजा से आरम्भ होता था और देहद्रोह पर आकर समाप्त होता था। गिरिजाकुमार माथुर ने "स्टालिनग्राड" की प्रशंसा में गीत गाये[३] क्योंकि रूस को वे अपनी 'मातृभूमि' ही नहीं "फादरलैंड" तक मानते थे, और इसीलिए उसकी प्रशंसा के गीत गाते थे।[४] प्रभाकर माचवे महाराज ने तो रूसी-भाषा का शीर्षक "दा ज्द्रास्त्व्युते सोवियत्सकी सोयूज" (सोवियत यूनियन जिन्दाबाद)[५] देकर अपने आश्रयदाता-रूस का भाटों समान गुणगान आरम्भ कर दिया था। रीतिकाल के कवि पद्माकर आदि ने भी अपने आश्रय-दाताओं का इतना गुणगान नहीं किया होगा जितना कि साम्यवादियों ने रूस

(पृष्ठ १९३ का शेष)

का स्वरूप तब प्राप्त हुआ जब सुमित्रानन्दन पन्त ने काला कांकर से "रूपाभ" नामक मासिक पत्र प्रकाशित किया। उस समय 'पन्त' मार्क्सवाद से अत्यधिक प्रभावित थे। अतएव उनकी कवितायें मन की बहिर्मुखता को चित्रित करने लगीं। 'रूपाभ' में उनके साथ भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा और निराला भी मार्क्सवादी विचार धारा का समर्थन करने लगे। ('दृष्टिकोण'-डा० विनय-मोहन शर्मा 'साहित्य में प्रगतिवाद', पृ० ४३।)

१. जैसा कि पीछे कहा जा चुका है साम्यवादियों ने पाकिस्तान बनाने में 'मुस्लिम लीग' की सहायता भी की थी, "हक्के खुद इरादियत" के नाम पर।
२. साहित्य के क्षेत्र में हम न तो गोयबेल्स की सत्ता मानने को तैयार हैं, जो हमसे नाजीवाद का समर्थन लिखवाये और न किसी स्तालिन की ही, जो हमें साम्यवाद से तटस्थ रहकर फूलने फलने नहीं दे सकता।
   'दिनकर' (उदयपुर कवि सम्मेलन में दिया गया अभिभाषण)
   'हमारा प्रगतिशील साहित्य' (दिनकर और प्रगतिवाद) पृ० २५२।
३. गिरिजाकुमार माथुर की प्रशंसा में लिखा गया डा० रामविलास शर्मा का लेख, 'हंस' मई १९४७।
४. 'हंस'-मार्च १९४३।
५. 'हंस'-अक्टूबर १९४२।

का किया । १९४२ की जनक्रान्ति के वीरों की प्रशस्ति के स्थान पर ये लोग "व्योम में प्रशस्त जा रहा सगर्व सैन्य लाल[1]" लिखा करते थे और अंग्रेजों के समर्थक, रूस के युद्ध को लोकयुद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न करते थे ।[2] किसी वाद विशेष की रीति और रूढ़ि का इतना दासानुदास समान अनुगमन रीतिकाल ही में क्या किसी भी काल में (किसी भी साहित्य में) नहीं मिलेगा ।

इनका यह रूस-दासत्व यहीं तक नहीं रुका, इन्होंने आगे चलकर देश के गण्यमान्य तथा पूज्य नेताओं को गाली देना आरम्भ कर दिया । "अशोक" (डा० रामविलास शर्मा का उपनाम) ने नेताजी बोस को गद्दार कहा, क्योंकि वे रूस का विरोध कर रहे थे ।[3] उनके अन्य साथियों ने गान्धी जी को पूंजीपतियों का समर्थक कहा[4] तथा नेहरूजी को अमरीका का "एजेन्ट" बताया ।[5] यह तो रही राजनीतिक नेताओं के अपमान की बात । साम्यवादियों ने तिरंगे झण्डे का भी अपमान किया और उसे "फिरंगियों के फैल" का साधन बताया ।[6] सांस्कृतिक क्षेत्र में उन्होंने महर्षि अरविन्द को घृणित "जंगबाज अरविन्द"* के नाम से पुकारा ।[7] इसी प्रचार-भावना की दास हो जाने के कारण इस काल की अधिकाँश कविता, कविता न रही, क्योंकि वादग्रस्त कविता काव्याभास मात्र रह जाती है ।[8] ये लोग केवल साम्यवादी कविता ही नहीं करते थे अपितु इन्होंने आलोचना को भी मार्क्सवाद के साँचे में

---

१. 'हंस' अगस्त १९४३ ।
२. 'हंस' अगस्त १९४३, पृ० ८३३ ।
३. 'हंस' मार्च । अप्रेल १९४४, पृ० ४६३, देखिये :—

जो कम्बख्ती का मारा हो,
किस्मत से अपनी हारा हो,
आये इस झन्डे के नीचे,
जापानी डन्डे के पीछे,
हम लम्बरदारों का नेता,
गद्दार बोस सेनानी है।
बाहर से हिन्दुस्तानी है,
पर अक्ल वही जापानी है।

४. 'हंस' सितम्बर १९४५, 'यात्री' की कविता ।
५. अनिरुद्ध की कविता 'हंस', मई १९४६ ।
६. "वतन की आग" वीरेश्वरसिंह की कविता 'हंस' फरवरी-मार्च १९४६ ।

*आगे चलकर पन्त जी ने अरविन्द-दर्शन के माध्यम से ही अपनी पटरी बदली ।

७. 'हंस' अक्टूबर १९५० पृ० १६ ।
८. सच्ची कविता किसी 'वाद' को लेकर नहीं चलती, जगत की अभिव्यक्ति को लेकर ही चलती है । वादग्रस्त काव्य अधिकतर काव्याभास ही होता है । ("चिन्तामणि," दूसरा भाग, 'काव्य में रहस्यवाद,'—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७३)

ढालने का प्रयत्न किया[1] और इस प्रकार काव्यशास्त्र पर भी अपनी रूढ़ि को मढ़ने का प्रयत्न किया, तथा यह कहना आरम्भ कर दिया कि "प्रगतिशील" समीक्षक वही है जो मार्क्सवादी है, तथा जो भी अन्य वादों का अनुगामी है अथवा तिरंगे झन्डे के नीचे रहने का प्रयत्न करता है, वह पूंजीवादियों का प्रतिनिधि है।[2] 'साम्यवाद' वर्ग-युद्ध पर आधारित है इसलिए इन्होंने भारतीय समाज ही नहीं, साहित्य को भी वर्गों में बांटने का प्रयत्न किया और रूस-परस्ती को दलित-वर्ग, शोषित-वर्ग के हित का नाम दे दिया। इस क्लास (वर्ग) के चक्कर में पड़कर कविता वर्ग-संघर्ष का प्रोपेगेन्डा मात्र सी रह गई,[3] भावाभिव्यक्ति उसमें कम ही होती गई। एक और मनोरंजक बात ये लोग कहते थे। वे मार्क्सवाद के अतिरिक्त अन्य सब आधुनिक मान्यताओं को अगतिशील तथा पुराना मानते थे और मार्क्सवाद को जो कि अनेक आधुनिक वादों से भी पुराना पड़ गया है सर्वथा प्रगतिशील और उर्वशी-समान अक्षत-यौवन वाला मानते थे, मानो मार्क्सवाद कभी पुराना हो ही नहीं सकता,[4] अथवा मार्क्सवाद प्रत्येक काल तथा देश के लिए सर्वथा सत्य रहने वाला कोई शाश्वत एवं अलौकिक तथ्य है। रीतिकाल और मार्क्सवाद का तो कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। हां, मार्क्सवादियों में रूढ़ि प्रतिपालन की-साँचे में बंध जाने की-विशेषता रीतिकालीन कवियों से भी अधिक पायी जाती है। इसके अतिरिक्त साहित्य

---

१. 'आलोचना का मार्क्सवादी आधार'-अमृतराय, 'हंस' अप्रैल १९४५।

२. वही, पृ० ३६३।

३. प्रगति आन्दोलन के नेताओं ने हरदम क्लास, वर्ग और श्रेणी का नाम लेकर भी अपना वक्तव्य धूमिल बना दिया है। वे ऐसी बहुत सी बातें कहते हैं जो वर्ग भावना के बिना भी समझाई जा सकती थीं। परन्तु उनका उद्देश्य उस बात को समझाना शायद कम होता है और वर्ग-संघर्ष की भावना को परिचित बनाना अधिक।

('आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार', डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी; साहित्य का नया रास्ता; पृ० ४५)

४. यदि संसार की कोई वस्तु स्थितिशील नहीं है, सभी परिवर्तनशील हैं तो ऊपर लिखे हुए प्रगतिसूत्र ही क्यों स्थिर होंगे। मार्क्स का तत्वज्ञान भी तो कोई स्थिर और शाश्वत वस्तु नहीं है। यदि इतनी सी बात हमारे तरुण साहित्यकार याद रखें तो उनकी रचनाएँ अधिक गम्भीर, अधिक उत्तरदायित्व पूर्ण और अधिक प्रभावोत्पादक होंगी।

वहीं, पृ० ५०।

शरीर के मार्क्सवाद रूपी फोड़े में से फूट निकलने वाले 'वास्तववाद[१],' या कहिये 'यथार्थवाद,' में जो घोर-शृंगारी भावनाएँ आगे चलकर दिखाई थीं, उन पर कहीं-कहीं प्राचीन शृंगार की छाप सी लगी दिखाई देती है। इस 'यथार्थवाद'* का कथित उद्देश्य तो जीवन का यथातथ्य चित्रण ही था किन्तु अधिकाँश कवियों ने उसे या तो अपने मत या वाद के प्रचार का साधन बना लिया था या वे इसके माध्यम से अपने मन की कुत्सित शृंगारी-भावनाओं को अभिव्यक्त करते थे। इस प्रकार निश्चित लक्ष्य की पूर्ति, तथा वक्र-दृष्टि से देखे गये शृंगार की अति, हो जाने के कारण इन कवियों का यथार्थ भी 'कृत्रिमता' में पर्यवसित हो गया था।[२] धीरे-धीरे इसी यथार्थवाद में से 'मांसलवाद' निकल पड़ा जो कि शुद्ध वासनात्मक शृंगार का ही दूसरा नाम है। कारण यह है कि इस युग के साहित्यकार 'फ्राइड' तथा 'मार्क्स' से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण[३] उनके तर्कों तथा विचारों के अनुसार ही चित्रण करने का प्रयत्न करते थे, और जान बूझकर, गुबरीले के समान, समाज में से गन्दगी खोज-खोज कर उसे अश्लील रूप में पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न करते थे।[४] मज़दूरनी के चित्रण

---

१. इस विचार-धारा का एक रूप नग्न 'वास्तववाद' था। "रूपाभ" की फरवरी १९३९ की संख्या में, निराला की 'चमेली' का जों अंश प्रकाशित हुआ है, उसमें इसी प्रकार के 'वास्तववाद' के दर्शन होते हैं। पर्दे की ओट में समाज का रूप कितना वीभत्स, कितना अशोभन होता है वह उसमें उभार उभार कर खींचा गया है। "दृष्टिकोण" साहित्य में प्रगतिबाद—डा० विनयमोहन शर्मा, पृ० ४३।
*हमारा तात्पर्य यथार्थ-'वादी' कविता से है; कविता में चित्रित यथार्थ से नहीं है।

२. उनका करुणा-कोना सिक्त नहीं है। पर कारुणिक वातावरण उपस्थित करने के लिये अपनी वाणियाँ अवश्य गूंथते हैं। यथार्थता के प्रचार पर जोर देते हैं, किन्तु स्वयं इतनी 'कृत्रिमता' में विचरते हैं कि यथार्थता का ज्ञान नहीं रखते।
—'शिवचन्द्र' प्रगतिवाद की रूपरेखा, पृ० ५ तथा ६।

३. इस युग के मनुष्य की विचारधारा मुख्यतः दो यूरोपियन आचार्यों से बहुत दूर तक प्रभावित हैं। ये हैं, मार्क्स और फ्रायड।
('हिन्दी साहित्य की भूमिका,' उपसंहार, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १४०)

४. कवि महानगरी की सड़कों पर घूमता हुआ उसकी अट्टालिकाओं में बैठी हुई प्रतीक्षण-परायणा नवोढ़ा या पार्कों में उद्विग्न भाव से टहलते हुये प्रेमी को नहीं देखता, बल्कि गन्दी नालियों और कुष्ठ जर्जर पीपवाही शव-कल्प शरीरों को देखता है। सिद्धान्ततः उसकी दृष्टि में नवोढ़ा या उद्विग्न प्रेमी अपने आप में जितने सत्य हैं, उतने ही सत्य गन्दी नालियां और दुर्गन्धित शरीर भी हैं। परन्तु दूसरे का उल्लेख वह झकझोर देने के लिये और अपने नवीन विचारों को पूरे

में इन कवियों का ध्यान उसके श्रम-बिन्दुओं पर न जाकर उसके अधखुले वक्ष पर जाता था[1] और इस प्रकार शोषित वर्ग के मन की कुन्ठाओं को तथा उनके दुखों को चित्रित करने के स्थान पर ये उनके स्थूल बाह्य का चित्रण करके[2] अपनी वासनावृत्ति को ही तृप्त करते थे । इसी से एक प्रकार के साहित्यिक नग्नवाद (Literary nudism)[3] का जन्म हुआ जिसमें कवि गन्दी से गन्दी बातें कहने में गर्व का अनुभव करते थे । अंचल जी द्वारा अंकित यह चित्र देखिये :—

अपराध यही था जब मैकू कलवरिया से उन्मत्त पिये,
कुछ रात गये घर में आते ही बुझा तेल के मन्द दिये
बोला, सुन री ! जल्दी तो आ, है ताब नहीं मुझको दो पल !
था नवाँ महीना काँप उठी, मैकू के पशु बल से विह्वल ।
मैकू ने झपट गिरा उसको ज्यों ही कुछ करने की ठानी
फड़फड़ा निकल नीचे से वह आई बाहर भय से पानी
मैं मौन पड़ा छत के ऊपर ।
फिर सुनता रहा बराबर मैकू की वाणी की रौरवता,
जीवन के गन्दे स्रोतों की दुर्गन्धि भरी उच्छृंखलता,
आपे से बाहर हो मैकू मारे ही जाता था बढ़-बढ़,
बेहोश पड़ी थी वह नारी, मैकू फिर गया पेट पर चढ़,
इस रौंद रौंद में टूट गई बेहोशी, वह यों चिल्लाई---
जैसे यन्त्रणाग्रस्त पागल कुत्ते की मौत निकट आई,
तब मैकू का कुछ नशा घटा, वह चला गया घर से बाहर,
रह गई अकेली वह, आधा शिशु बाहर था आधा अन्दर ।
मैं मौन पड़ा छत के ऊपर
अब सुस्त पड़ी वे चीत्कारें पर प्रसव वेदना तो जारी.........
'हंस' जनवरी १९४२, पृ० ४१५ ।

इन चित्रों में यथार्थ का वर्णन है—माना, किन्तु क्या बिना गन्दगी के यथार्थ का चित्रण हो ही नहीं सकता । नारी में, पति की **कामतृप्ति की नाली** खोजे बिना[4]

(पृष्ठ १९७ का शेष)

जोर से हृदयंगम कराने के उद्देश्य से ही करता है । ('हिन्दी साहित्य की भूमिका' उपसंहार, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १३९, प्रथम संस्करण, फरवरी १९४० ।)

१. सर से आंचल खिसका है धूल भरा जूड़ा,
अधखुला वक्ष, ढोती तुम सिर पर धरे कूड़ा,
पन्त 'ग्राम्या', 'ग्रामनारी पृ० २०-२१ ।

२. पन्त की 'ग्रामयुवती' ।

३. 'दृष्टिकोण साहित्य' में प्रगतिवाद, पृ० ४४, डा० विनयमोहन शर्मा ।

४. रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'—किरण बेला, तीन चित्र, पृ० १२५ ।

भी नारी की स्वतन्त्रता का आन्दोलन किया जा सकता है, किन्तु घोर श्रृंगारी, कभी-कभी वीभत्स भावनाएँ खोजने में ही इन कवियों को अपनी कविता की सार्थकता दिखाई देती थी । इस यथार्थ की जड़ में इनकी अतृप्त वासना ही थी इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इन्होंने पशुओं तक में केवल भोगवृत्ति के ही दर्शन किये और यथार्थ के नाम पर अनेक बेतुकी कविताएँ लिख मारी[1] । इन्होंने कहीं-कहीं तो प्राचीन परिस्थितियों की कल्पना करके शुद्ध श्रृंगारी-चित्रण भी किये हैं :—

पास में मोटा सा लट्ठ लिये एक युवक
भैंस की पीठ पर कुहनी टिकाये हुए
... ...
देखते ही देखते चिकौटी काटी उसने

---

१. प्रगतिवादी कहलाने वाले कवि नरेन्द्र की 'फागुन की आधीरात' शीर्षक एक बेतुकी रचना है ।

है रंभा रही बछड़े से बिछुड़ी एक गाय,
थन भारी हैं, दुखते भी है ।
आता गजनेरी साँड मटकता सड़कों पर चलता पठार,
क्या वही दर्द उसके भी है ?
जा रही किसी घर के जूठे बर्तन मलकर,
बदचलन कहारी थकी हुई,
चौका-बरतन, सैना-बैनी में बिता चुकी यौवन के दिन,
काटनी उसे पर उसर अभी तो पकी हुई ।
('दृष्टिकोण'—साहित्य में प्रगतिवाद, डा० विनयमोहन शर्मा, पृ० ४६')

तथा

मैं प्यार उसे करता हूँ ।
जात की कहारिन वह
मेरे घर की पनहारिन वह,
आती है होते तड़का
उसके पीछे मैं मरता हूँ ।
कोयल सी काली,
चाल नहीं उसकी मतवाली,
ब्याह नहीं हुआ, तभी भड़का
दिल मेरा, मैं आहें भरता हूँ ।
निराला-'बम्हन लड़के का प्रेम-संगीत' ।

छातियाँ मसल दीं, और··· ··· ··· ···।

(मंगला मोहन—नई धारा, 'हंस', अक्तूबर, १९४१, पृ० ६५)

और कहीं-कहीं नूतन परिस्थितियों की विचित्रसी कल्पना करके, यथार्थ के बहाने, वक्र-दृष्टि (Crooked) से देखे गये नखशिख तथा शारीरिक 'मांसलता' का चित्रण किया है जिसमें घिनोनी अश्लीलता का अंश ही अधिक पाया जाता है। निराला जी की 'खजोहरा' कविता इस दृष्टि से बहुत प्रसिद्ध है :—

पैंठी ताल में बुआ जैसे हथनी,
मारे डर के कांपने लगा पानी ।
लहरें भगीं चढ़ने को किनारे पर,
रेला पानी बुआ ने जब बाहों में भर ।
नींव के खम्भों से पैर, कीच में थे,
जांघ से छाती तक अंग, बीच में थे—
पानी के, बुआ को याद आये वे दिन,
*लड़कियों को गाढ़ती थीं जब गिन गिन
··· ··· ···
डाल पर बड़ा सा था खजोहरा ।
··· ··· ···
बुआ के कन्धे पर वहां से आ गिरा,
··· ··· ····
रोऐं गढ़े कन्धे पर , हथेली में,
आये फिर कुछ बांह में, कुछ पानी में ।
जहां जहां गढ़े जोर की खुजली—
उठी, बुआ ताल के बाहर निकलीं ।
निकलते, कुल अंगों में पानी के साथ—
फैली, खुजलाने लगीं वे दोनों हाथ ।
एक छन में जलन सौगुनी बढ़ी,
बुआ अंगारों में जैसे हों खड़ी ।
धोती बदलनी थी, पर बदल न सकीं ।
मात नील गाय को देती ज्यों भगीं ।
··· ··· ···
पूछा, अरी बिट्टो,[1] तुम्हें क्या हुआ ?
कहा बिट्टो ने, मुआ खजोहरा ।
नहाते नहाते मुझे लग गया ।

---

*बुआ विधवा हैं ।

१. बुआ का घर का नाम ।

घी ले ग्राई ग्रम्मा, पूछा कहाँ लगा,
बची नहीं, बोली बिट्टो कोई जगह। ग्रादि।
... ...

("हंस" ग्रगस्त १६४१)

वास्तव में, इन सब चित्रों के मूल में है वही शृंगारी भावना, जो कि ग्रादिम काल से मानव को प्रेरित करती चली ग्रा रही है। हाँ, वादों के ग्रावरण तथा प्रचार के पाखंड के कारण, वास्तविकता छिप सी गई है तथा उसमें ग्रनावश्यक ग्रश्लीलता का समावेश हो गया है। ग्रब हम इस काल की शृंगारी-भावना का किंचित विवेचन करेंगे।

रीतिकालीन शृंगार-पद्धति एक विशेष रीति तथा मर्यादा के ग्राधार पर निर्मित थी, ग्रौर वह ग्रपने काल तथा उसकी संस्कृति के साथ-साथ विकसित हुई थी। उसमें स्वदेशी भावना थी। प्रगतिवादी युग के वाद-ग्रस्त कवियों की शृंगार भावना की जड़ में "फ्रायड" तथा 'मार्क्स' कुलबुला रहे थे, ग्रौर उसमें 'यथार्थवाद' ग्रादि ग्रन्य 'वादों' की सड़न भी थी। प्रेम की पुरानी बातें करना तो परम्परा का पोषण हो जाता इस कारण ये कवि 'प्रेम' की सूक्ष्म भावनाग्रों का चित्रण नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा करने से तो "बुर्जुग्रा मनोवृत्ति"[1] का साहित्य में समावेश हो जाता। फलतः स्थूल ऐन्द्रिकता धीरे-धीरे इनकी कविताग्रों में बढ़ती गई तथा नारी के उत्थान का दावा भरते-भरते, ये नारी शरीर की फ्रायड के मतानुसार वीभत्स छीछालेदर करने में लग गये।[2] कारण स्पष्ट है—मन की वासना को बाहर निकलने

---

१. 'ग्रालोचना का मार्क्सवादी ग्राधार'-ग्रमृतराय, 'हंस'-ग्रप्रैल १६४५, तथा 'हंस' १६४७ पृ० ६५५, 'नीरक्षीर'।

२. देखो, देखो, सूर्य निकलता,
कैसा सरल प्रकाश पिघलता,
ग्रपनी नंगी देह तपाग्रो,
अंगों की चिर पीर मिटाग्रो,
चोली चीर उतारो नारी,
जाओ जाओ युग पर वारी,
छाती खोलो, दृढ़ बन जाग्रो,
जांघें खोलो, पौरुष लाओ,
ग्राओ मर्दों के संग ग्राग्रो,
सामूहिक जन जीवन पाओ,
चोली चीर उतारो नारी,
जाग्रो जाग्रो युग पर वारी।

"नारी से," केदारनाथ ग्रग्रवाल-'हंस', जून १६४२।

छातियाँ मसल दीं, और··· ··· ··· ···।

(मंगला मोहन—नई धारा, 'हंस', अक्तूबर. १९४१, पृ० ६५)

और कहीं-कहीं नूतन परिस्थितियों की विचित्रसी कल्पना करके, यथार्थ के बहाने, वक्र-दृष्टि (Crooked) से देखे गये नखशिख तथा शारीरिक 'मांसलता' का चित्रण किया है जिसमें घिनोनी अश्लीलता का अंश ही अधिक पाया जाता है। निराला जी की 'खजोहरा' कविता इस दृष्टि से बहुत प्रसिद्ध है :—

पैंठी ताल में बुआ जैसे हथनी,
मारे डर के कांपने लगा पानी ।
लहरें भगीं चढ़ने को किनारे पर,
रेला पानी बुआ ने जब बाहों में भर ।
नींव के खम्भों से पैर, कीच में थे,
जांघ से छाती तक अंग, बीच में थे—
पानी के, बुआ को याद आये वे दिन,
***लड़कियों को गाढ़ती थीं** जब गिन गिन
··· ··· ···

डाल पर बड़ा सा था खजोहरा ।
··· ··· ···

बुआ के कन्धे पर वहां से आ गिरा,
··· ··· ····

रोऐं गढ़े कन्धे पर , हथेली में,
आये फिर कुछ बांह में, कुछ पानी में ।
जहां जहां गढ़े जोर की खुजली—
उठी, बुआ ताल के बाहर निकलीं ।
निकलते, **कुल अंगों में पानी** के साथ—
फैली, खुजलाने लगीं वे दोनों हाथ ।
एक छन में जलन सौगुनी बढ़ी,
बुआ अंगारों में जैसे हों खड़ी ।
धोती बदलनी थी, पर बदल न सकीं ।
मात नील गाय को देती ज्यों भगीं ।
··· ··· ···

पूछा, अरी बिट्टो,[1] तुम्हें क्या हुआ ?
कहा बिट्टो ने, मुआ खजोहरा ।
नहाते नहाते मुझे लग गया ।

***बुआ विधवा हैं ।**

१. बुआ का घर का नाम ।

घी ले आई अम्मा, पूछा कहाँ लगा,
बची नहीं, बोली बिट्टो कोई जगह। आदि।
... ...

("हंस" अगस्त १९४१)

वास्तव में, इन सब चित्रों के मूल में है वही शृंगारी भावना, जो कि आदिम काल से मानव को प्रेरित करती चली आ रही है। हाँ, वादों के आवरण तथा प्रचार के पाखंड के कारण, वास्तविकता छिप सी गई है तथा उसमें अनावश्यक अश्लीलता का समावेश हो गया है। अब हम इस काल की शृंगारी-भावना का किंचित विवेचन करेंगे।

रीतिकालीन शृंगार-पद्धति एक विशेष रीति तथा मर्यादा के आधार पर निर्मित थी, और वह अपने काल तथा उसकी संस्कृति के साथ-साथ विकसित हुई थी। उसमें स्वदेशी भावना थी। प्रगतिवादी युग के वाद-ग्रस्त कवियों की शृंगार भावना की जड़ में "फ्रायड" तथा 'मार्क्स' कुलबुला रहे थे, और उसमें 'यथार्थवाद' आदि अन्य 'वादों' की सड़न भी थी। प्रेम की पुरानी बातें करना तो परम्परा का पोषण हो जाता इस कारण ये कवि 'प्रेम' की सूक्ष्म भावनाओं का चित्रण नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा करने से तो "बुर्जुआ मनोवृत्ति"[1] का साहित्य में समावेश हो जाता। फलत: स्थूल ऐन्द्रिकता धीरे-धीरे इनकी कविताओं में बढ़ती गई तथा नारी के उत्थान का दावा भरते-भरते, ये नारी शरीर की फ्रायड के मतानुसार वीभत्स छीछालेदर करने में लग गये।[2] कारण स्पष्ट है—मन की वासना को बाहर निकलने

---

१. 'आलोचना का मार्क्सवादी आधार'-अमृतराय, 'हंस'-अप्रैल १९४५, तथा 'हंस' १९४७ पृ० ६५५, 'नीरक्षीर'।

२.
देखो, देखो, सूर्य निकलता,
कैसा सरल प्रकाश पिघलता,
अपनी नंगी देह तपाओ,
अंगों की चिर पीर मिटाओ,
चोली चीर उतारो नारी,
जाओ जाओ युग पर वारी,
छाती खोलो, दृढ़ बन जाओ,
जांघें खोलो, पौरुष लाओ,
आओ मर्दों के संग आओ,
सामूहिक जन जीवन पाओ,
चोली चीर उतारो नारी,
जाओ जाओ युग पर वारी।

"नारी से," केदारनाथ अग्रवाल-'हंस', जून १९४२।

का मार्ग तो चाहिए ही, मार्क्सवाद की डाट लगे होने के कारण, वह वासना, चाहे जहाँ से, चाहे जिस रूप में, फूट निकलने लगी। फ्रायड़ के नाम पर अनेक मनमाने मनोवैज्ञानिक तथ्य साहित्य में घुस पड़े और रस तथा स्थायीभाव आदि के प्रचीन विभाजन को नष्ट करने का प्रयत्न किया गया।[1] नई-नई 'थ्योरियाँ' विदेशों से लाई गई तथा देशी मनोभावों को उनके अनुसार मोड़ने या तोड़ने का प्रयत्न किया गया। इतना होते हुए भी ये कवि जाने,अनजाने, प्राचीन परम्परा-बद्ध चित्रण कर जाते थे, और वाद-मुक्त कवि तो श्रृंगार के क्षेत्र में कुछ-कुछ प्राचीन परिपाटी से प्रभावित थे ही।

इन प्रगतिवादियों का मन नारी के शारीरिक सौन्दर्य पर ख़ूब टिकता था उसके प्रमाण पन्त के ये चित्र हैं :—

सुप्त स्वर्ण चक्राँगों से सुकुमार उरोजों पर स्थित,
शुभ्र सुधा के मेघों की जाली उठती गिरती नित,
उठे कामना शिखरों से, स्वर्गिक श्वासों से स्पन्दित,
उन दो रजत प्रीति कलशों पर स्वर्ण शिखाएँ वेष्ठित।
ज्योति भंवर सी सुधा नांभि, प्रिय रजत फुहार उदर में,

(पृष्ठ २०१ का शेष)

तथा

कि जिसकी छातियाँ हैं, अभी उठती उभरती वह कच्ची नासपातियाँ हैं।

और

पाते ही पाते उभार
जिनकी छातियाँ
बन गई वैशाख की जुआई ढली ककड़ियाँ
कठोरता तो दूर—दबाने पर सट जाती हैं, एकदम पोर दोनों उँगलियों की।
('रमण' की 'मास्को' नामक पुस्तक की 'हंस' अगस्त ४३ में समीक्षा पृ० ८८७।)

१. वात्सल्य तो रति है ही, समालोचक के कहने का अभिप्राय यह मालूम होता है कि वात्सल्य में जो रति है वह कामवासनामूलक ही है। चाहे वह सहेतुक हो वा अहेतुक। इसकी पूर्ति स्पर्श, आलिंगन, चुम्बन आदि से की जाती है। यही फ्रायड का सिद्धान्त है। वह तो यह भी कहता है कि "बालक के स्तन चूसने और नग्न वक्षस्थल पर उन्मुक्त भाव से पड़े रहने" पर एक परम अज्ञात और अप्रकट काम-वासना धारा दोनों ही प्राणियों, माता और सन्तान, के बीच प्रवाहित होती रहती है।

—पं० रामदहिन मिश्र-"काव्य दर्पण," (काव्यशास्त्र की भूमिका) पृ० ४।

स्वर्ण वाष्प का घन लटका जघनों के माणिक सर में,
रजत शान्ति आत्मा के नभ की[1]
सौन्दर्य चेतना (स्वर्ण किरण)।

कवि-दृष्टि केवल उरोजों और नाभि तक ही सीमित नहीं रही अपितु उसने जघनों के 'माणिक' सर में 'स्वर्ण वाष्प के घन' तक को देखने का प्रयत्न किया। रीतिकाल का प्रभाव केवल इसीलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि कवि रीतिकालीन कवियों से भी "नीचे उतर" गया है। यही नहीं कवि ने 'रजत जघनों के 'रजस्राव' का चित्रण करने का भी प्रयत्न किया है। नीचे के वर्णन में जघन्य ऐन्द्रिकता के ही दर्शन हमें होते हैं :[2]—

वसुधा के उरोज शिखरों से खिसका चल मलयाचल,
सरिता की जांघों से सरका, लहरा रेशम सा जल।
चिर अधखिले उरोजों पर जलते थे उडुगन,
रजस्राव के अभ्रक से ज्योतित भू रज कण।
स्वर्णिम निर्झर सी रति सुख की जंघाओं पर पेशल।
लिपटी जीवन की ज्वाला, निज दीपन करती शीतल।
अर्ध विवृत जघनों पर तरुण सत्य के शिर धर,
लेटी थी वह दामिनी सी रुचि गौर कलेवर
गगन भंग से लहराये मृदु कच अंगों पर
वक्षजों के खुले घटों पर ललित सत्य कर।

उपर्युक्त चित्रण में आधार कोई भी हो उसका स्वरूप शुद्ध ऐन्द्रिकता का ही है। कवि ने "रति-सुख-प्राण" नारी का ही चित्र उपस्थित किया है। रीतिकालीन कविता से केवल एक भेद इसमें पाया जाता है। इस चित्र को पढ़कर जुगुप्सा की भावना सी जगने लगती है तथा रीतिकालीन शृंगारी चित्र रति—भावना का उद्रेक करने वाले होते थे। ये सब चित्र पाश्चात्य (साम्यवादी) मान्यताओं के आधार पर बने हैं। पन्त जी जब 'खुल्लमखुल्ला' रति-संभोग करने के पक्ष में हैं फिर उसका चित्रण क्यों न करें।[3] देखने की बात तो यह है कि इस काल की कविता द्विवेदी युग की कविता को कितना पीछे छोड़ आई है; यही नहीं रीतिकालीन कविता को भी

---

१. अंगों के उपमान भी पुराने हैं; यह दर्शनीय बात है।

२. यशदेव, 'पन्त का काव्य और युग' पृ० २६४।

३. पन्त जी का कहना है कि चुम्बन, आलिंगन और मैथुन आदि वैसा ही होना चाहिये जैसे पशु-पक्षियों में होता है अर्थात् 'खुल्लमखुल्ला'...उसका अर्थ क्या है? इस 'आनन्दानुभूति' से बाहर निकलकर मानव ने इसका विरोध इस आधार पर किया है कि प्यार खुला तो करना चाहिये किन्तु खुल्लमखुल्ला नहीं। ('पन्त का काव्य और युग' यशदेव। पृष्ठ ३८५।)

शृंगार के क्षेत्र में इसने मात दे दी है। वास्तव में यह काल आधुनिक कविता का (घोर) शृंगार-काल ही है।

संभोग-शृंगार के वर्णन के लिये बहाना कोई भी लिया हो किन्तु चित्रण 'यथातथ्य' तथा खूब मन लगाकर किया गया है[1] और उससे वासना की धारा बह निकली है।*

संभोग-शृंगार के कुछ चित्र और देखियेः—

कंधे से कंधा मिला छाती से छाती सटा,
रात को बनी थीं तुम **गीली और रंगीली**,[2]

'गीली' शब्द की व्यंजना ध्यान देने योग्य है।

और कंधों से तनिक नीचे उतरकर
वासना के हाथ से अब तक अछूते और आँदोलित
दो मृदुल दलदार वृत्ताकार कुच थे,
क्षीण कटि थी
पीन जाँघें
नग्न नारी प्राण-प्यारी चुप खड़ी थी ॥[3]

इसके आगे का वर्णन प्रथानुसार (as usual) ही है।

संभोग-शृंगार के लिये प्रकृति को उद्दीपन रूप में भी चित्रित किया गया और इस प्रकार प्राचीन परिपाटी का अनजाने में समर्थन इन लोगों ने किया।[4]

---

१. उर में हो चेतना गहन व्रण,
शोभा से संचित हो भू-तन।
लिपटे भू के जघनों से घन, प्राणों की ज्वाला जन मावन,
नाभि गर्त में घूम भंवर सी, करे मर्म आकाँक्षा नर्तन।
अग्नि गर्भ उर के शिखरों पर, उतरे सुर आनन्द में निखर।—पन्त (उत्तरा।)

*पन्त जी ने रीतिकालीन कविताओं में 'कुत्सित प्रेम का फुहारा' बताया है, देखिए 'पल्लव' पृ० ४,६,१०।

२. रामेश्वर शुक्ल अंचल—'करील'

३. केदारनाथ अग्रवाल की कविता, 'हंस'—जून १६४७ पृ० ६५५।

४. अधखिले मुग्ध अंगों में आकुल
रति परिरम्भ हिलोर ढली
प्रिय की मद भरी उमंगों से
मैं खेलूँ व्याकुल मदन लली
पावस समीर बह चली अली। अंचल 'अपराजिता' पृ० ७४।

इसके अतिरिक्त कहीं कहीं 'सद्यस्नाता' परकीया आदि के चित्र भी छिटके पड़े हैं :—

आँख पड़ी युवती पर
आई थी जो नहाकर
गीली धोती सटी हुई भरी देह में सुघर
उठे पुष्ट स्तन दुष्ट, मन को मरोड़ कर
आयत दृगों का मुख खुला हुआ लेता हर
जो कुछ अपना पर।

("निराला जी की कविता में प्रगतिवाद"-'हंस', जनवरी १९४३, पृ० ३४१)

इसके आगे कवि ने "सद्यस्नाता" के 'उघरे अंगों' के प्रति अपनी कामना का अंकन किया है।

परकीया के दो चित्र देखिए :[1]

मैं न कुछ कह सकी, रोक ही न सकी हाय।
उन्हें इस कार्य से, अकार्य से विमूढ़ सी।—उ० शं० भट्ट।

तथा

मैं सोई थी नहीं, छिपा मत मुझसे कुछ भी, छोरी।
ली थी पकड़ कलाई उनने, देती थी जब पान,
तूने मेरी ओर किया इंगित कि गई मैं जान,
तब वे बोले दीख रही मैं जनम जनम की भोरी।
उसके बाद उढ़ाया उनने मुझे स्वयं आ शाल,
तू हँस पाई भी न तभी सट काटे तेरे गाल,
किया तनिक सीत्कार कहा उनने कि खूब तू गोरी।

—जा० व० शास्त्री

(परिस्थिति की लज्जाजनक नूतनता दर्शनीय है)

इन वाद-ग्रस्त कवियों के अतिरिक्त स्वतन्त्र धारा वाले कवियों में भी कुछ रीतिकालीन संकेत पाये जाते हैं। पं० लक्ष्मीनरायण मिश्र ने हिड़िम्बा के नखशिख में उसके रूप-वर्णन के लिए प्राचीन प्ररिपाटी का पूर्ण अनुगमन किया है।[2] 'साकेत-

---

१. पं० रामदहिन मिश्र-'काव्य-दर्पण', पृ० ७५ तथा २९२।

२. नायिका भेद के अनुसार भी इस परिस्थिति का विवेचन किया जा सकता हैं

दीप्तिमान ! होता है पयोधर प्रदीप्त ज्यों
विद्युल्लता जाल से। समुन्नत पयोधरा
धारण किये हैं चर्म केशरी का कटि में।
आवरणहीन स्कन्ध वक्ष भुज दंड हैं

सन्त' में डा० बलदेवप्रसाद मिश्र ने भी नखशिख के लिये उसी प्राचीन अलंकृत परिपाटी का प्रयोग किया है।[१]

दिनकर जी ने "रसवन्ती" में नारी के चित्रण में नारी के सद्यस्नाता आदि स्वरूपों का चित्रण किया है[२] तथा बच्चन जी ने 'मिलन यामिनी' में प्रकृति के उद्दीपक स्वरूप का चित्र अंकित किया है।[3] पं० द्वारिकाप्रसाद जी मिश्र का महा-

---

(पृष्ठ २०५ का शेष)

आवरण हीन नाभि जलधि भंवर सी
नग्न पुष्ट जानु-मूल कृष्ण कदली के हों।
("हिडिम्बा की पति भक्ति"—पृ० ६५)

१. उभय अन्योन्य अभिमुखी देख,
नयन ये तारतम्य ले लेख।
इसी से चलो कि गिरि शृंगार
संवर ले लखकर यह आकार ॥२८॥
तुम्हारे चरणों की ले चाल,
चलें अब उस पर बाल मराल।
तुम्हारे लखकर उरु अभिराम,
कलभ का भूल जायँ सब नाम ॥२९॥
(प्रथम सर्ग-पृ० २३)

२. कढ़ी जमुना से कर तुम स्नान
पुलिन पर खड़ी हुई कच खोल
सिक्त कुन्तल से झरते देख
पिये हमने सीकर अनमोल
तुम्हारे अधरों का रस प्राण।
वासना तट पर पिया अधीर। ("रसवन्ती"-पृ० ३०)

३. सखि, यह रागों की रात नहीं सोने की।
अम्बर अंतर गल धरती का
अंचल आज भिगोता,
प्यार पपीहे का पुलकित स्वर
दिशि-दिशि मुखरित होता,
और प्रकृति पल्लव अवगुंठन
फिर फिर पवन उठाता,
यह मदमातों की रात नहीं सोने की।
सखि, यह रागों की रात नहीं सोने की।
("हिमालय" अंक ९, अक्तूबर १९४६, पृ० २३)

काव्य "कृष्णायन" यद्यपि रीतिकालीन परिपाटी का नहीं है, फिर भी उसमें रास-लीला आदि के परिपाटी-बद्ध चित्र मिल जाते हैं।[1]

इस प्रकार इस काल के शृंगार-वर्णन पर कुछ रीति प्रभाव, कहीं-कहीं, खोजा जा सकता है। साम्य तो अनेक स्थानों पर है ही। वैसे इस काल में कविता अन्य अनेक विषयों पर भी होती रही किन्तु मुख्य भाव दो ही थे। राजनीतिक प्रचार (जिन्हें हम चाहे तो नीति-सूक्तियाँ-उपदेशों के अन्तर्गत रख सकते हैं) तथा शृंगार।

इस युग के अनेक कवियों ने प्राचीन ज्ञान को नष्ट करने का मूर्खता पूर्ण प्रयत्न किया, फलतः उनकी अधिकांश कविता ग्राम्य, अश्लील तथा जुगुप्सा के योग्य बन गई। यदि इस ऊपर के छिलके को उतार कर देखें तो शृंगार की अधिकांश कविता को हम प्राचीन परम्परा के स्वाभाविक विकास के रूप में ही पायेंगे।[2]

---

१. "रासलीला" में जयदेव की मधुर गीति-शैली ध्वनित हुई है :—

कबरी शिथिल सुमन झरि लागी
वदन कमल कच अलि अनुरागी
लहरत वसन उड़त उर अंचल
अनुहरि हरिहिं विलोल दगंचल
दरकत कंचुकि तरकत माला
प्रकटत आनन श्रम कण जाला
नील पीतपट लट मुकुट कुंडल श्रुति ताटंक
अरुझत एकहि एक मिलि राधा माधव अंक।

('दृष्टिकोण'—प्रबन्ध काव्य और कृष्णायन, डा० विनयमोहन शर्मा, पृ० १६०)

२. जो लोग इस देश में प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे हैं उन्हें अपने देश के संचित ज्ञान की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

हजारों वर्ष की समृद्ध ज्ञान-राशि को फेंक देना बुद्धिमानों का काम नहीं है। दुनियां की अन्य सभी वस्तुओं को फेंक देने से भार हल्का हो सकता हैं पर ज्ञान के फेंकने से भार बढ़ जाता हैं।

प्रगतशील कही जाने वाली सब रचनाओं की तो मैं नहीं कहता उनमें बहुतेरी ग्राम्य, अश्लील, जुगुप्सित और रसाभास मूलक हैं, पर चुनी हुई नमूने के तौर पर संगृहीत कविताओं और कहानियों तथा नाटकों को देखकर मैं कह सकता हूँ कि वे अपनी प्राचीन परम्परा के स्वाभाविक विकास के रूप में समझाई जा सकती हैं।

("आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार"--डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य का नया रास्ता, पृ० ४८)

इतना होने पर भी प्रगतिशील कवियों की अभिव्यक्ति जहाँ विचार-प्रधान हो जाती थी वहां वह अत्यन्त गद्यात्मक तथा सूखी हो जाती थी, फिर चाहे उन्हीं के दल के, सहानुभूति पूर्ण समीक्षक कवि को 'कवियों का कवि' या 'विचार-प्रधान' कवि ही क्यों न कहें[1], उसकी कविता में भावात्मकता का नामोनिशान तक नहीं रहता था। कुछ तो इस बौद्धिकता के कारण तथा कुछ शैलीगत 'वादों' के कारण इन वादग्रस्त कवियों की शृंगारेतर कविता दुरूह तथा जटिल ही होती चली गई। कविता में राजनीतिक वादों के दाव-पेच इतने अधिक आ गये कि सामान्य पाठक के लिये वह एक 'गोरखधन्धा' हो जाती थी और कवियों को लम्बी लम्बी भूमिका लिखकर अपनी कविता तथा अपना कथित 'जीवन-दर्शन' समझाना पड़ता था। यह परिस्थिति कभी कभी तो उपहासास्पद अवस्था तक पहुँच जाती थी।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि इस समय के कवियों की कविता का सामान्य जनता से बहुत हीं कम सम्पर्क रह गया था। कविता का स्वरूप, शैली के परिवर्तन के कारण, कभी कभी तो गद्यात्मक सा हो जाता था। कविता की इस दुर्गति में नूतनता की धुन ने बड़ा योग दिया था। भाषा तथा अलंकारों के क्षेत्र में यह नूतनता की धुन विशेष रूप से परिलक्षित हुई[3]।

---

१. 'निराला' जन साधारण के कवि नहीं, यह हमें मानना पड़ता है। वह अंग्रेजी कथन के अनुसार 'कवियों के कवि' हैं। आपके काव्य का प्रधान गुण चिन्तन है। कल्पना विद्युत की भांति बीच बीच में चमक जाती है। मुक्तक छन्दों में संगीत की ताल मग्न हो जाती है, यद्यपि उसकी अपनी तरंग मालाएं उमड़ा करती हैं।

('प्रगतिशील पुस्तकें'—प्रकाशचन्द्र गुप्त, पृ० १४० ।)

२. हाल ही में 'इम्प्रेशनिस्ट' कहकर व्यंग करने की प्रवृति भी परिलक्षित हुई है। यह प्रवृत्ति कभी कभी उच्च कोटि की पत्रिकाओं में भी प्रकाशित होती देखी गई है। काव्य-पुस्तकों में लम्बी लम्बी भूमिकाओं द्वारा कवि बेबसी के साथ अपने और अपने पाठकों के बीच के व्यवधान को भरने की चेष्टा करता है। यह चेष्टा कभी कभी उपहासास्पद अवस्था तक पहुँच गई है।

('हिन्दी साहित्य की भूमिका'-उपसंहार, डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी, पृ० १४१, प्रथम संस्करण, फरवरी १९४०)

३. दो कारणों से बहुत हाल में कविता की भाषा और शैली में भी परिवर्तन हुआ है। एक तो विषय को जब आसक्त भाव से देखा जाता है तब स्वभावतः ही भावुकता को स्थान नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में कवि वैज्ञानिक की भांति गद्यमय भाषा लिखने लगता है। दूसरे, विषय की नवीनता को सम्पूर्ण रूप से अनुभव कराने के लिए कवि लोग जानबूझकर ऐसी भाषा और शैली का

यद्यपि इस काल की भाषा-शैली पर रीतिकालीन प्रभाव खोजना व्यर्थ सा लगता है, किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार इस काल के कवियों ने भी, चाहे विवशता से ही सही, अलंकारों के क्षेत्र में प्राचीन परिपाटी का अनुसरण किया।[1] इतना होने पर भी हम उन पर रीतिकालीन प्रभाव बताने में हिचकते हैं। वैसे इन-वाद ग्रस्त कवियों के पास भी 'कुच कलश' जैसी उपमाएँ ही थीं[2] किन्तु नूतनता के लिये वे कभी-कभी विचित्र सी उपमाएँ भी (मानों दूर की कौड़ी लाने के मोह से) खींच लाते थे।[3] इन कवियों को छोड़कर पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र[4] तथा पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'[5] जैसे प्राचीनता के पोषक कवियों में, रीतिकालीन परिपाटी के अलंकारों से युक्त कलापक्ष के दर्शन होते हैं।

(पृष्ठ २०८ का शेष)

व्यवहार करते हैं जो पाठक के मन को इस प्रकार झकझोर दे कि उस पर से प्राचीनता के संस्कार झड़ जायँ।

'हिन्दी साहित्य की भूमिका, उपसंहार, ले० हजारीप्रसादजी द्विवेदी, पृ० १३९, प्रथम संस्करण, फरवरी १९४०'

१. मेरा कहना यह है कि जब प्रगतिवादी प्राचीन परिपाटी के भी पोषक हैं, स्वेच्छा से नहीं तो विवशता से ही सही, आलंकारिकों के मार्ग पर चलते हैं तथा प्रत्यक्ष रूप से कार्यतः और व्यवहारतः उनसे विमुख नहीं हैं, ऊपर से भले ही उसके निन्दक हों, तब उनकी कृतियों की समीक्षा नितान्त आवश्यक है।
(विद्यावाचस्पति पं० रामदहिन मिश्र; 'काव्य में अप्रस्तुत योजना' —वक्तव्य-पृ० ख)

२. चिर यौवन का, चिर जीवन का,
उवर्शी सी,
भरे पले कुच कलशों में अमृत छलकाती।
जाग उठे नयनों में सपने,
'देवेन्द्र सत्यार्थी-'नर्तकी'-हंस, फरवरी-मार्च १९४५ पृ० ३३२।

३. "गौर मांस का सा यह शशि मुख भाता मुझको ज्योति आवृत मन" केशवदास के बाद ऐसे पद्यों की आशा पन्तजी से ही की जा सकती थी।—यशदेव, पन्त का काव्य और युग पृ० ३०२।

४. अलंकारों में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, परिसंख्या, सन्देह आदि का अधिक समावेश है। सांग-रूपक बांधने में कवि ने अच्छा कौशल प्रदर्शित किया है।
'दृष्टिकोण'-प्रबन्ध काव्य और कृष्णायन, डा० विनयमोहन शर्मा पृ० १६३।

५. यों फिर कहा श्रीमन सुयश ज्यों बह रहा है आपका,
धवलित जगत करता हुआ, वह हेतु है मम ताप का।
है बस यही चिन्ता मचाती मम हृदय में खलबली,
धवलित न मेरी प्रियतमा की जाय हो अलकावली॥
होकर प्रसन्न नरेश ने दे सार निज उपहार में,

प्रयोगवाद का समय—स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद मार्क्सवादियों की हालत कुछ खराब होगई। अँग्रेज चले गये, नेताजी बोस को जनता ने अपना 'हीरो' मान लिया, नेहरू को अमरीकी एजेन्ट मानने से जन साधारण ने इन्कार कर दिया और अन्त में रूस में साम्यवादियों के अर्ध-ब्रह्म (Demi God) स्टालिन की हत्या (?) और छीछालेदर की गई। इन सब घटनाओं के घटित होने से साम्यवादिवों की पोल खुल गई, और उनका प्रभाव कम होने लगा। कविता के क्षेत्र में स्वतन्त्र विचारक कवियों ने पुनः सिर ऊँचा किया और कविता एक बार फिर से अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करने के लिये उद्यत होगई। किन्तु मार्क्सवादी अपनी शरारत से बाज नहीं आ सके और उन्होंने लुकेछिपे प्रयोगवाद नाम का एक और वाद कविता पर थोप दिया। इस वाद के अनुगामी **अधिकांश** पुराने मार्क्सवादी प्रगतिवादी ही हैं।[1] अन्य वाद-मुक्त कवियों ने कविता को स्वस्थ विकास की ओर लेजाने का प्रयत्न किया है, किन्तु ये 'प्रयोगवादी' अपने 'केवल प्रयोग या चेष्टा' के नारे को उठाये हुये हैं!

आज की अधिकांश कविता, कविता नाम की अधिकारिणी ही नहीं है। कुछ तो प्रचार के लिये हैं और कुछ समाचार पत्रों में रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिये (Fillers) ही रख दी जाती है।[2] इस स्वातंत्र्योपरान्त काल में एक और बात हुई; सम्मेलनी कवियों की एक नई फसल पैदा होगई। जान-पहिचान के आधार पर निर्भर, सम्मेलनी कविता करने वाले कवियों में टुच्ची लोकप्रियता प्राप्त करने की प्रवृत्ति

(पृष्ठ २०९ का शेष)

प्रति वर्ण पर भी लक्ष मुद्रा वार दीं सत्कार में।
यों कर उसे सत्कृत कही नृप ने विनय वाणी भली,
क्या रम सकोगे केतकी के कुंज में कुछ ऐ अली॥ पृ० ७८॥

× × ×

राम जनम तिथि चैत की, सुन्दर मंगलवार।
चख, नभ द्वं, ऋषि, विक्रमी, रचौ 'रसाल' विचार॥ पृ० ८०॥
('भोजराज' पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल')

१. जिन्दगी में तीन चीजों की बड़ी जरूरत है : ऑक्सीजन, मार्क्सवाद और अपनी वह शक्ल जो हम जनता में देखते हैं।

('तार सप्तक' दूसरा भाग, पृ० १५०)

२. मासिक पत्रिकाओं के सम्पादक खाली पड़े स्थान को भरने के लिये प्रतिमास जो असंख्य कविताएँ छापते आ रहे हैं, (छापे का यंत्र यहां भी कविता के क्षेत्र में दखल दे रहा है) क्या हम उन सबको कविता मानते हैं? निश्चय ही नहीं। किसानों और मजदूरों के दुख से सभा भवन को गुंजरित करने वाली रचनाओं में सबको हम कविता मानते हैं? संदिग्ध विषय है।
'आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार' लेखक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, (कविता का भविष्य) पृ० ५७

पायी जाती है। इन्होंने कविता के भाव[1] से भी अधिक रंगमंचीय चेष्टाओं (Stage mennerism) को महत्त्व दिया है। सुरीले स्वर में, हाथ-पैर नचाकर कविता पढ़ने वाले कवियों की अचानक भरमार होगई है। इन कवियों की अधिकांश कविता में व्यर्थ की बकवास तथा उल्टे-सीधे तर्क ही मिलते हैं, जिन्हें कविता के अतिरिक्त और सब कुछ कहा जा सकता है।[2] इन सम्मेलनी कवियों की एक विशेषता यह है कि ये जैसा समुदाय देखते हैं वैसी ही, फरमायशी, कविता कह देते हैं; 'किसान-सभाई' से 'हिन्दू-सभाई' तक। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि सम्मेलनों में जाने वाले सब कवि टुच्ची कविता ही करते हैं, उनमें से कुछ सुन्दर भावानुभूति युक्त उत्तम कविता करने में भी समर्थ हैं किन्तु व्यापारी दृष्टिकोण होने के कारण उनकी कृतियों का अधिकांश निम्न-स्तरीय ही रह जाता है। सम्मेलनी कवियों में निम्न-लिखित मुख्य हैं:—

गोपालप्रसाद व्यास, बलवीरसिंह रंग, कुलदीप, सोम ठाकुर, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', सुमित्राकुमारी सिन्हा, विद्यावती कोकिल, नीरज, चन्द्रमुखी ओझा, देवराज दिनेश, चिरंजीत, रामावतार त्यागी, शिशु, रमानाथ अवस्थी, पं० हृषिकेश चतुर्वेदी, वीरेन्द्र मिश्र, रामकुमार चतुर्वेदी, हंसकुमार तिवारी, विनोद शर्मा, मुकुल, बटुक चतुर्वेदी, काका हाथरसी आदि।

इस काल की अधिकांश प्रयोगवादी कविता "साहित्य" कहलाने योग्य है ही नहीं। अज्ञेय जी जबः—

---

१. **कविता अब भावावेग का विषय न होकर बुद्धि का विषय हो गई है। कवि के मुख से कविता सुनते समय हम उसकी पठन-भंगी पर ज्यादा ध्यान देते हैं, उसके काकु को या जैसा कि राजशेखर ने इस शब्द की व्याख्या की है, 'अभिप्रायवान पाठधर्म' को अधिक महत्त्व देते हैं।**
'आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार'—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, (कविता का भविष्य) पृ० ५६।

२. **कवि सम्मेलन के अखाड़ेबाज कवि ऐसी बहुत सी बातें अब भी कविता के माध्यम से बोलते जा रहे हैं जिनमें से बहुत सी किसान-सभा या हिन्दू सभा के मंच पर गद्य में बोली जा सकती थीं। कुछ कांग्रेस वादी अखबारों की सम्पादकीय टिप्पणियों में अधिक सफलता पूर्वक कही जा सकती थी, कुछ मसखरे अखबारों को अच्छी सामग्री दे सकती थीं, कुछ कहानी के रूप में लिखने पर ज्यादा पुर-असर हो सकती थी। और कुछ का उपयोग निश्चय पूर्वक फेरी वालों की बिक्री बढ़ाने में किया जा सकता था।**
'आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार' डा०—हजारीप्रसाद द्विवेदी, (कविता का भविष्य) पृ० ५५

मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन पैरों से
खड़ा है, धैर्य धन गदहा, (तार सप्तक)

इसे कविता कहने लगें और भारतभूषण अग्रवाल की

मैं उठा सोके,
छिपकली की टांग
वहीं अड़ी रही
अड़ी रही······
अगर मैं तोता
होता,
तो क्या
हो······ता
तो······ता···
ता·········
तो···होता, तो क्या होता (नई कविता)

इस प्रकार की खुराफात भी छपने लगे तो काव्य के मानदंडों का क्या किया जाय यह एक समस्या ही बन कर रह जाती है। फिर भी जहाँ जो कुछ भाव मिलता है उसकी यदि समीक्षा की जाय तो दो भावनायें (उपर्युक्त कूड़े को छोड़कर) मुख्य प्रतीत होती हैं :—साम्यवाद तथा श्रृंगार। यहाँ हम संक्षेप में प्रयोगवादियों की श्रृंगार भावना का विवेचन करेंगे।

श्री धर्मवीर भारती दूसरे सप्तक में कहते हैं:—

मुझे तो वासना का विष हमेशा बन गया अमृत
बशर्ते वासना भी हो तुम्हारे रूप में आलाप।

स्पष्ट है कि वासनात्मक चित्रण को ये लोग विशेष महत्त्व देते हैं। इसी कारण शारीरिक सौन्दर्य की ओर इनका ध्यान निरन्तर जाता रहता है :—

और ब्लाऊज मलिन चटकीले,
जिसमें थे पड़ गये पहिनने से,
चिन्ह रंगीले गठीले अंगों के,
सभी कोमल कठोर उतार चढ़ाव।

उपर्युक्त चित्रण की ऐन्द्रिकता में कोई सन्देह नहीं है, हाँ, उक्ति-वैचित्र्य (दूर की कौड़ी) अवश्य हैं।

कभी-कभी तो इनकी कविता में पुरानी छायावादी या पन्त की स्वर्णकिरण वाली झलक भी दिखाई दे जाती है :—

किनारे की सूनी गैल
हरी घास की **चोली दोनों ओर खसका कर**
अनायास निवेदन हो गई……।
धूप छायाएँ **कसक सीनों सी काँप काँप आई।**
… … …

कटि से फिसलती करधौनी से
गहन चुप्पी के घुंघुरू
महुआ बन के फूलों में चू पड़े।
शैवाल का लंहगा खसकाकर
रतन बावली की **हरी नीली गहराइयाँ**
काँप काँप उफन आई……
धरिणी की माटी के बीच,
आसमानी प्रीतम ने
अपना अगम हिया ढाल दिया।[1]

धूप तथा 'छायाओं' का 'सीनों की कसक समान' कांप जाना शुद्ध ऐन्द्रिक शृंगार है, तथा 'लंहगा के सरक जाने' के बाद 'गहरी नीली गहराइयों में' प्रिय के हिया ढाल देने में रीतिक्रीड़ा का चित्रण ही तो है।

निम्नलिखित चित्रण में 'आगतपतिका' नायिका-साफ साफ उभर आई है :

बाले दीप
चतुर नारि ने
पिय आगमन को।
संध्या की पलकें झुकीं,
फैली अलकें भारी
पिय की सुमुखि प्यारी ने
अंगिया से दीप धर
बाले पिय आगमन को।[2]

इन प्राचीन चित्रों का; 'प्रयोगवादी' कहलाने वाले कवियों की कविता में वरबस आजाना इस बात को सिद्ध करता है कि शृंगार की रीति परिपाटी अभी भी किंचित परिवर्तित स्वरूप में चली आ रही है।

---

१. 'देह और देहातीत,' वीरेन्द्रकुमार जैन, अजन्ता, नवम्बर १९५६।
२. 'बाले दीप' शमशेर बहादुरसिंह, 'तार सप्तक'-दूसरा भाग, पृ० १०२।

इस काल के कवियों ने कुछ नूतनता प्रदर्शन के लिये या तो महाअश्लील तथा असाहित्यिक प्रयोग किये[1] या फिर अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग करके हिन्दी पाठकों को ठगने का प्रयत्न किया।[2] नूतनता के नाम पर इन्होंने तथा इनके साथ के कुछ अन्य अति नूतनतावादियों ने यह कहना आरम्भ किया कि कविता को अब रस अथवा अलंकार की आवश्यकता नहीं रही है किन्तु यदि देखा जाय तो जहाँ-जहाँ इन लोगों की कविता में रस, अलंकार आदि हैं, वहीं, केवल वहीं उनकी कविता, कविता कहलाने की अधिकारी है।[3] दृष्टिकोण, भाषा तथा शैली का अत्यधिक भेद होने के कारण हम इन कवियों के कलापक्ष पर रीतिकालीन प्रभाव नहीं खोज सकते

---

१. एक दृढ़ पैर का ही स्थान है
और वह दृढ़ पैर मेरा है,
गुरु, स्थिर, स्थाणु सा गढ़ा हुआ
तेरी प्राण पीठिका पै लिंग सा खड़ा हुआ।
("तार सप्तक"-दूसरा भाग, अज्ञेय)

२. बसन्तागमन (बंगला भाषा के 'प्रयोगों' से युक्त)
दाखिन दार उघाड़ी बसन्त आयो ।।
हमाके पतझर नग्न कियो,
पुरान पाता झड़ि गियो,
सेई बारे जीर्ण जीवन,
बुहारी लिये जावै पवन।
नतून खातिर मार्ग देवो,
ओ हमार मोह पुरातन।
गोपुरे शंख डाके सुनो सखि।
ऋतु श्रीमंत आयौ ।।
पीपल पाता, काँदो तुमि ना,
शितालो मन। कांदो तुमि ना,
प्रभु आँचल में से,
—नरेश महता-"काव्यधारा" पृ० १२७

३. 'युग-गंगा' की भूमिका में केदारनाथ अग्रवाल लिखते हैं 'अब हिन्दी की कविता न 'रस' की प्यासी है न 'अलंकार' की इच्छुक है, और न संगीत की तुकान्त पदावली की भूखी है।''''''मैं इनके इस प्रकार के मत का विवेचन विस्तृत रूप से 'काव्य दर्पण' की भूमिका में कर चुका हूँ। यहाँ इस सम्बन्ध में यह कहना पर्याप्त है कि केदारनाथ जी की वे ही कविताएँ सुन्दर हैं जिनमें रस और अलंकार हैं, संगीत और अनुप्रास है। शेष को तो प्रचार सामग्री ही कहा जा सकता है। ('काव्य में अनुप्रास यौवना'-पं० रामदहिन मिश्र पृ० ११-१२)

तथा इनकी नूतनता ने इनको प्राचीन रूढ़ियों के नष्ट करने में समर्थ बनाया है, यह भी हम नहीं कह सकते। जड़ रूढ़ियों का तोड़ा जाना उत्तम ही है किन्तु अज्ञेय आदि कवियों ने जिस संयमहीनता का परिचय दिया है, वह नितान्त निन्दनीय है।[1] उससे साहित्य का हित नहीं हो सकता।

इस प्रकार हमने देखा कि पिछले वर्षों की कविता में भी शृंगार का ही बाहुल्य है क्योंकि वह मनुष्य की आदिम भावना है और आदिम भावनाओं को कभी भी नष्ट नहीं किया जा सकता।[2]

खड़ी बोली के लोकगीत—

"हर फिल्मी गीत जनता के लिये लिखा जाता है और इन गीतों की तकदीर का फैसला भी जनता ही किया करती है, इसलिए फिल्मी गीत लिखते समय हर गीतकार एक तरह से जनता के सामने रहता है और जनता उसके सामने रहती है। गीतकार और जनता दोनों के सम्बन्ध की कड़ी ये गीत ही हुआ करते हैं। इसलिए हर गीत के लिए एक साथ कई बातें सोचनी पड़ती हैं और उस समय जागृत जनता की हलचलों को यथाशक्ति गीतों में प्रतिबिम्बित करना पड़ता है। यह चीज काफी चिन्तन साध्य है।

इसके बाद "सिचुएशन" भाषा, मीटर, तर्ज और गीत के सम्पूर्ण कलेवर पर विचार करना पड़ता है। फिर महत्त्व "मूड" का है, क्योंकि जितना अच्छा "मूड" रहेगा, गीत पर उतनी ही अच्छी पॉलिश होगी। इस तरह से लिखे गये गीतों की शक्ति और उनका प्रभाव मैं दस-बारह वर्षों से देख रहा हूँ। अच्छे गीतों को एक नई चिनगारी की तरह उड़-उड़ कर लाखों हृदयों तक मीठी जलन पहुँचाते भी देखा है और अधकचरे गीतों की अकाल मृत्यु होते होते भी देखा है। आज हमारे देश में आये दिन तैयार होने वाले श्रेष्ठ फिल्मी गीतों का स्तर संसार के किसी भी देश के फिल्मी गीतों से नीचा नहीं है, ऊँचा ही है।"[3]

—गोपालसिंह 'नेपाली'

जैसा कि हम पहले कह आये हैं, हमने आज के फिल्मी-गीतों को खड़ीबोली के लोकगीतों के अन्तर्गत रखा है। नेपाली जी के उपर्युक्त कथन से हमारे मत की

---

१. पुरानी सड़ी रूढ़ियों का मैं पक्षपाती नहीं हूँ, परन्तु संयम और निष्ठा पुरानी रूढ़ियाँ नहीं हैं। वे मनुष्य के दीर्घ अभ्यास से उपलब्ध गुण हैं और दीर्घ अभ्यास से ही पाई जाती हैं। इनके प्रति विद्रोह प्रगति नहीं है।

—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'अशोक के फूल' पृ० १६१

२. आदिम युग में मनुष्य की जो वृत्तियाँ अत्यन्त प्रबल थीं, वे निश्चय ही अब भी हैं, और प्रबल भी हैं।-डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'अशोक के फूल', पृ० १६१।

३. साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान', नई दिल्ली, २ फरवरी १९५८।

पुष्टि होती है। जनरुचि, लोकप्रियता, सारल्य के साथ "समयानुसार परिवर्तन" लोकगीतों के मुख्य लक्षण हैं। आज के फिल्मी-गीत प्रत्येक अर्थ में लोकगीत ही नहीं हैं, अपितु एक विशेष कारण से वे सामान्य बोलियों के लोकगीतों से कुछ ऊपर भी उठ जाते हैं। वह कारण है "सेंसर" जिसके कारण फिल्मी-गीत अनावश्यक अश्लीलता से मुक्त रह जाते हैं।[1] इस दृष्टि से फिल्मी गीत न केवल 'रसिया' आदि लोकगीतों से ऊपर हैं वरन आज की अधिकाँश अश्लील कविता से भी वे श्रेष्ठ हैं। हम सिनेमा के समर्थक नहीं हैं और न हम सिनेमा देखने के विशेष हामी हैं, तथा यहाँ हमें सिनेमा के गुण दोषों, उसकी साहित्यिकता या अश्लीलता से भी कोई सम्बन्ध नहीं है, हमें तो कविता की दृष्टि से फिल्मी-गीतों का विवेचन करना है। सिनेमा आज जीवन का एक आवश्यक अंग बन गया है। समाज-शास्त्र की दृष्टि से उचित है या अनुचित इसका विवेचन हमें यहाँ नहीं करना। फिल्मी गीत आज (भाग्य या दुर्भाग्य से) जनता पर राज्य कर रहे* हैं और जनता की स्वीकृति मात्र से ही फिल्मी गीतों को लोक-गीत कहना पड़ता है। नगर ही नहीं ग्रामों पर भी उनका प्रभाव पड़ रहा है—इसका सबसे बड़ा प्रमाण है ब्रजभाषा आदि बोलियों के लोक-गीतों द्वारा उनका अनुकरण किया जाना। आज रसिया, भजन, गीत आदि जब लोक-गीतकारों द्वारा लिखे जाते हैं तब उनके शीर्षक के साथ लिखा रहता है—'अमुक' फिल्म के 'अमुक' गीत की 'धुन पर'। फिल्म तथा उसके गीत आज हमारे जीवन के आवश्यक अंग हो गये हैं, इससे आँखें नहीं मूंदी जा सकती। फिल्म सांस्कृतिक ह्रास के प्रतीक या कारण हैं, यह मान लेने पर भी इस सत्य से मुख नहीं मोड़ा जा सकता कि वे आज हमारे जीवन, समाज, सथा प्रतिदिन के रहन-सहन को अत्यधिक प्रभावित कर रहे हैं। संक्षेप में, जनरुचि पर फिल्म तथा उसके गीतों का जितना प्रभाव है उतना आज न किसी पुस्तक का है, न किसी नेता का है, और न किसी 'वाद' का ही है। एक और विशेषता इन गीतों में है। हिन्दी की विभिन्न बोलियों को बोलने वाले सब लोगों पर इन गीतों का एकसा प्रभाव है, यही नहीं अहिन्दी-भाषा-भाषी लोग भी इनसे प्रभावित हैं और इस प्रकार आज ये हिन्दी के फिल्म तथा उनके गीत हिन्दी भाषा के, विभिन्न प्रदेशों में प्रचार के सबसे बड़े साधन हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार आज से ३०-४० वर्ष पूर्व खत्री के 'चन्द्रकान्ता' आदि उपन्यास हिन्दी प्रचार

---

१. "पापी जुबना का देखो उभार "तथा" दीवाना गया दामन से लिपट कभी इस करवट कभी उस करवट" नामक गीतों पर सेंसर की कैंची का चलना इसी बात का प्रमाण है।

* १९६५ में आगरा विश्वविद्यालय से डा० ओंकारप्रसाद माहेश्वरी को 'हिन्दी के फिल्मी गीत' नामक शोध-प्रबन्ध पर पीएच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है।

के निमित्त बन गये थे । इन्हीं सब बातों को देखते हुये हमने फिल्मी-गीतों को खड़ी बोली के लोकगीतों के नाम से पुकारा है ।

इन गीतों का मुख्य रस, शृंगार है, उसके बाद शान्त (भक्ति के भजन आदि) तथा वीर रसों (युद्ध, देशप्रेम आदि से सम्बन्धी गीत) का क्रम आता है । थोड़ा हास्य रस है, अन्य रस गौण हैं । शान्त रस तथा वीर रस पर तो प्राचीन प्रभाव कम है, किन्तु इन गीतों का शृंगार शुद्ध रीतिकालीन परिपाटी का अनुगमन करता है । उर्दू के प्रभाव से "गजल" का प्रयोग भी फिल्मों में आजकल होता है । उन गजलों की परम्परा, उक्ति, तथा भाषा एकदम विलग होने के कारण उसका विवेचन हम यहाँ नहीं करेंगे । वैसे गजलों का अनुपात भी बहुत कम है और अब धीरे-धीरे उनकी धुन (Tune) मात्र ही रह गई है, भाषा तथा भाव सामान्य गीतों के समान ही होते जाते हैं । गजलों का प्रयोग भी केवल विरह-वर्णन में किया जाता है । इस कारण उनका क्षेत्र अधिक विस्तृत भी नहीं है ।

फिल्मी-गीत आज के अनेक कवि लिखते हैं, उनमें से कुछ तो गण्यमान साहित्यिक हैं । श्री अमृतलाल नागर (ऑल इण्डिया रेडियो, लखनऊ) से प्राप्त सूची के अनुसार निम्नलिखित कवियों ने फिल्मी गीत लिखे हैं :—

श्री सुदर्शन (इनके "सिकन्दर" के गीत आज भी अति प्रसिद्ध हैं) **'उग्र' भगवतीचरण वर्मा**, नरेन्द्र, नेपाली, प्रदीप, नीलकंठ तिवारी, **उपेन्द्रनाथ अश्क** व्रजेन्द्रनाथ गौड़, सत्येन्द्र शरत, **सुमित्रानन्दन पन्त, अमृतलाल नागर**, (रेखाँकित अब नहीं लिखते) प्रसाद जी का एक गीत 'अरे कहीं देखा है तुमने मुझे प्यार करने वाले को' 'संगम' फिल्म में प्रयुक्त किया गया था । पन्त जी ने 'लक्ष्मण' नाम से 'कल्पना' के गाने लिखे थे ।

श्री व्रजेन्द्र गौड़ ने अपने २-१-५२ के पत्र में हमें लिखा था कि श्री मोती बी० ए० तथा श्री राममूर्ति चतुर्वेदी ने भी फिल्मों के गाने लिखे हैं ।

एक बात दर्शनीय है । जिस प्रकार व्रजभाषादि बोलियों के लोक गीतकारों का एक अलग वर्ग है, उसी प्रकार फिल्मी-गीत लिखने वालों का भी अपना अलग वर्ग है । पन्तजी, वर्माजी, आदि उस क्षेत्र में अधिक नहीं टिक सके । वहाँ तो जनरुचि को तुष्ट करने वालों अथवा जनरुचि का ध्यान रखने वालों की ही खपत है । बौद्धिक या वाद-गत साहित्य सृजन करने वालों के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं ।

फिल्मी-गीतों की मुख्य विशेषता है, उस पर पड़ा नायिका-भेद का प्रभाव । हमने लगभग २००० शृंगारी गीत देखे । उनमें से आधे से अधिक गीत विभिन्न नायिकाओं के लक्षणों के आधार पर बने हुए मिले । फिल्मी गीतों के विकास को यदि ध्यान से देखा जाय तो एक और बात स्पष्ट होगी । भारत में सन् १९३० के आस-पास फिल्मों का प्रचलन हुआ था । उस समय के गीतों में साहित्यिकता का समावेश, शैली, शब्द चयन, अलंकार आदि की दृष्टि से अधिक था । धीरे-धीरे गीतों

की भाषा में "हिन्दुस्तानीपन" आता गया। यह विकास भी जनरुचि का द्योतक है।

अब हम नायिका-भेद से प्रभावित फिल्मी गीतों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे :

"मोहे लागा लागा लागा लागा
मोहे लागा सौलवाँ साल······हाय मैं तो मर गई
अब जाना जाना जाना जाना पड़ेगा सुसराल मैं तो······
ये आया कहाँ से जंजाल मत पूछो मेरा कोई हाल
आज सुवह मैंने सपने में देखा
तो हो गई शरम से लाल······हाय मैं तो मर गई"

(फिल्म 'मशाल')

उपर्युक्त गीत में यौवनागम के आभास का वर्णन है। "ज्ञात यौवना मुग्धा" नायिका का उदाहरण है। यौवन के आगमन की कौतूहल पूर्ण रंगीन उलझनों का मार्मिक संकेत भी इसमें मिलता है।

लज्जा के कारण, दबी हुई रति-भावना से युक्त "नवोढ़ा" का एक उदाहरण देखिये :—

"सैंया ने उंगली मरोड़ी रे, राम कसम शरमा गई मैं,
मैका बुलावें जोरा जोरी रे, राम कसम शरमा गई मैं।
बड़े बेईमान हैं सैंया हमारे,
सब देखें वो करें इशारे,
बोले आजा चोरा चोरी रे, राम कसम······
नटखट मेरे निकट मत आना,
उंगली झटक नहीं हाथ दबाना,
दुखे कलाई गोरी गोरी रे, राम कसम······
एक न मानी मोरे सैंया नादान ने,
बाँह पकड़ गले डाली बेईमान ने,
चोली मसक गई मोरी रे, राम कसम शरमा गई मैं।

(परवाना)

निम्नलिखित गीत की एक विशेषता यह है कि इसमें "खंडिता" एवं ,'अधीरा" नायिका के चित्रण के साथा-साथ अन्तिम पंक्ति में "शठनायक" के संकेत भी मिलते है :—

"कटी रैन सगरी, भई भीर, पिया नहीं आये रहे किस ओर।
सौतिन संग तुम रहे हो सैंया, कहत मैं तुम्हारे ठौर,
भूल है जनियाँ ये भी तुम्हारी, काहे को छोड़ी डोर,

कहाँ बिगड़ के चली हो जनियाँ माफ करो हम चोर।"

(बड़े नवाब साहब)

निम्नलिखित गीत में 'अनूढ़ा' का स्पष्ट वर्णन है :—

"एक, दो, तीन, आजा मौसम है रंगीन
रात को छुप छुप के मिलना दुनियाँ समझे पाप रे
संभल के खिड़की खोल बलमवा देखे मेरा बाप रे
यह मद मस्त जवानी है तेरे लिये दीवानी है।"

(आवारा)

नीचे के वर्णन में 'ऊढ़ा परकीया' का वर्णन है :—

"छोड़ोजी, छोड़ोजी, छोड़ोजी, कनहैया कलैया हमार
दौड़ोजी दौड़ोजो दौड़ोजी देखे है सैयाँ हमार
नटखट हठीले छैल छबीले पकड़ो न हमारी बैंयाँ
जावोजी जावोजी जावोजी लो न बलैया हमार···
अच्छी नहीं ये बतियाँ छिछोरे काहे करो जोरा जोरी
छोटी ननदिया देवेगी ताना, खैंचों चुनरिया न मोरी

(बहार)

जैसा लोकगीतों में हुआ करता, फिल्मी-गीतों में 'परकीया' नायिका के वर्णन बहुत अधिक पाये जाते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से "परकीया प्रेम" का अपना एक विलग ही आकर्षण है।

प्रिय के आगमन पर प्रसन्नता से फूली न समाती "आगतपतिका" का एक चित्र देखिए :—

"जबसे बलम घर आये जियरा मचल मचल जाये
हो ! दिल ने दिल से कहा था फसाना
हो ! लोट आया है गुजरा जमाना
खुशियाँ साथ साथ लाये, जियरा मचल मचल जाये
हो ! रोके आँखों से दिलको छुपाऊँ, हो मुस्कुरा के सितारे लुटाऊँ
आशा झूम झूम गाये, जियरा मचल मचल जाये
दिन हैं अपने, मौहब्बत जवाँ है, हो ! उनसे आबाद, मेरा जहां है
मन के चोर चले आये, जियरा मचल मचल जाये"

(आवारा)

प्रिय मिलन के लिये आकुल कामार्त "अभिसारिका" भी शृंगार-पद्धति में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। निम्नलिखित वर्णन में 'अभिसारिका' के मन के भावों के साथ बाह्य सौन्दर्य का समावेश भी है :—

"चली मैं चली संभर के चली पिया की गली
जिया मोरा डगमग डोले री,
आँचल लहराये, कमरिया बलखाये,
घूँघुरवा रुनझुन रुनझुन बोले री......।
हटत पग पाछे बढ़त मन आगे,
विपद कहूँ कैसे
लाज मोहे लागे आस मोरी खाये झकोले री......।

(अपना पराया)

'श्वेताभिसारिका' तथा 'दिवाभिसारिका' के दो भावपूर्ण चित्र देखिये :—

श्वेताभिसारिका

'दम भर जो उधर मुंह फेरे ओ चन्दा
मैं उनसे प्यार कर लूंगी बातें हजार कर लूंगी
दिल करता प्यार के सजदे और मैं भी उनके पास चली रे,
चांद को चन्दा रोज ही देखे मेरी पहली रात
बादल में अब छुपजारे ओ चन्दा
मैं उनसे प्यार कर लूंगी बातें हजार कर लूंगी, चली रे।'

(आवारा)

दिवाभिसारिका

'भरी दुपहरिया में मिलने को आऊं, देख के ठंडी छांव
जरा चुपके से नैना मिला साँवरे कहीं देख न ले सारा गांव
कैसे कटे तुम बिन पल छिन रे मिलने का तुम से रास्ता कठिन रे
काँटा चुभे मेरे पांव, जरा चुपके से नैना मिला साँवरे कहीं
देख न ले सारा गांव।'

(छमछमाछम)

अपने प्रिय को अन्य नायिकाओं के साथ 'रहसकूद' करते देखकर दुखित होने वाली 'अन्य सम्भोग दुखिता' का यह चित्र पूर्णतः परम्पराबद्ध है:—

'रंग डारे सौतन पै सांवरिया, मैं तो सूखी खड़ी, हाय सूखी खड़ी।
मेरी भीगी न चोली चुनरिया, मैं तो सूखी खड़ी...
सौतन हुई रे फागुन में लाल, मोरे मन में बैसाख जेठ जैसी है ज्वाल,
सैंया मनायें तोसे रंगरलियां, कभी आयेगी हमारी भी बिरियां,
मैं तो...

(अपना पराया)

'कलहान्तरिता' की अतृप्त-वासना-जन्य यह मन-मसोस भी दर्शनीय है:—

"आई अटरिया पै सोने, न सोने दिया, उहूं उहूं ।
... ...
वह मुस्काय सखी, मैं क्या जानूं, 'मानो जी मानो'
जब वह गये सखी, हाय न माने जिया, उहूं उहूं ।
बलम आये आधी रात, करें हीले बहाने से बात, मैं न बोली ।'

(मेहमान)

वृद्ध पति से विवाहित होने के कारण नायिका के मन की कामातिरेक-जन्य घुटन का चित्रण करके इन गीतकारों ने एक नतन नायिका-अवस्था की अभिव्यंजना की है :—

"मैं बीस बरस की नार रे, बालम है मोरा साठ का,
काहे का हार सिंगार रे, बालम मोरा साठ का ।
सावन की ठंडी हवायें, मेरे बदन में तीर चलायें ।
मोहे करे पड़ौसी प्यार रे, बालम है मोरा साठ का ।
लोग कहें मोहे सदा सुहागन नारी, मैं तो ब्याही न कुंवारी ।
मैं तो डूब गई मंझदार रे, बालम है मोरा साठ का ।'

(दिल्लगी)

उपर्युक्त कामार्त नायिका में परकीया तथा गणिका दोनों के बीज वर्तमान हैं । इन कवियों ने 'सामान्या' या 'गणिका' का भी स्पष्ट चित्रण किया है :—

"तेरी चुनरी पै चमकें सितारे, जरा घूंघट उठारे,
कौन होते हो तुम जी हमारे, जो कहते हो घूंघट उठारे,
न सूरत दिखाऊंगी न घूंघट उठाऊंगी,
लाख पैया पड़ो तुम हमारे...।
हो, हो, जीवन की पूंजी, यह थैली हमारी,
करता हूं आज यह भेंट तुम्हारी,
यह थैली हमारी तो तुम भी हमारे
अपने हाथों से घूंघट उठा रे ।

(धनवान)

शारीरिक-सौन्दर्य वर्णन के क्षेत्र में "वय-सन्धि" एक ऐसी अवस्था है जिसमें कि अन्तस की उथलपुथल तथा शरीर के वाह्य चमत्कारी परिवर्तनों का साथ-साथ चित्रण किया जाता है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आन्तरिक भावनाओं का शारीरिक लावण्य के साथ मनोमुग्धकारी चित्रण किया जा सकता है । इन कवियों के इस सम्बन्ध में किये गये प्रयत्न भी दर्शनीय हैं :—

यह बात कितनी सच है माना कि पुरानी ।
बचपन की याद लेकर आती है जवानी ॥

यह बात कितनी सच है ।

... ...

सब की नजर बचा के हम झूलते थे झूले ।।
प्राणों में समाई है, अब तक वह कहानी । बचपन...
अय चमचमाते चन्दा व टिमटिमाते तारे ।
करते थे उन दिनों में कुछ और ही इशारे ।।
पल भर में रूठ जाना, सखियों का फिर मनाना ।
हाथों से मुंह छुपाके, फिर झट से मुस्कराना ।।
जीवन की वह कुछ घड़ियां थीं कितनी सुहानी । बचपन...

(चमकी)

तथा

जब आँखों में लाली छाने लगे
और घड़ी घड़ी अंगड़ाई आने लगे
तो समझो कि आई जवानी
दिवानी जवानी दिवानी जवानी
जब छिन छिन में अखियां फड़कें
और रह रह के दिल यह धड़के
तो समझो कि आई ...
जब दिल न रहे अपने बस में
इक बिजली सी दौड़े नस नस में
तो समझो कि आई ...
जब सूना लगे मन का कोना,
और सो न सके चाहे सोना
तो समझो कि आई—(सौदागर)

क्रमानुसार नखशिख वर्णन के लिये लोकगीतों में कम अवकाश रहता है । हां, शारीरिक सौन्दर्य के समन्वित चित्र उनमें बहुधा पाये जाते हैं । सौन्दर्य के निम्न-लिखित चित्र सरल हैं और चित्रपट के अनुरूप बनाये गए हैं :—

यौवन-वर्णन

गोल गोल चुड़ियां, गोल गोल बिंदिया पिया के मन को भाई हैं ।
चेहरा गुलाबी पतली कमरिया, अंगिया उनाबी,
जोवन पे क्या रंग लाई है...।

(शुक्रिया)

नेत्र-वर्णन

चलो घूंघट में गुइयां छुपा के
गजब तोरे नैना सितम तोरे नैना
करे घायल ये मिलके मिला के
गजब तोरे नैना सितम तोरे नैना
इन्हें तुझ से है प्यार, हो जाय तुझ पै निसार
डर लागे हमारे बहाने कहीं औरों पै वार
इन्हें राखो सखी समझा के, गजब तोरे नैना...
... ...
मोहे छेड़ो ना रो दूँगी, अच्छा न इतना सताना
कहीं लागे किसी से शरमा के
गजब तोरे नैना सितम तोरे नैना, चलो घूंघट में गुइयां।
(सिपहिया)

सोलह बरस की भई उमरिया
गोरे गोरे पांव में झाँझन चाल करे बदनाम, होय
संदल जैसे हाथ लचकीले कोई न ले दिल थाम
देख के चांद जैसा मुखड़ा रसिया बोले हाय राम
सच बोले हाय राम
सबकी लागी उससे नजरिया सोलह बरस की भई उमरिया
झाँझ सुनाये अपनी कहानी क्यों कोई होय
क्यों बोले ओय होय
देख किसी की मस्त जवानी क्यों कोई ललचाये ओय होय
क्यों कोई ललचाये
देख के सुन्दर सुन्दर मुखड़ा क्यों कोई खो जाये ओय होय
क्यों कोई खो जाये।
(आग)

इन चित्रों में केवल नारी-शरीर का लावण्य ही अंकित नहीं है अपितु प्रेमोन्माद-प्रेरक-प्रभाव का चित्र भी खींचा गया है।

मिलन-वर्णन के अन्तर्गत प्रथम दर्शन पर प्रेम की उत्पत्ति का चित्र देखिये :—

मोहे लागे सारा जग फीका फीका
मारा तीर यह कैसा तीखा तीखा
तेरी आँखों ने किये हैं जो इशारे
मेरे दिल के बने हैं वह सहारे

मेरे नैनों में बलम यह क्या दीखा । लागे जग···
तूने नैनाँ जो मुझ से मिलाये
मेरे दिल से निकली हाय हाय
हुआ हाल बुरा मेरे जी का। मारा तीर···

(झाँझर)

प्रेमी तथा प्रेयसी की "चुहल" का निम्नलिखित सांकेतिक वर्णन रति-क्रीड़ा की व्यंजना करता है :—

मोरे अंगना में आये आली, मैं चाल चलूँ मतवाली ।
जब आंचल हमरा पकड़े हम हंस हंस उनसे झगड़ें
चोली पै नजरिया जाये मौरी चुन्द्री लिपट मोसे जाये
मेरी ओर बढ़ैं, मेरे पैंयां पड़ें, कहें मानों बात हमारी
मैं आह भरूँ मुख फेर कहूँ, नहीं मानूं बात तिहारी ।

(विद्यापति)

जैसा कि हम पहले कह आये हैं, "सैंसर" की कैंची के भय के कारण "खुल्लम-खुल्ला" रतिक्रीड़ा का वर्णन करने का अवकाश फिल्मी-गीतों में नहीं होता । इसी कारण फिल्मी-गीतों में वातावरण चित्रण, तथा उद्दीपन विभाव के माध्यम से, रति-भावना का उद्रेक व्यंजित किया जाता है । संभोग-शृंगार का संयमित संकेत ही इनमें संभव होता है । फिर भी इन कवियों ने भरसक प्रयत्न किया है :—

ऊँची अटारी मेरी फली फुलवारी
दुनियाँ है न्यारी मेरी आज तो सारी ।
···　　···　　···
चांदनी रात में सिरहाने चाँद हो,
फूलों की सेज पर तुम मेरे साथ हो
गले में हाथ, आँखों आँखों में बात हो
जरा धीरे से बत्ती बुझाइयो राजाजी···।　　(सफर)

"सुरतान्त" के चित्रण में तो और भी बाधाएँ हैं, इस कारण इन गीतों में केवल, 'प्रभाव' तथा 'वातावरण', या नैपाली जी के अनुसार, 'मूड' का ही चित्र किया जा सकता है :—

राजद्वार पर बाज उठी शहनाई
छोड़ सुहागिन सेज पिया की, चली बुझाने ज्योति दिया की
नैन मीच जम्हाई लेके, लेन लगी अंगड़ाई,
बाज उठी शहनाई ।

(कालिदास)

ऊपर के उद्धरणों में रीतिकालीन प्रभाव स्पष्ट है ही। इन गीतों में प्राचीन परम्पराबद्ध परिस्थितियों (होली, हिंडोरा) की कल्पना भी की जाती है। 'हिंडोरा' के निम्नलिखित वर्णन में प्रकृति के 'उद्दीपन स्वरूप' का समावेश पाया जाता हैं :—

झूले में पवन के आई बहार
नयनों में नया रंगलाई बहार······प्यार छलके
डोले मन मोरा साजना चुन्दरिया बार बार ढलके
मेरी तान से ऊंचा तेरा झूलना गोरी
मेरे झूलने के संग तेरे प्यार की डोरी
तू है जीवन सिंगार प्यार छलके······
बादल झूमते आये गागर प्यार की लाये
कोयल कूकती जाये वन में मोर भी गाये
छेड़े हम तुम मल्हार प्यार छलके······

(बैजूबावरा)

आई बरखा बहार पड़े बूँदन फुहार
बैरी बिन बरखा सुहाये न सखी
ओ दैइया उनबिन मोहे कछु भाये न सखी, ओरे ओरे···
ओ पवन चलै पुरवैया, मोरी डोले हृदय की नैय्या
ओ मेरे राजा बलम घर आये न सखी, बैरी बिन बरखा···
नयन तकत बालम की राहें, गले मिलन को व्याकुल बाहें
ओ मोरा चैन कलेजुवा पाये न सखी, बैरी बिन बरखा...
याद आई इक बात सुहानी, छलक गई आँखों से जवानी
कोई छैला की याद दिलाये ना सखी बैरी, बिन बरखा...

(शोखियाँ)

रुमझुम बरसे बादरवा, मस्त हवायें आईं पिया घर आजा
काले काले बादल घिर घिर आगये
सावन कैसे बीते रे मैं कहाँ तुम कहाँ,
ओ मोरे राजा, आजा······
मुझ बिरहन के हाल पै बादल रोते हैं
बालम हमरे आंख मूंद कर सोते हैं।
... ...
प्यासे दोनों नैंनवा, प्यासा जोवन वा मोरा
मोरी कसम आजा.........

(रतन)

शरद ऋतु आई बड़ी रे दुख दायी

बलम तुमने प्रीत निभाई नहीं हाय
सलोनी सुरतिया दिखाई नहीं हाय ......।
(कादम्बरी)

उपर्युक्त तीनों गीतों में विरह का अति मार्मिक वर्णन है। फिल्मी-गीतों की यह विशेषता है कि उनमें विरह का वर्णन प्रकृति के उद्दीपक स्वरूप के चित्रण के साथ ही किया जाता है। विरह-वर्णन में फिल्मी-गीतों ने शुद्ध रीतिकालीन परिपाटी का अनुसरण इस सीमा तक किया है कि शैली, अलंकार आदि ही नहीं, उस काल की माधुर्यमयी ब्रजभाषा भी कहीं कहीं अपना ली है।

प्रकृति के स्वतंत्र (आलम्बन रूप में) चित्रण इन लोगों ने नहीं किये हैं। प्रकृति को सर्वदा रति-भाव के उद्दीपक के रूप में ही इन्होंने स्वीकार किया है। निम्नांकित भाव-चित्र देखिये :—

बसन्त ऋतु आई रामा जोबना उभार के,
रस की कटारी मारे कोयल पुकार के,
आई बहार मारे फुलवा के तीर हाय फुलवा के तीर
उठे करेजवा में मीठी सी पीर हाय मीठी सी पीर।
(सिन्दूर)

तथा

बसन्त ऋतु आई रे, छाई हरियाली
झूले झूल रही, सुध बुध भूल रही
बालम संग कोई......।
... ...

मार्‌यौ तान तान कामदेव कुसुम बान,
राजा और रंक सभी मोहित भये,
महक उठे बन उपबन, चहक उठे पंछी गन,
भूमि गगन सब ही शोभित भये......
... ...

साजन बिन कोई मदन मदमाती
बिछाये पथ नैना तड़प रह जाती
है छाई अंग अंग में फागुन की लाली
बसन्त ऋतु आई रे, छाई हरियाली।

(रत्नावली)

इन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि प्रकृति का सौन्दर्य तथा असौन्दर्य प्रिय के मिलन तथा वियोग पर ही आधारित है :—

सावन ग्राये न ग्राये
पिया घर ग्राये सावन है
प्रीतम प्यारा जब मिल जाये
तभी बसन्त बसावन है
सजनी जब साजन संग झूले
वोही तो मन भावन है।

(साधना)

प्रकृति के उद्दीपक स्वरूप के महत्व की स्थापना इतने जोरदार शब्दों में करके, इन्होंने रीति-परिपाटी की लीक को ग्रौर भी गहरा बना दिया है। यही नहीं, विभिन्न ऋतुग्रों के उद्दीपक स्वरूप का चित्रण भी बारहमासे के रूप में इन्होंने किया है :—

एक बार तो बनजा मेरा ग्रो परदेशी फिर देख मजा
मिल जाये मुझे दिल तेरा ग्रो परदेशी फिर देख मजा
चैत का महीना हो भीगी भीगी रात हो
बाजरे के खेत में पहली मुलाकात हो
ग्राये जब **बैसाख** पिय मेले के नजारे हों
हाथों में हो हाथ तुम्हारा ग्राँखों में इशारे हों
जेठ ग्रौर **ग्राषाढ़** में नदी का किनारा हो
... ...
भादों की बरसात में दिल न रहे हाथ में
ग्राये जब **ग्रसौज** पिया हवा सर्द हो
तेरे मेरे दिल में फिर मीठा मीठा दर्द हो, फिर देख मजा
कातिक का महीना हो पास में तेरे ग्राऊं मैं
राजा मोहे डर लागे सिमटी सिमटी जाऊं मैं
माघ की ग्रंधेरी रातें करती हों जइ सां सां
रह रह के तू मुझे बुलाये मैं करती जाऊं ना ना।

(शबनम)

कालानुक्रम के ग्रनुसार जनरुचि की नाड़ी को उन्होंने पहिचाना है। इसका एक उदाहरण देखिये। फिल्मी-गीतों में बारहमासे के लिए गीतकारों ने ग्रंग्रेजी महीनों का प्रयोग करके हमारी परिवर्तित होती हुई सभ्यता का संकेत किया है।[1]

---

१. **ग्राती है याद हमको जनवरी फरवरी**
पहली पहली मुलाकात हुई मेरी तुम्हारी
ठंडी ठंडी रात की ये भीनी चाँदनी

कलापक्ष में इन कवियों ने रीतिकाल के अनुकरण पर सप्रयत्न कोमल-कान्त-पदावली का प्रयोग करने का ही प्रयत्न नहीं किया, अपितु देव आदि कवियों के समान अनुकरणात्मक शब्दावली का प्रयोग भी किया है। शृंगार-रस के उपयुक्त माधुर्य गुण लाने के लिये इन्होंने खड़ीबोली को ब्रजभाषा का सा लालित्य प्रदान करने का प्रयास किया, यही नहीं, कभी कभी तो इन्होंने शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग भी किया है।[१]

अलंकार—लोकगीतों के रस का आनन्द लेने वाली सामान्य जनता काव्य-शास्त्र का ज्ञान नहीं रखती, इस कारण किसी भी बोली के लोकगीतों में साहित्यिक स्तर के अलंकारों का प्रयोग नहीं किया जाता। रूपक उपमा आदि का प्रयोग सामान्य बोल-चाल में सभी करते हैं और उनका प्रचुर प्रयोग इन गीतों में भी पाया जाता है। वैसे एक आध स्थान पर "प्रतीप" जैसे अलंकारों का प्रयोग भी मिलता है :—

(पृष्ठ २२७ का शेष)

मीठे मीठे प्यार की ये प्यारी रागनी
आती है याद हमको जनवरी......
मार्च अप्रेल मई जून, लुटा है दिल का सकून
उम्मीदों का हुआ खून, मार्च अप्रैल मई जून
हाय ! दुनियां बड़ी बेकदर सह न सकी ये मगर
नजरों से मिले नजर दिल से मिले दिल
आती है याद हमको जनवरी......
जुलाई अगस्त सैप्टम्बर आहों का है बवंडर
आँसू का है समंदर जुलाई अगस्त सेप्टम्बर — आदि।
(मुकद्दर)

१. मोहे भूल गये सांवरिया
आवन कहि गये अजहूँ न आये
लीन्हीं न मोरी खबरिया ॥ (बैजूबावरा)

तथा

नैना लगा के सुख ले गयो
दुख दे गयो परदेशी सैंयां
... ...
कौन बताये मोहि डगरिया
नाम प्रीतम प्रेम नगरिया
इतना पता मोहि दे गयो परदेशी सैंया ॥ (परछाई)

जैसे गाल किसी गोरी के ऐसे खिले गुलाब
सूरज की चंचल किरणों की नियत हुई खराब
चलते हैं तीर हरदम।
(नौबहार)

इस प्रकार हमने देखा कि खडी बोली के लोकगीतों ने रीतिकालीन परिपाटी का पूर्ण परिपालन किया है।

स्पष्ट है कि प्रसाद-पन्त-निराला-युग में रीतिकाल का प्रभाव काव्य के दो क्षेत्रों में (ब्रजभाषा के कवियों तथा खडी बोली के लोकगीतों पर) पूर्णरूप से पाया जाता है। छायावादी, प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी युगों में शृंगार का जो चित्रण किया गया है उसका रीतिकालीन शृंगार से कहीं-कहीं साम्य तो है, किन्तु प्रभाव उस पर विशेष नहीं है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हमने देखा कि रीतिकाल की अन्यायपूर्ण कटु आलोचना, उसके काव्य पर इतनी आधारित नहीं है, जितनी कि अन्य विवादों पर। रीतिकाल में जिस परिपाटी के शृंगार का वर्णन पाया जाता है वह उससे पूर्व की चली आती परम्परा ही है, तथा रीतिकाल में केवल शृंगार की, तथा केवल परिपाटी बद्ध कविता ही नहीं हुई थी।

आधुनिक काल की कविता का विवेचन करके हमने देखा कि :—

१. भारतेन्दु-युग के तीन चौथाई से अधिक काव्य के भाव तथा कलापक्ष पर रीतिकाल का स्पष्ट प्रभाव है।

   यही नहीं, हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु-युग की तीन चौथाई कविता रीतिकालीन कविता का परिशिष्ट मात्र है।

२. द्विवेदी-युग की लगभग आधी कविता पर रीतिकालीन कविता का पूर्ण प्रभाव है।

३. आधुनिक काल की एक चौथाई (ब्रजभाषा की कविता तथा खड़ीबोली के लोकगीतों पर) कविता के भाव तथा कलापक्ष पर रीतिकाल का स्पष्ट प्रभाव है और शेष कविता के भावपक्षीय शृंगारी अंग का रीतिकालीन कविता से साम्य सा है।

———

परिशिष्ट

१—'रीति'

हिन्दी में 'रीति' का प्रयोग साधारणतः लक्षण- ग्रन्थों के लिए होने लगा हैं। जिन ग्रन्थों में काव्य के विभिन्न अंगों का (लक्षण उदाहरण सहित) विवेचन होता है उन्हें रीति-ग्रन्थ कहते हैं और जिस वैज्ञानिक पद्धति पर जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता हैं उसे रीति-शास्त्र कहने लगे हैं। संस्कृत में 'रीति' का एक विशेष अर्थ है और उसे एक विशेष सम्प्रदाय के लिए प्रयुक्त किया गया है। रीति का अर्थ वहाँ है 'विशिष्ट पद-रचना'। सम्भव है आरम्भ में हिन्दी में रीति शब्द का मूल संकेत रीति सम्प्रदाय से ही लिया गया हो परन्तु वास्तव में यहाँ इसका प्रयोग सर्वथा सामान्य एवं व्यापक अर्थ में ही हुआ है। यहाँ काव्य-रचना सम्बन्धी नियमों के विधान को ही समग्रतः 'रीति' नाम दे दिया गया है। जिस ग्रन्थ में रचना सम्बन्धी नियमों का विवेचन हो वे 'रीति-ग्रन्थ' और जिन काव्यों की रचना इन नियमों के आधार पर हो वे 'रीति-काव्य' कहलाने लगे और यह मान लिया गया कि इस काव्य में वस्तु की अपेक्षा 'रीति' अथवा आकार की आत्मा के उत्कर्ष की अपेक्षा शरीर के अलंकरण को प्रधानता मिलती है।[1]

इस प्रकार रीति शब्द का यह विशिष्ट प्रयोग हिन्दी का अपना प्रयोग है :—

१. अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि रीति।

देव : 'शब्द रसायन'

२. काव्य की रीति सिखी सुकवीन सों, देखी सुनी बहु लोक की बातें।

दास : 'काव्य निर्णय'

३. कविता-रीति कछु कहत हों व्यंग्य अर्थ चित लाय।

—प्रताप साहि (व्यंग्यार्थ-कौमुदी)

इसी प्रकार पद्माकर ने अपने 'पद्माभरण' में अलंकार-विवेचन को 'अलंकार रीति' कहा है। 'रीति' से इनका तात्पर्य स्पष्टतः प्रकार प्रणाली का है। रीतिकाल के उत्तरार्द्ध में यह शब्द काफी प्रचलित हो गया था और उसकी समाप्ति तक तो इसका मुक्त प्रयोग हो चला था। सरदार आदि कवियों के समय में यह शब्द इस रूप में सर्वसाधारण में स्वीकृत था। इसी के अनुसार मिश्रबन्धुओं ने इस युग का

---

१. 'रीति काव्य की भूमिका', डा० नगेन्द्र, पृ० १२९।

नाम 'अलंकृतकाल' रखते हुए भी इन कवियों के ग्रन्थों की रीति-ग्रन्थ और उनके विवेचन को 'रीति-कथन' ही कहा है।

रीति शब्द जैसा कि कुछ लोगों का विचार है—शुक्ल जी का आविष्कार नहीं है। वह बहुत पहले से हिन्दी में प्रयुक्त हो रहा था किन्तु अब उसका अर्थ हिन्दी में रीतिकाल के नाम के संसर्ग से अत्यन्त विस्तृत हो गया है। उनसे पूर्व 'रीति' शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नहीं था। ऐसे लक्षण ग्रन्थों के लिए भी जिसमें रीति-कथन तो नहीं है परन्तु रीति-अनुगमन निश्चित रूप से है, 'रीति' संज्ञा शुक्ल जी से पहले अकल्पनीय थी। इस प्रकार धीरे-धीरे लक्ष्य-ग्रन्थकार भी 'रीति-कवि' के नाम से पुकारे जाने लगे। शुक्ल जी ने कुछ अंशों में वामन के 'रीति' शब्द का अर्थ संकेत भी ग्रहण करते हुए रीति को एक प्रकार का दृष्टिकोण ही मान लिया है। यह उनकी विशेषता थी।

धीरे-धीरे 'रीति-काव्य' के अन्तर्गत दो प्रकार के ग्रन्थ माने जाने लगे :—

१-सलक्षण

२-अलक्षण

सलक्षण ग्रन्थ वे हैं जिनमें काव्य-रचना किसी काव्यांग लक्षण के उदाहरण रूप में हुई हो, साथ ही लक्षण भी दिया हुआ हो। अलक्षण ग्रन्थ वे हैं जिनमें लक्षण का विवेचन तो नहीं होता परन्तु लक्षणों को ध्यान में रखकर काव्य की रचना होती है। कालान्तर में 'रीति-काव्य' का प्रयोग 'लक्षण' तथा 'लक्ष्य' दोनों प्रकार के ग्रन्थों के लिये हिन्दी में होने लगा।

लक्षण ग्रन्थकारों का श्रेणी-विभाग

प्रसंगवश हम यहाँ रीति-ग्रन्थकारों का श्रेणी-विभाग भी दिये देते हैं:—

१—आचार्य श्रेणी

इस श्रेणी में वे लेखक आते हैं जिन्होंने शास्त्रीय शैली में मौलिकता के साथ रीति-ग्रन्थ रचे हैं, इस श्रेणी में केशवदास, भिखारीदास, लछिराम आदि आते हैं।

२—अनुवादक श्रेणी

मतिराम, देव, यशवन्त सिंह, भूषण, पद्माकर आदि इस श्रेणी के हैं।

३—साधारण श्रेणी

जो लोग किसी संस्कृत ग्रन्थ के आधार पर स्वतंत्र रूप से अपने रीति-ग्रन्थ लिखते थे। यथा, समसिंह, दूलह, गोविन्द आदि।

अ—सम्यक् काव्य-शास्त्रकार

जो लोग काव्य-शास्त्र के सभी अंगों का विवेचन करते हैं, यथा :—दास, चिन्तामणि त्रिपाठी, लछिराम आदि।

ब—केवल अलंकार लेखक

जसवन्त सिंह, दूलह, मतिराम, भूषण आदि।

स—रस तथा नायिका-भेद लेखक

जो केवल रसों तथा नायक-नायिका-भेद आदि अन्य अंगों पर प्रकाश डालते हैं—यथा देव, पद्माकर आदि।[1]

२—नायिका-भेद (परिभाषा और महत्व)

नायिका-भेद के आचार्यों ने नायिका की इस प्रकार की परिभाषा की है—'जिस रमणी को देखते ही चित्त में शृंगार रस का संचार हो, उसे नायिका कहते हैं।[2] काव्य के प्राणस्वरूप नव रसों में शृंगार एक प्रमुख रस है। विभाव अनुभाव और संचारी भावों के एकीकरण से स्थायीभाव 'रति' परिपुष्ट होकर 'शृंगार रस' संज्ञा को प्राप्त होता है। इस प्रकार विभाव (शृंगार) रस का एक अंग हुआ। विभाव के दो भेद होते हैं—आलंबन और उद्दीपन। शृंगार रस के आलंबन नायिका और नायक होते हैं, अतः शृंगार रस के आलंबन-विभाव के अन्तर्गत नायिका-भेद काव्यशास्त्र के विशाल परिवार का एक लघु अंग ही नहीं, प्रत्युत एक आवश्यक उपांग है।

इस 'उपांग' ने व्रजभाषा के कवियों को कुछ ऐसा प्रभावित किया कि उनमें से वड़े-बड़े प्रतिभाशाली कवियों की सम्पूर्ण प्रतिभा और शक्ति इसी विषय के वर्णन में लग गई। कई सौ वर्षों तक अगणित सर्वोच्च श्रेणी के कलाकारों ने पूर्ण साधना के साथ अपने जीवन के अनेक अमूल्य वर्षों को इस बिषय के प्रतिपादन में लगा दिया। हिन्दू राजा-महाराजा और सामन्त-सरदारों के अतिरिक्त मुसलमान बादशाह-नवाब और अमीरों ने भी इस विषय की रचना में इतनी विपुल-जन शक्ति और धन-शक्ति दी कि उसका साहित्य में अनुपम महत्त्व होगया है।

नायिका-भेद का उद्गम स्थान

नायिका भेद की परम्परा काव्य-शास्त्र की परम्परा के साथ ही साथ आरम्भ होती है। इस विषय का सर्वप्रथम वर्णन महामुनि भरत के 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है। 'नाट्यशास्त्र' जैसे संस्कृत-रीति-साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ में इस विषय का विस्तार पूर्वक उल्लेख होने से नायिका—भेद का महत्त्व स्वयं सिद्ध है। भरतमुनि ने

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—पं० रामशंकर शुक्ल, 'रसाल'।

२. रस सिंगार को भाव उर उपजत जाहि निहारि।
ताही कों कवि नाइका वरनत विविध विचारि॥

'जगद्विनोद'

नायिकाओं का वर्णन उस क्रम से नहीं किया है, जैसा कि इस विषय के अन्य आचार्यो ने किया हैं। इसके दो कारण हैं। प्रथम तो नाट्यशास्त्र एक अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है, अतः उसमें इस विषय की आदिम अवस्था का ही रूप दिखलाई देता है, दूसरे नाट्यशास्त्र अभिनय सम्बन्धी ग्रन्थ है, अतः उसमें नायिकाओं का वर्णन अभिनय से सम्बन्धित होने के कारण हुआ है। फिर भी भरतमुनिकृत नायिकाओं के अन्तर्गत किसी न किसी रूप में वर्तमान नायिका-भेद की लगभग सभी नायिकाएँ आजाती हैं, अतः महामुनि भरत इस विषय के प्रवर्तक और 'नाट्यशास्त्र' इसका उद्गम स्थान है।

'नाट्यशास्त्र' के पश्चात् व्यासदेव कृत 'अग्निपुराण' में इस विषय का उल्लेख मिलता है। उक्त पुराण में शृंगार-रस को विशेष महत्त्व दिया गया है, इसलिये उसमें प्रसंगवश नायिका-भेद का भी वर्णन किया गया है।

भरत और व्यास का निश्चित समय निर्धारित नहीं हो सका है, किन्तु वे अवश्य ही विक्रम संवत् से पूर्व के हैं। इन प्राचीन मुनियों के ग्रन्थों के अतिरिक्त फिर शताब्दियों तक नायिका-भेद का साहित्य उपलब्ध नहीं होता। संस्कृत-साहित्य में भरत और व्यास के अनन्तर दसवीं शताब्दी के उपरांत होने वाले आचार्यों के ग्रन्थों में ही नायिका भेद का थोड़ा बहुत उल्लेख मिलता है। संस्कृत-साहित्य के अनेक आचार्यों में से रुद्रट, धनंजय, भोज, मम्मट, रुय्यक, भानुदत्त, वाग्भट्ट द्वितीय, विश्वनाथ, केशव-मिश्र आदि ने नायिका-भेद का थोड़ा बहुत उल्लेख किया है। इन आचार्यों के ग्रन्थों में भी धनंजय कृत 'दशरूपक' विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण' और भानुदत्त कृत 'रस मंजरी' मुख्य हैं। इनमें नायिका-भेद का अपेक्षाकृत अधिक वर्णन है। इनमें भी 'साहित्य दर्पण' और 'रसमंजरी' में ही इस विषय की विशेष सामग्री मिलती है।

'दश रूपक' में रसमंजरी और साहित्यदर्पण की तरह नायिका-भेद का विस्तार पूर्वक वर्णन न होने पर भी उसका महत्त्व इसलिए अधिक है कि भरत के शताब्दियों पश्चात् सर्वप्रथम इसी में इस विषय का विस्तार सहित उल्लेख मिलता है। भरत-मुनि ने नायिकाओं का वर्णन अभिनय के सम्बन्ध में किया था, यही आदर्श 'दशरूपक',-कार का भी है। वास्तव में नायिका-भेद की उत्पत्ति का कारण अभिनय ही है, काव्य में उसका प्रवेश बाद में हुआ।

धनंजय का काल विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दशरूपक' में भरत मुनि द्वारा उल्लिखित 'स्वाधीन पतिका' आदि अष्ट नायिकाओं के अतिरिक्त नायिका के 'मुग्धा,' 'मध्या' और 'प्रगल्भा', इन तीन भेदों का भी उल्लेख किया है। 'मुग्धा' के 'बयोमुग्धा', 'काममुग्धा', 'रतिवामा' और 'कोपमृदु' ये चार भेद; 'मध्या' के यौवनवती और 'कामवती' ये दो भेद एवं 'प्रगल्भा' के 'गाढ़यौवना', 'भाव प्रगल्भा' और 'रतिप्रगल्भा' ये तीन भेद लिखे हैं। इनसे स्पष्ट है कि धनंजय कृत ये उपभेद वर्तमान नायिका-भेद के अनुकूल नहीं हैं। 'धीरादि' भेद 'मध्या' के साथ और

प्रगल्भा' के भेद 'प्रगल्भा' के साथ होने से वर्तमान नायिका-भेद के अनुसार हैं। इसके अतिरिक्त-'परिकीया' और 'सामान्या' का भी कथन हुआ है। इस प्रकार धनंजय कृत 'दशरूपक' नायिका-भेद परम्परा का एक उल्लेखनीय ग्रन्थ है।

भानुदत्त संस्कृत साहित्य में नायिका-भेद के सर्व प्रधान विवेचन कर्त्ता हैं। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस तरंगिणि' और 'रसमंजरी' द्वारा संस्कृत साहित्य में नायिका-भेद का विस्तार पूर्वक कथन किया है। उनकी 'रसमंजरी' इस विषय की बड़ी महत्वपूर्ण रचना है।

आचार्य विश्वनाथ ने अपने "साहित्य दर्पण" में काव्य के अन्य अंगों के साथ नायिका-भेद का भी विस्तार पूर्वक उल्लेख किया है। ब्रजभाषा कवियों ने नायिका भेद कथन के लिये भानुदत्त और विश्वनाथ दोनों के ग्रन्थों से सहायता ली है, किन्तु वास्तव में "रसमंजरी" ही ऐसी रचना है, जिसके आधार पर नायिका-भेद की परिपाटी निश्चित की गई है। "साहित्य दर्पण" में समस्त काव्यांगों का एक ही स्थान पर विस्तृत वर्णन होने से ब्रजभाषा आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उसका भी विशेष रूप से उपयोग किया। रस-प्रकरण की अन्य बातों के लिये 'साहित्य-दर्पण' विशेष रूप से सहायक रहा है, किन्तु नायिका-भेद कथन में उसका इतना अधिक उपयोग नहीं हुआ, जितना "रसमंजरी" का। रसमंजरी में वर्णित नायिकाओं का क्रम ही ब्रजभाषा आचार्यों ने नहीं लिया, अपितु उसके रस–कथन की प्रणालीं भी उन्होंने स्वीकार कर ली 'साहित्य-दर्पण' में वर्णित नायिकाओं के उपभेद ब्रजभाषा नायिका-भेद में ग्रहण नहीं किये गये, जबकि 'रसमंजरी' के उपभेदों तथा अन्य नायिकाओं को वहाँ पर उसी रूप में ले लिया गया है।

भक्त-कवि और नायिका-भेद

भक्त कवियों की रचनाओं में श्रृंगार रस और नायिका-भेद का जो प्रभाव दिखलाई देता है, वह उनकी उपासना पद्धति और उनके सांप्रदायिक सिद्धान्तों के कारण है। नंददास ने अपनी 'रसमंजरी' और 'रूपमंजरी' नामक रचनाओं में इस विषय को स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने रसमंजरी के आरम्भ में ही कहा है कि इस संसार में जो कुछ 'रस' है, उस सबका पर्यवसान का स्थान परमात्मा है—जिस प्रकार कि जल अनेक नदियों में बहता हुआ भी अन्ततः सागर में ही जाकर समाता है। जब 'रस' का आधार ही परमात्मा है, तब रसपूर्ण कथन में संकोच क्यों होना चाहिए। बल्कि इस संसार में जो कुछ रूप, प्रेम और आनन्द विषयक रस हैं, वह सब परमात्मा का है, इसलिये उसका वर्णन निस्संकोच होकर करना चाहिये।

> है जु कछुक रस यह संसारा। ताकै प्रभु तुमही आधारा॥
> ज्यों अनेक सरिता जल बहै। आन सबै सागर में रहै॥

रूप, प्रेम, आनन्द रस, जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरिधर देव कौ, निधरक बरनों ताहि ।।
—नंददास, ('रसमंजरी')

नंददास ने लिखा है कि नायिका-भेद को जाने बिना प्रेम तत्व की पहिचान ही नहीं हो सकती। अपने इस कथन के समर्थन में उन्होंने फिर कहा है कि इस को जाने बिना, प्रेम का परिचय उसी प्रकार नहीं हो सकता, जिस प्रकार पंगु ऊँचे पर्वत पर नहीं चढ़ सकता।

एक मित्र हम सों अस गुन्यौ। मैं नायिका-भेद नहि सुन्यौ।।
जब लग इनके भेद न जानै। तवलग प्रेम तत्व न पहिचानै।।
विन जाने यह भेद सब, प्रेम न परचै होय।
चरन हीन ऊँचे अचल, चढ़त न देख्यों कोय।।
—नंददास, ('रसमंजरी')

ध्यान देने की बात है कि भक्त-कवियों में प्रेम का महत्व सबसे अधिक माना गया है। लोक और वेद के ऊपर प्रेम की प्रतिष्ठा करना ही उन भक्त कवियों की प्रेम लक्षणा-भक्ति है। इस प्रेम के परिचय के लिये नायिका-भेद की अनिवार्यता मान कर उन भक्त कवियों ने 'वेधड़क' नायिका-भेद के वर्णन लिखे हैं। भक्त-कवियों द्वारा नायिका-भेद के कथन का औचित्य बतलाते हुये तत्सम्बन्धी इतनी स्पष्ट स्वीका-रोक्ति और क्या हो सकती है।

रस-रीति का प्रमुख अंग नायिका-भेद

ब्रजभाषा-नायिका-भेद का प्रधान आधार संस्कृत ग्रंथ 'रसमंजरी' है। उक्त ग्रन्थ में शृंगार रस के विभावान्तर्गत नायिका-भेद का ही विशेष वर्णन है। ब्रजभाषा नायिका-भेद के कवियों एवं आचार्यों ने भी इसी परिपाटी को ग्रहण किया। मतिराम का 'रसराज' इसी पद्धति का आदर्श ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने नायिका-भेद का विस्तार पूर्वक वर्णन कर रस-भेद की अन्य वातें संक्षिप्त रूप से लिखीं हैं। केशवदास की 'रसिकप्रिया' का क्रम दूसरा है। उसमें विविध संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर रस रीति का विशद वर्णन करने पर भी नायिका-भेद का उतना ही विवेचन किया गया है, जितना एक रस के उपाँग का होना उचित है। केशवदास के परिवर्ती कवियों में केवल देव ने अपने आरम्भिक ग्रन्थों में उनका कुछ अनुसरण किया है, किन्तु अन्य कवियों को मतिराम की शैली ही उपयुक्त ज्ञात हुई।

उस समय के धर्माचार्य, उनकी भक्ति-भावना, तथा उनसे प्रभावित कविगण, उस समय की राजकीय एवं सामाजिक स्थिति, सब ने ब्रजभाषा के शृंगार रस, और

विशेष कर नायिका-भेद के साहित्य की उन्नति की, और ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

आधुनिक गद्य-ग्रन्थों में नायिका-भेद

प्राचीनकाल के कवियों ने साहित्य के सभी अंगों का कविताबद्ध वर्णन किया था। इसी परिपाटी के अनुसार नायिका-भेद का भी कविता में कथन किया गया। वह युग ही कविता का था, इसलिये सभी प्रकार के विषय—ज्योतिष, वैद्यक तक कविता में लिखे गये थे। ऐसी दशा में नायिका भेद, जो काव्य का ही एक अंग है, अब तक कविता में लिखा जाता रहा, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

युग परिवर्तन के साथ जब गद्य का प्रचार हुआ, तब सभी विषयों को गद्य में लिखा जाने लगा।

इस युग में नायिका-भेद के स्पष्टीकरण के लिये भी गद्य के उपयोग की आवश्यकता हुई। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये अयोध्या नरेश महाराजा प्रताप नारायणसिंह 'ददुआ साहब' ने 'रसकुसुमाकर' और श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने 'काव्य प्रभाकर' ग्रन्थों में लक्षण, संक्षिप्त रूप से, गद्य में दिये हैं, और उनके अधिकांश भाग में तत्सम्बन्धी कविताओं का उदाहरण रूप में संग्रह किया है।

आधुनिक काल के गद्यात्मक रस-ग्रन्थों में रस-प्रकरण की अन्य बातों के साथ नायिका-भेद का भी थोड़ा बहुत उल्लेख किया गया है। इस प्रकार के ग्रन्थों में भी श्री बाबूराम वित्थरिया कृत 'हिन्दी काव्य में नवरस' में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार कृत 'रसमंजरी' श्री गुलाबराय कृत 'नवरस' और श्री हरिशंकर शर्मा कृत 'रस रत्नाकर' मुख्य हैं।

नायिका-भेद का मनोवैज्ञानिक आधार

प्राचीन आचार्यों ने नायिका भेद के विभिन्न आधार माने हैं :—

१. जाति—पद्मिनी, शंखिनी इत्यादि
२. कर्म—स्वकीया, परकीया, सामान्या
३. पति का प्रेम—ज्येष्ठा, कनिष्ठा
४. वय—मुग्धा, मध्या, प्रोढ़ा
५. मान—धीरा, अधीरा, धीराधीरा
६. दशा—दुःखिता, मानवती और गर्विता आदि
७, काल (अवस्था)—प्रोषित पतिका, कलहान्तरिता, खंडिता, अभिसारिका आदि।
८. प्रकृति या गुण—उत्तमा, मध्यमा, अधमा।

वर्गीकरण :—

जाति अनुसार नायिकाएँ

१. पद्मिनी
२. चित्रिनी
३. शंखिनी
४. हस्तिनी

धर्मानुसार नायिकाएँ
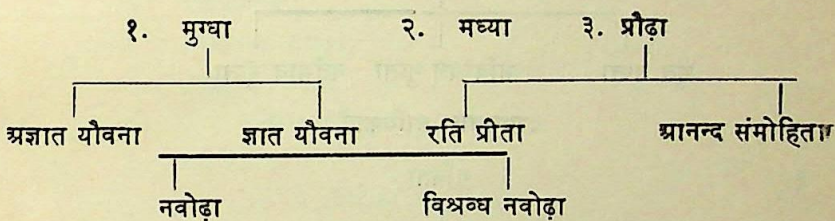
१. स्वकीया
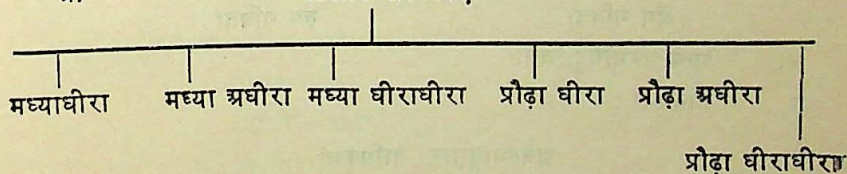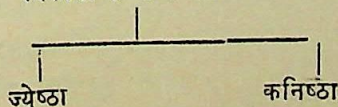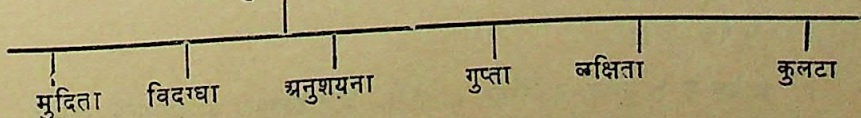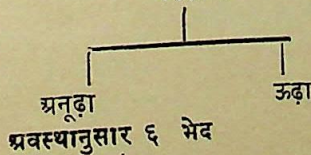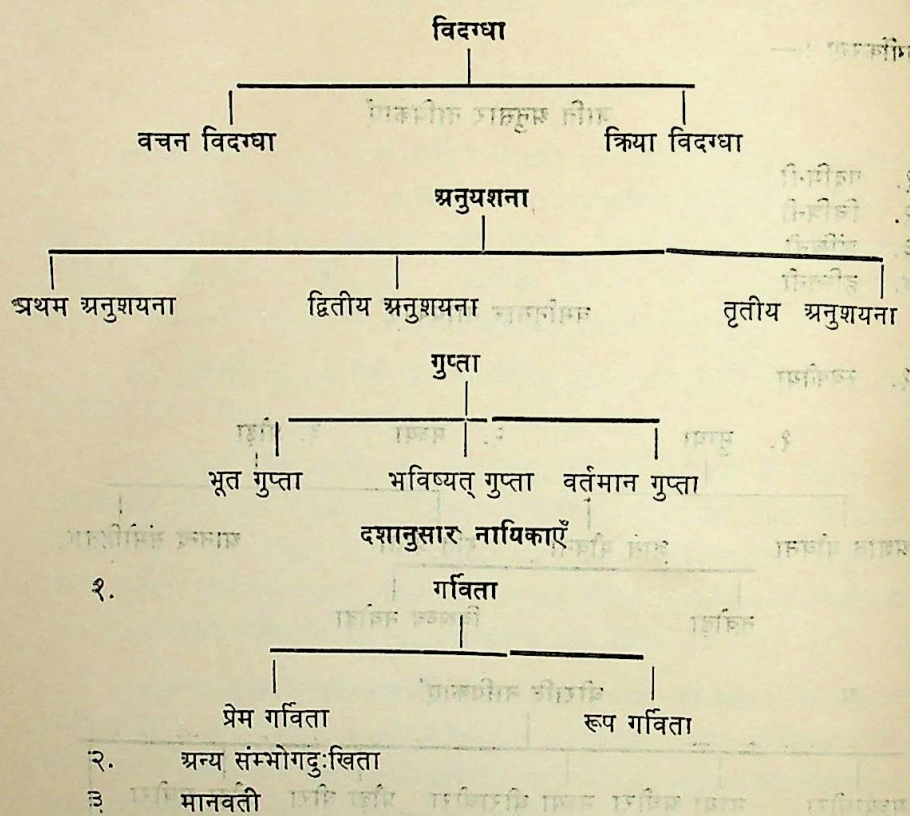
अवस्थानुसार नायिकाएँ

१. स्वाधीन-पतिका
२. वासक-सज्जा
३. उत्कंठिता
४. अभिसारिका
५. विप्रलब्धा
६. खंडिता
७. कलहान्तरिता
८. प्रवत्स्यत्प्रेयसी
९. प्रोषित पतिका
१०. आगत पतिका

प्रत्येक के १. मुग्धा, २. मध्या, ३. प्रौढ़ा, ४. परकीया, ५. सामान्या उपभेद होते हैं।

परकीया अभिसारिका के तीन भेद

शुक्लाभिसारिका | कृष्णाभिसारिका | दिवाभिसारिका
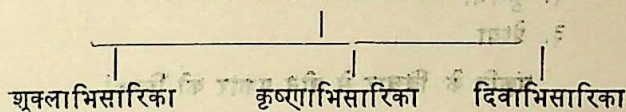
आधुनिक नायिका-भेद

'हरिऔध' के अनुसार—

१. पति प्रेमिका
२. परिवार प्रेमिका
३. जाति प्रेमिका
४. देश प्रेमिका
५. जन्मभूमि प्रेमिका
६. निजतानुरागिनी
७. लोक सेविका
८. धर्म प्रेमिका

नायिका भेद का क्रम

भरतमुनि
('नाट्यशास्त्र' के अनुसार)

१. नायिका की ८ अवस्थाएँ

१. वासक सज्जा
२. विरहोत्कन्ठिता
३. स्वाधीन भर्तृका
४. कलहान्तरिता
५. खंडिता
६. विप्रलब्धा
७. प्रोषित पतिका
८. अभिसारिका

२. नायिका के ४ भेद

१. दिव्या
२. नृपतिनी
३. कुलस्त्री
४. गणिका

३. तीन प्रकार की स्त्रियाँ

१. वेश्या

२. कुलजा
३. प्रेष्या

४. **प्रकृति के विचार से तीन प्रकार की स्त्रियां**

१. उत्तमा
२. मध्यमा
३. अधमा

५. **स्त्रियों का चार प्रकार का यौवन**

१. नवयौवना
२. द्वितीय यौवना
३. तृतीय यौवना
४. चतुर्थ यौवना

६. **चार प्रकार के नायक**

१. धीर २. ललित ३. उदात्त ४. निभृत

७. **राजाओं के आंतरिक गण**

१. महादेवी २. देवी ३. स्वामिनी ४. स्थायनी ५. भोगिनी ६. शिल्पकारिणी ७. नाटकी ८. नर्तकी ९. अनुचारिका १०. आयुक्ता ११. परिचारिका १२. संचारिणी १३. प्रेषणकारिका १४. सुमहन्तरा १५. प्रतिहारी १६. कुमारी १७. स्थविरा।

धनंजय

(दशरूपक के अनुसार)

: १ : स्वकीया— १. मुग्धा

१. वयोमुग्धा
२. काममुग्धा
३. रतिवामा
४. कोपमृद्व

२. मध्या

१. यौवन वती
२. कामवती

३. प्रगल्भा

१. गूढ़ यौवना
२. भाव प्रगल्भा
३. रति प्रगल्भा

४. धीरादि भेद

१. मध्याधीरा
२. मध्या अधीरा
३. मध्या धीराधीरा
४. प्रगल्भा धीरा
५ प्रगल्भा अधीरा
६. प्रगल्भा धीराधीरा

: २ : परकीया

: ३ : सामान्या

२. अष्ट नायिकाएँ

१. बासक सज्जा
२. उत्कंठिता
३. खंडिता
४. विप्रलब्धा
५. प्रोषित भर्तृका
६. स्वाधीन पतिका
७. कलहान्तरिता
८. अभिसारिका

देव

('रस विलास' के अनुसार)

: १ : नागरी

१. देवल

१. देवी २. पूजनहारी ३. द्वारपालिका

२. शवल

१. राजकुमारी २. धाय ३. सखी ४. दूती ५. दासी

३. राजनगर

१. जौहरिन २. छीपिन ३. पटवारिन ४. सुनारिन
५. गंधिन ६. तेलिन ७. तमोलिन ८. हलवाइन
९. मोदिन १०. कुम्हारिन ११. दरजिन १२. चूहरी
१३. गणिका

४. पुरवासिन

१. ब्राह्मणी २. राजपूतनी ३. खतरानी ४. वैश्यानी
५. कायस्थनी ६. शूद्रा ७. नाइन ८. मालिन ९. धोबिन

५. ग्रामीण

१. अहीरिन २. काछिन ३. कलारिन ४. कहारी
५. नूनेरी

६. बनबासिन

१. मुनितिय
२. व्याधिनी
३. भीलनी

७. सेन्या

१. वृषाली २. वेश्या ३. मुकेरिनी

८. पथिक तिय

१. वनजारिन २. जोगिन ३. नटनी ४. कंघेरनी

:२: **कर्मानुसार**

१. स्वकीया

१. **अंशभेदानुसार**

१. देवी (७ वर्ष) २. देवगन्धर्वी (१४ वर्ष) ३. गन्धर्वी (२१ वर्ष) ४. गन्धर्व मानुषी (२८ वर्ष) ५. मानुषी (३५ वर्ष)

२. **ज्येष्ठा कनिष्ठा**

परकीया

१. अनूढ़ा
२. ऊढ़ा

१. गुप्ता २. विदग्धा (वचन विदग्धा तथा क्रिया विदग्धा) ३. लक्षिता ४. कुलटा ५. मुदिता
६. अनुशयना

३. गणिका

: ३ : **गुणानुसार**

१. सत् (उत्तमा) २. रज (मध्यमा) ३. तम (अधमा)

: ४ : **देशानुसार**

१. मध्यदेश बधू २. मगध बधू ३. कौशल बधू ४. पाटल बधू

५. उत्कल बधू ६. कलिंग बधू ७. कामरूप बधू ८. बंग बधू ९. विंध्य बनबधू १०. मालव बधू ११. आभीर बधू १२. विराट बधू १३. कुंकल बधू १४. केरल बधू १५. द्राविढ़ बधू १६. तिलंग बधू १७. करनाटक बधू १८. संधु बधू १९. गुजरात बधू २०. मारवाड़ बधू २१. कुरुदेश बधू २२. कुरमी बधू २३. पर्वत बधू २४. गुप्त बधू २५. काश्मीर बधू २६. सौवीर बधू।

: ५ : कालानुसार

१. स्वाधीन पतिका २. कलहांतरिता ३. अभिसारिका ४. विप्रलब्धा ५. खंडिता ६. उत्कंठिता ७. बासक सज्जा ८. अप्रोषित पतिका।

: ६ : वय क्रमानुसार

१. मुग्धा

१. वयसन्धि १२ से १३ वर्ष (अज्ञात यौवना)
२. नवल बधू १३ वर्ष } ज्ञात यौवना
३. नव यौवना १४ वर्ष }
४. नवल अनंगा १५ वर्ष (नवोढ़ा)
५. सलज्ज रति १६ वर्ष (विश्रब्ध नवोढ़ा)

२. मध्या

१. रूढ़यौवना १६ वर्ष
२. प्रगट मनोज १८ वर्ष (प्रादुर्भूत मनोभाव)
३. प्रगल्भ वचना १९ वर्ष
४. विचित्र सुरता २० वर्ष

३. प्रौढ़ा

१. लब्धापति २१ वर्ष
२. रति कोविदा २२ वर्ष
३. आक्रान्ता २३ वर्ष
४. सविभ्रमा २४ वर्ष

मध्या प्रौढ़ा मान

१. मध्या धीरा २. मध्या मध्यमा ३. मध्या अधीरा
४. प्रौढ़ा धीरा ५. प्रौढ़ा मध्यमा ६. प्रौढ़ा अधीरा

:७: **प्रकृति अनुसार**

१. कफ प्रकृति २. पित्त प्रकृति ३. वात प्रकृति

:८: **सत्त्वानुसार**

१. देव २. मनुष्य ३. गंधर्व ४. यक्ष ५. किन्नर
६. पिशाच ७. नाग ८. कपि ९. काक ।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

: 'रस कलस' सं० १९८८ के अनुसार :

:१: **जाति अनुसार**

१. पद्मिनी
२. चित्रनी
३. शंखिनी
४. हस्तिनी

२. **प्रकृति अनुसार**

१. **उत्तमा**
  १. पति प्रेमिका
  २. परिवार प्रेमिका
  ३. जाति प्रेमिका
  ४. देश प्रेमिका
  ५. जन्मभूमि प्रेमिका
  ६. निजतानुरागिनी
  ७. लोक प्रेमिका
  ८. धर्म प्रेमिका

२. **मध्यमा**
  १. व्यंगविदग्धा
  २. मर्म पीड़िता

३. **अधमा**

३. **धर्मानुसार**

१. **स्वकीया**
  १. मुग्धा
  २. अज्ञात यौवना
  ३. ज्ञात यौवना (नवोढ़ा) (विश्रब्ध नवोढ़ा)

२. **मध्या**

३. **प्रौढ़ा**
  १. रति प्रीता
  २. आनन्द सम्मोहिता

मध्या प्रौढ़ा के भेद

१. धीरा : मध्या, प्रौढ़ा।
२. धीराधीरा : मध्या, प्रौढ़ा।
३. अधीरा : मध्या, प्रौढा।

१. स्वभावानुसार

१. अन्य-सुरति दुःखिता
२. वक्रोक्ति गर्विता
  १. रूप गर्विता
  २. प्रेम गर्विता
३. मानवती
  ज्येष्ठा कनिष्ठा

२. परकीया

१. ऊढ़ा
  १. उद्बुद्धा २. उद्बोधिता
२. अनूढ़ा
  १. उद्बुद्धा २. उद्बोधिता
१. गुप्ता : भूत, वर्तमान, भविष्यत्
२. विदग्धा : वचन, क्रिया
३. लक्षिता
४. कुलटा
५. अनुशयना : १. संकेत विघट्टना
  २. भावी संकेत नष्टा
  ३. रमणगमना
६. मुदिता

३. सामान्या अथवा गणिका

४. दस प्रकार की नायिकाएँ

१.	प्रोषित पतिका	: मुग्धा,	मध्या,	प्रौढा	:	परकीया
२.	खंडिता	: ,,	,,	,,	:	,,
३.	कलहान्तरिता	: ,,	,,	,,	:	,,
४.	विप्रलब्धा	: ,,	,,	,,	:	,,
५.	उत्कंठिता	: ,,	,,	,,	:	,,
६.	वासक सज्जा	: ,,	,,	,,	:	,,
७.	स्वाधीन पतिका	: ,,	,,	,,	:	,,

८. अभिसारिका : मुग्धा, मध्या, प्रौढा : शुक्ला, कृष्णा दिवा
९. प्रवत्स्यत्पतिका : ,, ,, ,, परकीया
१०. आगत पतिका : ,, ,, ,, ,,

३—रीतिकाल में 'काव्य' तथा अन्य ललित कलाओं में सहयोग

रस को ब्रह्म मानने वाले भारतीय चिन्तकों ने काव्य में रस- निष्पत्ति का अधिक अवकाश मानकर काव्य-कला को अन्य ललित कलाओं के ऊपर स्थान दिया है। साहित्य, या कहिये काव्य, ने सर्वदा अन्य ललित कलाओं को प्रभावित किया है तथा उनका मार्ग प्रदर्शन किया है, संस्कृति के क्षेत्र में काव्य का इसीलिए मूर्धन्य स्थान है। जिस युग का साहित्य अपने युग की अन्य कलाओं को जितना अधिक प्रभावित करता है उतना ही वह साहित्य जीवित, अथवा सप्राण, माना जाता है। साहित्य के सप्राण होने का एकमात्र प्रमाण है उसका तत्कालीन जीवन से बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध। आज हम कुछ भी कहें, प्रत्येक युग की अपनी विलग मान्यताएँ होती हैं तथा उनका अपना महत्व, एवं अपना ऐतिहासिक स्थान होता है। उन मान्यताओं के आधार पर जीवन एवं समाज का जो प्रतिबिम्ब उस काल की कलाओं में निखर उठता है साहित्य उसका 'लेन्स' (Lens) है। इस 'लेन्स' के माध्यम से ही हम "कलाओं" तथा तत्कालीन जीवन के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की परख कर सकते हैं।

शैक्सपियर के अनुसार साहित्य जीवन का दर्पण है। आज के अंग्रेजियत से प्रभावित आलोचकों के ऊपर अंग्रेजी के तर्कों तथा प्रमाणों का अधिक प्रभाव पड़ता है इसलिए इसी तर्क के अनुसार, जिस काल का साहित्य, जितना ही अपने काल के जीवन को प्रतिबिम्बित करता है उतना ही वह सफल माना जाना चाहिए। रीतिकाल की मान्यताओं को ही रीतिकाल की कविता अभिव्यक्त करती है इस तथ्य को सिद्ध करने के लिये हमें देखना होगा कि १. रीतिकाल की अन्य ललित कलाओं ने उस काल की मान्यताओं को किस रूप में प्रतिलक्षित किया है और २. क्या अन्य कलाओं में प्रतिबिम्बित उन मान्यताओं में तथा रीतिकाल की कविता में प्रदर्शित होने वाली मान्यताओं में कुछ साम्य हैं? हमारी मान्यताएँ तथा विचारधारा, हमारा जीवन-दर्शन एवं दृष्टिकोण बदल जाने के कारण चाहे हमारी 'पटरी' रीतिकालीन संकेतों ('सिगनल्स') के आधार पर न बैठे, परन्तु यदि रीतिकालीन कविता तथा अन्य ललित कलाओं में साम्य, या कहिये, सामंजस्य है तो, हमें मानना पड़ेगा कि उस काल के कवियों की अनुभूति सच्ची थी तथा उनकी अभिव्यक्ति (और उसकी शैली) जीवन के प्रति ईमानदार थी। आज की सी कृत्रिम अनुभूतियाँ तथा क्लिष्ट एवं व्यक्ति-वैचित्र्य वादी अभिव्यक्तियां उस काल में नहीं थी। आज जो बात, परम्परा या रीति हमारे लिये अमान्य अथवा कृत्रिम सी है, वह उस काल में मान्य एवं सच्ची थी। उसे अपने दृष्टिकोण से देखकर हम रीतिकालीन जीवन एवं साहित्य के प्रति अन्याय ही नहीं करते अपितु अपने दृष्टि-संकोच को प्रदर्शित करते हैं।

कहा जा सकता है कि जीवन का स्वभाविक चित्रण ही साहित्यकार का एकमात्र लक्ष्य नहीं है, उसे 'युग निर्माता' भी होना चाहिये। वैसे तो ग्राज के युग में प्रत्येक कवि ग्रपने 'संकलनों' की भूमिका में ग्रपने विशेष दृष्टिकोण को विज्ञापित करके ग्रपने में 'युग-निर्माता' के बीजों को दिखाने का प्रयत्न करता है, किन्तु यदि तटस्थ दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी-कविता के सम्पूर्ण इतिहास में तुलसी तथा भारतेन्दु के ग्रतिरिक्त ग्रन्य कोई भी युग-निर्माता कवि नहीं हुग्रा है। कुछ सीमा तक, खड़ी बोली की कविता के क्षेत्र में, 'प्रसाद' में युग-निर्माता कवि के लक्षण पाये जाते हैं। ग्रन्यथा हमें तीसरा कवि इस प्रकार का नहीं मिलता है। प्रसाद ने भी ग्रपने युग की (चाहे वे बंगला से ग्रायी हो या ग्रंग्रेजी से) मान्यताग्रों को लेकर ही कविता की थी, किन्तु चूंकि उनके द्वारा प्रशस्त मार्ग कुछ नूतन था ग्रौर उसका ग्रनुसरण उनके समय के कवियों ने किया, इस कारण प्रसाद को भी कुछ सीमा तक नए युग का निर्माण करने वाला कवि कहा जा सकता है। ग्रपने युग को किसी विशेष दिशा में माड़ने का प्रयत्न करने वाले कवियों को ही हम युग-निर्माता कवि कह सकते हैं, इस लिए हमारे विचार में केवल तुलसी तथा भारतेन्दु ही इस उच्च पद के उचित ग्रधिकारी हैं। वीरगाथा काल तथा रीतिकाल में कोई भी युगनिर्माता कवि नहीं हुग्रा। इस विवेचन से एक बात ग्रौर भी स्पष्ट हो जाती है कि वास्तव में हिन्दी साहित्य को तीन ही कालों में विभाजित किया जाना चाहिये, ग्रादिकाल, मध्यकाल तथा ग्राधुनिक काल। 'ग्रादि' एवं 'मध्यकाल' के बीच में जिस प्रकार तुलसी सीमा नर्धारण करते हैं उसी प्रकार 'मध्य' एवं 'ग्राधुनिक' काल की सीमा का निर्धारण 'भारतेन्दु' करते है।

ग्रब हमको देखना है कि रीतिकाल की ग्रन्य ललित कलाग्रों तथा रीतिकाल की कविता में दृष्टिकोण का कितना साम्य है ? यह हम ग्रारम्भ में ही कह देना चाहते हैं कि रीतिकाल की काव्येतर ललित कलाग्रों पर रीतिकालीन साहित्य एवं उसकी मान्यताग्रों का गहरा प्रभाव पड़ा था। हिन्दी साहित्य के किसी भी युग में साहित्य तथा ग्रन्य ललित कलाग्रों का इतना निकट का सम्बन्ध नहीं रहा है जितना कि रीतिकाल में था। यही कारण है कि रीतिकाल की कविता की कटु ग्रालोचना करने वालों को उस काल की ग्रन्य ललित कलाग्रों की भी कटु ग्रालोचना करनी ही पड़ती है। इसका सबसे बड़ा तथा ग्रकाट्य प्रमाण यह है कि वे लोग जो कि रीतिकाल की कविता के विषय में कुछ नहीं लिखते या जो रीतिकाल की कविता को रीतिकाल की ग्रन्य कलाग्रों के माध्यम से ही जानते हैं, वे रीतिकाल की चित्रकला ग्रादि ललित कलाग्रों की प्रशंसा करते हैं, तथा रीतिकाल की कविता का भी सम्मान करते हैं।[१]

---

१. देखिये "ग्रकाडमी" एनुयल दिसम्बर १९५१, ग्रकाडमी ग्राफ फाइन आर्टस, इन्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, पृ० २० से २४ तक।

स्थापत्य कला—स्थापत्य कला के नाम पर संसार भर में जिस भवन के कारण भारत की प्रसिद्धि है वह 'ताजमहल' रीतिकाल में ही बना था। ऐतिहासिकों के अनुसार उसके निर्माण का काल सं० १७२४ वि० है।[1] रीतिकालीन महीन मीनाकारी का इससे अधिक सुन्दर उदाहरण दूसरा नहीं मिलता, ताजमहल की कला की तुलना बिहारी के दोहों से इसी कारण की जाती है।[2] रीतिकालीन कविता से मान्य उदाहरण के रूप में बिहारी के दोहे लिये जाते हैं, तथा उन दोहों की कला और ताजमहल की कला में साम्य स्थापित किया जाना स्वाभाविक ही है।

यह तो सभी मानते है कि औरंगजेब से समय में मूर्तिकला तथा स्थापत्य कला के विकास का अवसर नहीं रहा था। खोज खोज कर, उस शुष्क-हृदय सम्राट ने, पुरानी मूर्तियों तथा चित्रों को नष्ट किया था। आज भी सीकरी के महलों की सिरकटी मूर्तियाँ औरंगजेब की कट्टरता की साक्षियां दे रही हैं। इस प्रकार के वातावरण में स्थापत्य एवं मूर्ति कला के विकास का अवरुद्ध हो जाना स्वाभाविक ही था फिर भी अम्बेर के सवाई जयसिंह के महल तथा दीग के भवन (जोकि औरंगजेवी कोप के क्षेत्र के बाहर रह सके थे) अपने आलंकारिक सौन्दर्य के लिये प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त संग्रामसिंह, सूरजमल आदि राजाओं की बनवाई हुई छतरियाँ भी पर्याप्त मात्रा में प्रसिद्ध हैं। कला का दम घोंट देने वाली औरंगजेबी प्रवृत्ति के प्रभाव से परे, सिक्खों ने अमृतसर में सोने का मन्दिर वनवाया था जो आज भी संसार में अपने सौन्दर्य के लिये प्रसिद्ध है।

इतना होने पर भी कहा जाता है कि उस काल की कला निर्जीव थी, उसमें केवल पिष्टपेषण था।[3] ताजमहल तथा अमृतसर के मन्दिर ने किसका पिष्टपेषण किया यह किसी ने अब तक नहीं वतलाया है। इस विद्या के क्षेत्र में कला विकसित थी तथा अपने काल की मान्यताओं को परिलक्षित करती थी इसमें कोई सन्देह नहीं है।

उत्तर भारत में उस समय मुसलमानों का बोलवाला था, उनके प्रभाववश प्रस्तर-शिल्प में केवल ज्यामिति की आकृतियाँ तथा बेल-बूटों की रचना ही रह गई थी,[4] मूर्तिकला का सम्यक विकास उस समय नहीं हो सका था।

संगीत–कहा जाता है कि रीतिकालीन संगीत में मौलिकता का एकमात्र अभाव है।[5] **यदि मौलिकता ही किसी काल के संगीत का एकमात्र मानदंड है तो संगीत के**

---

१. डा० ईश्वरीप्रसाद, 'भारत का इतिहास' भाग २, १६५३ पृ० १६५।
२. रीतिकाल की भूमिका, देव और उनकी कविता, डा० नगेन्द्र, पृ० २२।
३. 'रीतिकाल की भूमिका, देव और उनकी कविता'—डा० नगेन्द्र, पृ० २४।
४, रायकृष्णदास-भारतीय मूर्तिकला, पृ० १२७, १२८।
५. 'रीतिकाल की भूमिका, देव और उनकी कविता' डा० नगेन्द्र, पृ० २८।

क्षेत्र में आधुनिक काल ने कोई भी मौलिक योग नहीं दिया है। भातखंडे आदि विद्वानों ने प्राचीन संगीत-शास्त्र का ही पुनः वर्गीकरण तथा प्रचार किया है, और आज के आधुनिकता वादियों ने तो केवल पाश्चात्य संगीत से उसकी कुछ धुनें तथा पद्धतियाँ ही उधार ली हैं। वास्तव में प्राचीन संगीत पद्धति इतनी अधिक विकसित है कि उसका आगे विकास करने का परिश्रम अब हमारे लिये असम्भव सा ही है। फिर भी रीतिकाल की मुगलों की, एवं अवध की, राज्यसभाओं ने हमें नृत्य की 'कत्थक' प्रणाली तथा विशेषकर वाजिदअलीशाह (अख्तरपिया*) ने ठुमरी की पद्धति दी[1], जिसके लिए आज भी संगतीज्ञ उनके आभारी हैं। आज रसूलनबाई जैसी चोटी की कलाकार की प्रसिद्धि ठुमरी-दादरा पर ही आधारित है। वास्तव में प्राचीन संगीत परम्परा में ठुमरी के बाद से कोई भी मौलिक योग, आज तक किसी ने नहीं दिया है। तबला भी, जोकि आज हमारे उत्तर भारतीय संगीत का प्राण है, रीतिकाल की ही देन है। यह तो रही मौलिकता की बात।

यह सर्वविदित तथ्य है कि हमारा संगीत रस की परिपाटी का अनुगमन करता है, तथा उस पर नायिका-भेद का भी प्रभाव है। इसी कारण रागों के भाव (Mood) निश्चित हैं और उनके गाये जाने का समय तक निश्चित है। राग तथा रागिनियों के स्वरूप का जो निश्चय किया गया है उसका आधार रस-पद्धति तथा नायिका-भेद ही है। रागों की पत्नियाँ, उनके पुत्र, प्रपौत्र तथा पुत्र-वधुओं तक की जो परम्परा है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। रीतिकाल में संगीत-शास्त्र के (काव्य के लक्षण-ग्रन्थों समान) विवेचनात्मक अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे[2]। यद्यपि उनमें से किसी में भी कोई विशेष मौलिक तथ्य नहीं है किन्तु वे सब तत्कालीन संगीत पद्धति का विवेचन करते हैं[3] और साहित्य तथा संगीत के पारस्परिक सम्बन्ध को दर्शाते हैं। कृष्णानन्द व्यास के 'राग कल्पद्रुम' को तो डा० नगेन्द्र गेय पदों का विश्वकोष मानते है।[4]

यद्यपि संगीत भी औरँगजेब के जुल्म का शिकार था फिर भी इस काल में ठुमरी तथा टप्पा आदि कीं उत्पत्ति हुई जो कि शृंगार-प्रधान हैं तथा जिनमें अलंकरणों का विशेष महत्व है[5], उनका यह स्वरूप रीतिकालीन परिपाटी तथा जीवन के साथ उनके समन्वय का प्रतीक है।

---

* 'पँया परूंगी पलिका न चढूंगी' तथा 'बालम मोरा नैहर छूट्योई जाय' अख्तरपिया की परम प्रसिद्ध ठुमरियां है।

१. 'रीतिकाल की भूमिका, देव और उनकी कविता', डा० नगेन्द्र पृ० २६।

२. वही, पृ० २६।

३. वही।

४. वही।

५. वही, पृ० २६ तथा 'राग विज्ञान' (वि० न० पटवर्धन) भाग २।

प्रत्येक देश में, प्रत्येक काल में, राजदरबारों के ही आश्रय में संगीत का विकास तथा उसकी उन्नति हुई है। आज भी 'संगीत अकाडमी' तथा रेडियो ही संगीतज्ञों के आश्रय रह गये हैं। दोनों ही सरकारी संस्थाएँ हैं। बिना राज्याश्रय के, पेट की चिन्ता से मुक्त होकर संगीत की साधना असम्भव सी रहती है। राज्याश्रय में रहने पर आश्रयदाता तथा संगीतज्ञों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध हो जाता है, तथा उनका बिम्ब-प्रतिबिम्ब स्वरूप उभरने लगता है। रीतिकालीन संगीत (कविता समान) इसी कारण अपने काल के आश्रयदाताओं पर निर्भर था और उसने अपने काल के आश्रयदाताओं के चरित्र पर भी प्रभाव डाला था।

सँगीत के क्षेत्र में रीतिकालीन कविता का इतना अधिक प्रभाव था कि वह आज तक चला आता है।

कंकर मोरे लग जइहै, ना, रे ॥
कंकर लगबे को कछु डर नाहीं,
गगर मोर फुटि जइहै, ना, रे ॥
गगर फुटिबे को कछु डर नाहीं,
चुंदर मोर भिजि जइहै, ना, रे ॥
चुंदर भींजिबे को कछु डर नाहीं,
बलम मोर रूसि जइहै ना, रे ॥

रसूलनबाई के इस प्रसिद्ध दादरे में 'परकीया' के साथ नायक की क्रीड़ा का वर्णन पाया जाता है। इसी प्रकार राग ललित के इस प्रसिद्ध ख्याल में उद्दीपन की दृष्टि से प्रकृति का वर्णन है :

पिया पिया रटत पपीहरा रे,
झींगुर मोरवा दादुर बोले......

संगीत तथा साहित्य का अन्योन्याश्रित तथा निकट का सम्बन्ध उन गीतों से प्रकट होता है जिनको कि संगीत की परिपाटी बाँधने वालों ने विशेष-विशेष भावों के विशेष-विशेष रागों के लिये चुना है। यह वर्गीकरण, रस तथा नायिका-भेद की ही पद्धति पर है।

डी० बी० पलुस्कर का गाया हुआ प्रसिद्ध गीत 'पिय पल न लागी मोरी अंखियाँ' विरह वर्णन के अन्तर्गत ही तो आता है। दीपाली नाग का गाया हुआ 'राग गोरी' किस प्रकार संभोग-शृंगार का चित्रण करता है देखिये :—

झननन बिछुआ बाजे
लागो री हिया, पिउ मोरे,
रजो रे ना माने, बरजोर रे...झननन

अलंकार, भाव तथा शैली में रीति-परिपाटी-बद्ध शृंगार के दर्शन हमें यहाँ होते हैं। वास्तव में संगीत में भी (काव्य के समान ही) शृंगार रस ही प्रधान है।

उसके बाद भक्ति या शान्तरस का स्थान आता है। ध्यान देने योग्य बात है कि आज के संगीत में भी कृष्ण-परक माधुर्य भाव की भक्ति का प्राधान्य है:—

पायलिया मोरी बाजि रही है सखी,
पिया बुलावें कैसे जाऊं मोरी सजनी,
छोटी ननद मोरी जागि रही है। सखी...

उपर्युक्त गीत में 'ज्येष्ठा स्वकीया' के स्पष्ट दर्शन होते हैं। यह सर्व प्रचलित परम प्रसिद्ध गीत अनेक चोटी के गायकों द्वारा गाया गया है[1]। इसमें नायिका की उत्कण्ठा का बड़ा मार्मिक चित्रण हैं।

मुजद्दिद नियाजी ने परकीया के लक्षणों से युक्त 'हिराइ आई कंगना, हो नदिया नारे' गाया है, जोकि रेडियो के कुछ प्रसिद्ध गानों में से एक है।

उस्मान खाँ द्वारा गाये हुये प्रसिद्ध दादरे में 'खंडिता' का चित्र देखिये :

चलो काहे को झूँठी बनाओ बतियाँ
वहीं जाओ जहाँ आए बिताइ रतियाँ। आदि...

आज उत्तर भारत में भातखंडे महाराज की चलाई हुई संगीत पद्धति का ही प्रचार है। महात्मा भातखंडे ने प्राचीन संगीत का वर्गीकरण करके उसके 'बोलों' का निर्धारण किया और भारतीय संगीत को 'हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति' के नाम से फिर से जीवित किया। उसमें उनका अपना नूतन योग कुछ नहीं है, उसे पुनर्जीवित करने का ही श्रेय उन्हें दिया जाता है। नीचे हम उनकी तथा अन्य मान्य पुस्तकों में से कुछ उदाहरण देते हैं जिनसे रीतिकालीन कविता के (अपने काल के ही नहीं) इस काल के संगीत पर पड़े प्रभाव के कुछ और उदाहरण देखने को मिलेंगे।

(ध्यान देने योग्य बात है कि इन सब में सरस ब्रजभाषा का ही प्रयोग है)

'राग विज्ञान'-भाग २, (विनायक राव पटवर्धन)

श्याम सुन्दर अजहूँ नहीं आये
दीप की जोति उदास लगत है, तारागन . सब गगन बिलाये।
अरुनसिखा बोलत है कब सों, फिरत न पहरू पथिक मग छाये॥
कमलन के मुख खिले चहत हैं, फूल कुमोदिन के मुरझाये॥
(पृ० ६२)

उत्कंठिता नायिका के भाव-चित्र का प्रयोग है।

पृ० १२४ तथा १२५ पर कृष्ण की लीला तथा होली के वर्णन का प्रयोग है।

---

1. रतनजंकर जी ने इसे शब्दों के थोड़े से हेर फेर के साथ गाया है। देखिये राग विज्ञान, भाग २, (वि० ना० पटवर्धन) राग नन्द पृ० १६।

छबीली छैल खेले होली आजु रंग बिरज में
कैसे के सखी, कोई साँवरी कोई गोरी...

(कृष्ण-भक्ति परम्परा के रसिया कृष्ण को जिस रूप में रीतिकालीन कविता ने स्वीकार किया था उसी रूप में हमारे संगीत ने (आजतक) उसे अपनाया है। मध्ययुग (भक्ति तथा रीतिकाल) का यह प्रभाव शास्त्रीय संगीत पर प्रगट ही है। आजतक खड़ी बोली की कविता, शास्त्रीय संगीत में राग रागिनियों के अनुसार, संगीतज्ञों के मान की अधिकारिणी नहीं बन सकी है। निष्कर्ष सीधा है—आज सांस्कृतिक क्षेत्र में विश्रृंखलत्व आगया है जो कि रीतिकाल में नहीं था फिर भी आज के समीक्षक रीतिकालीन कविता की बुराई करते हैं और संगीत को भी लपेट लेते हैं)

मान मोरी बिनती मान, जान दे।
व्रज जुवती सब आवत जात, देख, सासु कोई कहत,
(परकीया)—रतियाँ आन दे, अब रे जान दे, रहूँगी साथ सिगरी रात ॥
(पृ० १७)

राग रस रंजनी

(उत्तमा का निवेदन)—बलमा न जाओ घर सौतन के... (पृ० २६)
आदि ॥

नखशिख शृंगार :— **राग आभोगी**

सुघर चतुर अलबेली नवलनार, करे सिंगार
रहस रहस डोले लाड़ली।
बदन कमल, चन्द्रज्योति, अलक जैसे भ्रमर छावत
नासिक पर श्री सोहत, बसा कटि, जंघ कदलि ॥
(पृ० ५८)

सुरति-श्रम :— **राग शोभावरी**

अब न जगाओ, प्रीतम प्यारे, रैंनि अंधेरी जगी जगाई
भई भौर मोहे सोवन दे रे।
अंखियाँ न मोरी लागत पल छिन, छतियाँ छुबो न अब
नन्द दुलारे ॥ (पृ० ६८)

आगत पतिका :— **राग चन्द्रकौस**

मैं तो करूं सब सिंगार साज,
बहुत दिन बीते पिया घर आये, सुझत नहीं कछु काम काज आज।
(पृ० ७२)

मध्या खंडिता:— **राग रामकली**

सिगरी रैन के जागे पागे

बिन गुन माल, अधर पर अंजन जावक तिलक लगाए।

सिगरी... (पृ० ७२)

संगीत पद्धति में नायिका-भेद का समावेश स्वाभाविक था, इस परम्परा के भक्तिकालीन कवियों ने भी संगीत में इस प्रकार का योग दिया था।

अब कुछ उदाहरण भातखंडे जी की 'हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति' नामक पुस्तकों में से देखिये। (ये पुस्तकें आज के संगीतज्ञों द्वारा वेदों के समान पूज्य मानी जाती हैं) :—

भाग ४ **राग मुल्तानी**

शारीरिक सौन्दर्य :—गोरी तोरी अंगिया में फूला फूला बास रे,...आदि

(पृ० ७४७)

भाग ३

प्रौढ़ा अधीरा :—तुम हम सन जिन बोलो पियरवा, औरन सों नैन मिलावत हो। (पृ० २८)।

मानवती :— बागेश्री

कौन करत तोरी बिनती पियरवा

जब से गये मोरी सुधहू न लीनी, चाहे...

(पृ० ४४८)

इसी प्रकार 'राग विज्ञान' भाग ४, (वि० न० पटवर्धन) में विरह उद्दीपन देखिये :—

ये बरजों न मानें बैरिन कोयलिया,

मैं लाल बिना मन धीरज ना धरों॥

(बसन्त बहार पृ० १२२)

इस प्रकार हमने देखा कि रीतिकाल के कवियों ने जिस परिपाटी का अनुगमन किया था वह उस काल के साँस्कृतिक जीवन में स्वीकृत थी, तथा वह उनसे पूर्व की चली आती परम्परा ही थी, एवं उसने मध्ययुग सेचली आती हमारी वर्त्तमान संगीत पद्धति को प्रचुर मात्रा में प्रभावित किया है। संगीत तथा साहित्य का यह गठबन्धन उस काल की साँस्कृतिक एकता तथा उस काल की कविता की अनुभूति की सचाई की प्रतीक है।

चित्रकला—वास्तव में पाचों ललित कलाओं की आत्मा एक ही है । अभिव्यक्ति मात्र में अन्तर है[1] । यह मूल आत्मा है सौन्दर्य चित्रण से युक्त रस की निष्पत्ति । कविता स्वर में ध्वनित होती है, संगीत ध्वनिमय चित्र है, तथा चित्र एवं मूर्ति अकित ध्वनि मात्र है । वास्तव में चित्रकला काव्य एवं संगीत को ही मूर्तिमान करती है और जिस काल की कविता संगीत एवं चित्रकला को भी प्रभावित करती है, उस काल की कविता में अपने काल के जीवन का चित्र होता है । इसी प्रकार जिस काल की चित्रकला अपने समय के संगीत तथा काव्य से अनुप्राणित रहती है, उस काल में हमें सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की एकता एवं पूर्णता के दर्शन होते हैं । रीतिकाल की चित्रकला में 'रागमालाओं' के चित्र इसी संगीत-चित्र समन्वय के प्रतीक हैं । उस काल में चित्रकारों ने विभिन्न रागों, तथा रागिनियों के, उनके भाव स्वरूप से युक्त, चित्रों की रचना की थी[2] । संगीत के ये राग-रागिनी तथा उनके उपभेद किस प्रकार रस से सम्बन्धित हैं यह हम पहले देख चुके हैं । 'रागमाला' के अतिरिक्त इस काल के अन्य प्रिय विषय हैं, कृष्णलीला, बारहमासे तथा नायिका-भेद[3] । रीति-परिपाटी का अनुगमन करने वाले इन चित्रकारों ने 'उद्दीपन' के चित्रों में (बारह मासा) शुद्ध रीतिकालीन लक्षणों का प्रयोग किया है ।

नायिका-भेद इस काल की चित्रकला का सबसे महत्वपूर्ण अंग है । आज नायिका-भेद के प्राचीन चित्रों का सबसे महत्वपूर्ण संग्रह श्री मुकुन्दीलाल, बी० ए० (आक्सफोर्ड) के पास है[4] । उनके अनुसार इन चित्रों का हमारी चित्रकला परिपाटी में अत्यधिक महत्त्व है, इसीलिये आज अमेरिका (बोस्टन म्यूजियम) तक में इन चित्रों की माँग है[5] । काँगड़ा पद्धति के शामदास, हरदास, मोलाराम[6] तथा अन्य चित्रकारों ने अपने चित्रों के द्वारा नायिका-भेद का वर्णन ही नहीं किया है, अपितु उन चित्रों पर ही उन नायिकाओं के लक्षण भी लिखे थे[7] । 'अभिसारिका,' 'उत्कंठिता,' 'बासकसज्जा' आदि नायिकाओं के परम भावपूर्ण चित्र इस काल के कवियों ने उतारे थे, और बिहारी के दोहों का (सम्भवत: छोटा आकार होने के कारण) लक्षण वर्णन के लिये प्रचुर प्रयोग किया था[8] । इन चित्रोंकी भारत में तथा विदेशों

---

१. 'रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता', डा० नगेन्द्र पृ० २७ ।
२. वही, पृ० २६ ।
३. वही, पृ० २६ ।
४. 'अकाडमी एनुअल', दिसम्बर १९५१, 'अकाडमी आफ फाइन आर्ट्स' 'इन्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, पृ० २० ।
५. तथा ६. वही, पृ० २० ।
७. वही, पृ० २१ तथा २२ ।
८. वही, पृ० २२ तथा २३ ।

में आज बड़ी प्रसिद्धि है[१], और हमारे समीक्षक उस काल की चित्रकला को सन्नाटे से युक्त तथा भावहीन बताते हैं[२], और कहते हैं कि इस काल में चित्रकला अपने ह्रास की चरम सीमा को पहुंची थी[३] और यह बात कही जाती है उस काल में प्रचलित प्रतिकृति करने की 'स्टेंन्सिल' की पद्धति को लेकर[४]। हमारा दुर्भाग्य यही है कि हमारे समीक्षक समय की माँग को ध्यान में रखे बिना, उस काल की प्रवृत्तियों की आलोचना करते हैं। यदि थोड़ा सा भी ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि 'स्टेन्सिल' वनाना वास्तव में चित्रों की छपाई का आदि प्रयत्न ही है। यह तो लोग मानते ही हैं कि उस काल में चित्रों की माँग बढ़ गई थी[५], (इससे उस काल की जनता की कला की अभिरुचि प्रगट होती है) फिर इस माँग को पूरा करने का जो प्रयत्न उस काल के चित्रकारों ने किया वह छपाई (प्रिंटिंग) का जन्मदाता ही माना जायगा। अमेरिका के जिस चित्रकार ने १६वीं शताब्दि में 'स्टेन्सिल' तथा कारवन के माध्यम से चित्रों का प्रचार किया था उसे उस देश के निवासी आज तक चित्रकला का सबसे बड़ा हितचिन्तक मानते हैं[६]; और उसकी वर्षी मनाते हैं। चित्रों का अंकन आज भी होता है; और आज 'प्रेस' के माध्यम से ही तो हम चित्रों से जान पहिचान बढ़ाते हैं। उस काल के चित्रकारों ने यदि चित्रों के प्रचार का प्रयत्न किया तो क्या अपराध किया। वास्तव में 'स्टेन्सिल' द्वारा चित्रों के प्रचार के प्रश्न का महत्व चित्रकला की समीक्षा में है ही नहीं, क्योंकि उसका सम्बन्ध चित्रों की सृजनात्मक कला से नहीं हैं। इतना तो इस काल के कटु आलोचक भी मानते हैं कि रीतिकालीन चित्रकारों की 'कलम' में कमजोरी नहीं थी'[७]। इस काल के शक्तिशाली तूलिकी, ये चित्रकार, इस प्रकार की रूढ़िबद्ध, कटु आलोचना के कव तक शिकार रहेंगे, यह देखना है। उस काल की चित्रकला के लिए ये आधुनिक औरंगजेब (समीक्षक) अधिक समय तक उस काल के चित्रकारों पर अत्याचार नहीं कर सकेंगे ऐसी आशा श्री मुकुन्दीलाल जी जैसे समीक्षकों के विद्वतापूर्ण लेखों से होने लगी है[८]।

---

१. एकाडमी एनुअल, दिसम्बर १६५१ का, पृ० २०।
२. रायकृष्णदास 'भारत की चित्रकला'।
३. 'रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता', डॉ० नगेन्द्र, पृ० २५।
४. वही पृ० २५।
५. वही पृ० २५।
६. "टाइम" साप्ताहिक वो० २० न० ७, १६५७।
७. रायकृष्णदास, 'भारत की चित्रकला'।
८. 'एकाडमी एनुअल'—एकाडमी आव फाइन आर्ट्स, इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, दिसम्बर १६५१, पृ० २० से २४ तक।
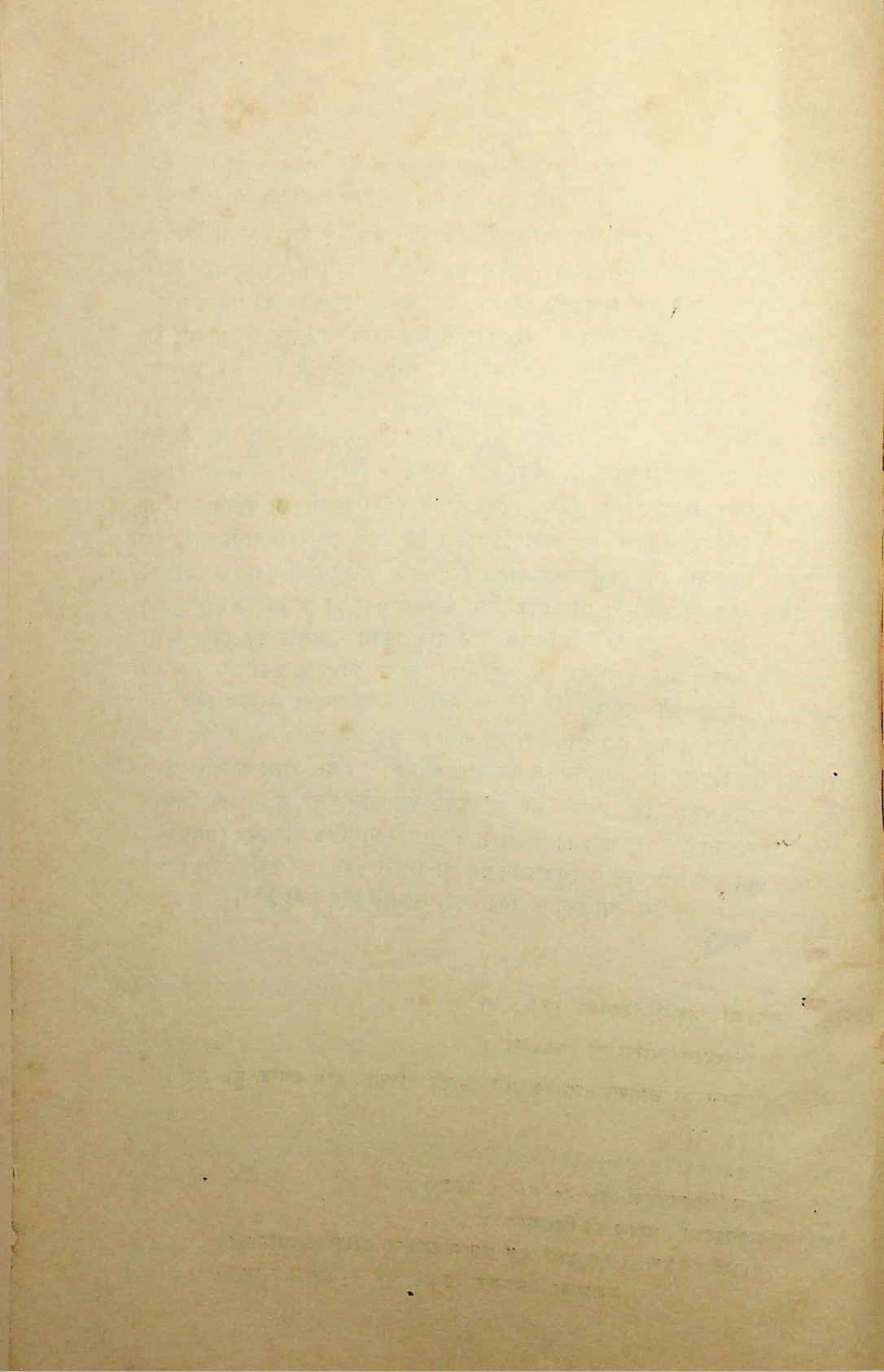
कतिपय सहायक-ग्रन्थ

१. आधुनिक काव्यधारा : डा० केसरीनारायण शुक्ल ।
२. आधुनिक खड़ीबोली कविता की प्रगति : कृष्णदेव प्रसाद गौड़ ।
३. आधुनिक व्रजभाषा काव्य : पं० शुकदेव बिहारी मिश्र ।
४. आधुनिक साहित्य : नन्ददुलारे बाजपेयी ।
५. आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना : डा० शैलकुमारी ।
६. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास : डा० श्रीकृष्णलाल ।
७. आधुनिक हिन्दी साहित्य : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ।
८ आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ।
९. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० कृष्णशंकर शुक्ल ।
१०. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयाल गुप्त ।
११. आलोचनादर्श : डा० रसाल ।
१२. आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
१३. अशोक के फूल : डा० हजारी प्रसार द्विवेदी।
१४. आकाशवाणी काव्य संगम : विभिन्न भाग ।
१५. आधुनिक कवि : विभिन्न भाग (हिन्दी साहित्य सम्मेलन) प्रयाग ।
१६. आधुनिक कवि : प्रो० सुधीन्द्र ।
१७ अष्टछाप परिचय : प्रभुदयाल मीतल ।
१८. उर्दू साहित्य का इतिहास : व्रजरत्नदास ।
१९. उर्दू काव्य की एक नई धारा : उपेन्द्रनाथ अश्क ।
२०. ..न्डियन इनहैरिटेन्स, भाग १ : भारतीय विद्या भवन, बम्बई ।
२१. इम्मोर्टल इन्डिया : जे० एच० दुबे, भारतीय विद्या भवन, बम्बई ।
२२. ए कल्चरल हिस्ट्री आफ इन्डिया : ए० यूसुफअली ।
२३. काव्य निर्णय : भिखारीदास, १९५३ वि० वेंकटेश प्रेस, बम्बई।
२४. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : जयशंकर प्रसाद ।
२५. काव्य चिन्तन : डा० नगेन्द्र ।
२६. काव्य कल्पद्रुम, भाग १, २ : कन्हैयालाल पोद्दार।
२७. कृष्ण काव्य में भ्रमरगीत : केशवनारायणसिंह ।
२८. कविता कौमुदी भाग १, २ : रामनरेश त्रिपाठी ।
२९. काव्य में अप्रस्तुत योजना : पं० रामदहिन मिश्र ।
३०. काव्य दर्पण : पं० रामदहिन मिश्र ।
३१. काव्य धारा (पुस्तक पत्रिका) : विभिन्न क; आत्माराम एण्ड सन्स ।

३२. कृष्णायन : द्वा० प्र० मिश्र ।
३३. कवित्त रत्नाकर : उमाशंकर मिश्र।
३४. काव्य में रहस्यवाद : रामचन्द्र शुक्ल ।
३५. खड़ी बोली आन्दोलन : बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री ।
३६. खड़ी बोली का पद्य भाग १ : संग्रहकर्ता-बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री ।
३७. खड़ी बोली का पद्य, भाग २ : संग्रहकर्त्ता-अ० प्र० खत्री ।
३८. खड़ी बोली पथादर्श : श्यामजी शर्मा ।
३९. खड़ी बोली की कविता का संक्षिप्त परिचय : प० रामनरेश त्रिपाठी ।
४०. खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवि : रामगोपाल शर्मा, दिनेश एम० ए० ।
४१. गुप्त निबन्धावली भाग १ : बालमुकुन्द गुप्त ।
४२. चिन्तामणि भाग २ : पं० रामचन्द्र शुक्ल ।
४३. छायावाद का पतन : डा० देवराज ।
४४. जायसी ग्रन्थावली : रामचन्द्र शुक्ल ।
४५. टौटम एन्ड टैबू : फ्रायड ।
४६. तुलसी दर्शन : डा० बल्देवप्रसाद मिश्र।
४७. तुलसी ग्रन्थावली खंड ३ : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
४८. दृष्टिकोण : डा० विनयमोहन शर्मा ।
४९. दर्शन दिग्दर्शन : राहुल सांकृत्यायन ।
५०. द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ : काशी नागरी प्रचारिणी सभा ।
५१. नारी : अतुलकृष्ण गोस्वामी ।
५२. ब्रज भाषा साहित्य का नायिका भेद : प्रभूदयाल मीतल ।
५३. नवयुग काव्य : ज्योतिप्रसाद मिश्र ।
५४. निबन्ध नवनीत भाग १ : प्रतापनारायण मिश्र ।
५५. पद्माकर पंचामृत : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।
५६. पन्त का काव्य और युग : यशदेव ।
५७. प्रेमघन सर्वस्व भाग १, २ : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
५८. पद्मपराग भाग १ : पद्मसिंह शर्मा।
५९. प्रसाद की 'आंसू' तथा अन्य कृतियाँ : डा० विनयमोहन शर्मा ।
६०. प्रगतिवाद की रूपरेखा : शिवचन्द्र ।
६१. फन्डामेन्टल्स आफ इन्डियन आर्ट : एस० एन दास गुप्ता ।
६२. ब्रजभाषा साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य : प्रभुदयाल मीतल ।
६३. ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली : डा० नामवरसिंह ।
६४. बिहारी सतसई : पद्मसिह शर्मा ।
६५. ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली : हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता ।
६६. ब्रजभाषा की आशा : रामनारायण चतुर्वेदी ।

६७. ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली : डा० कपिलदेवसिंह।
६८. भारतेन्दु युग : डा० रामविलास शर्मा।
६९. भारतेन्दु नाटकावली भाग १ : ब्रजरत्नदास।
७०. भारतेन्दु ग्रन्थावली : ब्रजरत्नदास।
७१. भारतीय मूर्तिकला : रायकृष्णदास।
७२. भारतीय चित्रकला : रायकृष्णदास।
७३. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका : डा० नगेन्द्र।
७४. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।
७५. ,, ,, : ब्रजरत्नदास।
७६. भारत का इतिहास भाग २ : डा० ईश्वरी प्रसाद।
७७. मिश्रबन्धु विनोद : मिश्रबन्धु।
७८. मुगल बादशाहों की हिन्दी : चन्द्रबली पांडे।
७९. रसकलस : हरिऔध।
८०. रस मीमांसा : रामचन्द्र शुक्ल।
८१. रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता: डा० नगेन्द्र।
८२. विश्व साहित्य की रूपरेखा : भगवतशरण उपाध्याय।
८३. वीर सतसई : वियोगी हरि।
८४. शंकर सर्वस्व : हरिशंकर शर्मा।
८५. स्टडीज इन एपिक्स एन्ड पुरानाज आफ इन्डिया : ए० डी० पुसालकर।
८६. संदर्भ सर्वस्व : हरिऔध।
८७. साहित्य प्रकाश : रामशंकर शुक्ल "रसाल"।
८८. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा : चन्द्रशेखर पांडेय।
८९. समालोचनादर्श : रत्नाकर।
९०. हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति : भातखन्डे।
९१. हमारी साहित्यिक परम्परा : पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
९२. हृदय तरंग : बनारसीदास चतुर्वेदी।
९३. हिन्दी कविता में युगान्तर : सुधीन्द्र।
९४. हिन्दी पुस्तक साहित्य : डा० माताप्रसाद गुप्त।
९५. हिन्दी बनाम उर्दू : बैंकेटेश्वरनारायण तिवारी।
९६. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास : हरिऔध।
९७. हिन्दी भाषा : बाबू श्यामसुन्दरदास।
९८. हिंन्दी भाषा : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।
९९. हिन्दी भाषा : बाबू बालमुकुन्द गुप्त।
१००. हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दि : नन्द दुलारे बाजपेयी।
१०१. हिन्दी साहित्य : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

१०२. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : पं० रामनरेश त्रिपाठी ।
१०३. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल ।
१०४. हिन्दी साहित्य : बाबू श्यामसुन्दर दास ।
१०५. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'।
१०६. हिन्दुइज्म थ्रू द एजेज़ : डी० एस० शर्मा, भारतीय विद्या भवन, बम्बई ।

तथा

हिन्दी कवियों की विभिन्न कृतियाँ एवं काव्य-संग्रह ।

पत्र पत्रिकाएँ

१. 'अजन्ता'।
२. 'आजकल' : नई दिल्ली ।
३. 'इन्दु' : काशी ।
४. एकेडमी आफ फाइन आर्ट्स इन्डियन म्यूजियम : कलकत्ता की मासिक पत्रिका।
५. 'कल्पना'।
६. 'टाइम' (साप्ताहिक) : अमरीका ।
७. आलोचना, दिल्ली ।
८. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' : काशी।
९. 'माधुरी' : लखनऊ।
१० 'ब्रजभारती' : मथुरा ।
११. 'विश्वमित्र' : कलकत्ता ।
१२. 'विशाल भारत' : कलकत्ता ।
१३. 'वीणा' : इन्दौर ।
१४. 'सम्मेलन पत्रिका' : प्रयाग ।
१५. 'सरस्वती' : प्रयाग ।
१६. 'सुधा' : लखनऊ।
१७. 'हिन्दी प्रदीप' : प्रयाग ।
१८. 'हिमालय' : पटना।
१९. 'हंस' : काशी ।
२०. 'नई धारा' : पटना ।
२१. 'नया समाज' : कलकत्ता।

तथा

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के विभिन्न अधिवेशनों के कार्य विवरण।

———